प्रकाशक—
ओम्‌प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० ब० नं० ७०, ज्ञानवापी
बनारस, सिटी।

मूल्य : पाँच रुपया
प्रथम संस्करण
दीपावली, २०१२ वि०

मुद्रक—
बालकृष्ण शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
विश्वेश्वरगंज, बनारस। ५५९

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर हृदयनारायणसिंह जी
एम० एल० सी० के
कर कमलों में सादर समर्पित ।

त्रिभुवन सिंह

उपन्यास-साहित्य में यथार्थवाद

कविता यथार्थवाद की उपेक्षा कर सकती है,
संगीत यथार्थ को छोड़कर भी जी सकता है,
पर उपन्यास और कहानी के लिये यथार्थ प्राण है।

परिचय

अपने प्रिय शिष्य श्री त्रिभुवनसिंहजी की इस आलोचनात्मक कृति को प्रकाशित देखकर मुझे बड़ा सन्तोष और हर्ष का अनुभव हो रहा है। ये कवि रूप में हिन्दी जगत में परिचित हो चुके हैं। इनका एक कविता-संग्रह (रोदन) प्रकाशित भी हो चुका है। सहृदय पाठक स्वीकार करेंगे कि यह प्रयास बहुत शुभ हुआ है और इनके उज्ज्वल भविष्य की सूचना लेकर प्रकट हुआ है। यह पुस्तक मूल रूप में एम० ए० के प्रबन्ध के रूप में लिखी गई थी, बाद में और संशोधन-परिवर्धन करके इसे इस रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

पुस्तक का मुख्य प्रतिपाद्य 'हिन्दी उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद' है। श्री त्रिभुवनसिंह ने आरम्भ में यथार्थवाद के स्वरूप और इतिहास का विवेचन किया है और यथार्थवादी विचार-धारा के उद्भव-प्रसार की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के प्रवेश और उसके क्रम-विकास की चर्चा करने के बाद विभिन्न यथार्थवादी प्रवृत्तियों का बहुत अच्छा विश्लेषण और विचार किया है। हिन्दी उपन्यासों में पाई जाने वाली यथार्थवाद की विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हुए उनकी सामाजिक उपादेयता तथा औपन्यासिकता में दिये गये योग की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस प्रकार पुस्तक में आधुनिक साहित्य की विभिन्न यथार्थवादी दृष्टियों का बहुत सुन्दर विश्लेषण और विवेचन कर दिया गया है। इस प्रकार का प्रयास हिन्दी में बहुत कम ही हुआ है। मुझे आशा है कि सहृदय पाठकों को यह अध्ययन अवश्य रुचिकर होगा।

श्री त्रिभुवनसिंह सहृदय लेखक है। इनमें रचयित्री प्रतिभा के साथ ही साथ गहराई में प्रवेश करके साहित्य-वैशिष्ट्य को पकड़ने की शक्ति भी है। प्रस्तुत पुस्तक में इनके इस गुण का अच्छा परिचय मिलेगा। मुझे पूरा विश्वास है कि ये उत्तरोत्तर उन्नति करते जायँगे। भगवान् से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि इन्हें काम करने की अधिकाधिक शक्ति दे जिससे ये राष्ट्र-भाषा के साहित्य को नवीन-नवीन ग्रन्थ-रत्नों से परिपूर्ण करते रहें। तथास्तु।

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय
विजया दशमी, सं० २०१२

हजारीप्रसाद द्विवेदी



भूमिका

हिन्दी उपन्यासों का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम बीस-पच्चीस वर्षों में हुआ था। उस समय तक पश्चिम में इस साहित्य-रूप ने पूर्ण विकास प्राप्त कर लिया था और अंगरेजी साहित्य से प्रभावित हो बँगला में धड़ाधड़ उपन्यास निकल रहे थे। पड़ोसी बंगाल की इस साहित्यिक हलचल से भारतेन्दुयुगीन साहित्यकार भी परिचित और प्रभावित हो रहे थे और हिन्दी में भी उपन्यास लिखे जाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। १८७२ ई० में सबसे पहले गदाधर सिंह ने बँगला से दो उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया और १८७५ ई० में राधाकृष्ण दास ने 'नाटकोपन्यास' नामक पाक्षिक पत्रिका के प्रकाशन का विज्ञापन प्रकाशित कराया जिसमें हिन्दी में नाटक और उपन्यास लिखने की प्रेरणा देने के लिए बँगला से अनूदित कर नाटक और उपन्यास प्रकाशित करने की योजना थी। यद्यपि इस योजना को कार्यान्वित नहीं किया जा सका, फिर भी बँगला से अनूदित उपन्यास 'भारतेन्दु पत्रिका' में धारावाहिक रूप से निकलने लगे और अनेक मौलिक तथा अनूदित उपन्यास प्रकाशित भी होने लगे जिससे धीरे २ लोगों में उपन्यास लिखने और पढ़ने की रुचि जाग पड़ी।

हिन्दी में उपन्यास बँगला के माध्यम से ही आया इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वर्गीय पंडित माधव प्रसाद मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में लिखा था :

"जो हो रिक्तहस्ता हिन्दी ने बँगला के सद्यःपूर्ण भंडार से केवल 'उपन्यास' शब्द ही को ग्रहण नहीं किया वरंच इसका बहुत सा उपकरण भी इस लघीयसी को उसी महीयसी से मिला है। हिन्दी के प्राणप्रतिष्ठाता स्वयं भारतेन्दु जी ने बँगला के उपन्यासादि के अनुवाद से हिन्दी के भंडार में वृद्धि की और उनके पीछे स्वर्गीय पंडित प्रतापनारायण मिश्र जी ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। इसके साथ ही उक्त महानुभावों ने कृतज्ञता वश यह भी स्वीकार किया है कि जब तक हिन्दी भाषा अपनी इस बड़ी बहन बँगला का सहारा न लेगी, तब तक वह उन्नत न होगी।"[1]

परन्तु हिन्दी उपन्यास मूलतः पश्चिम की देन है जो बँगला से छनकर आया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंगरेजी शिक्षा के प्रचार और प्रसार से जहाँ पश्चिमी विचार-धारा, पश्चिमी रहन-सहन और पश्चिमी वेश-भूषा का

---

१. [माधव मिश्र निबंधमाला का प्रथम संस्करण, चतुर्थ खंड-साहित्य—उपन्यास और समालोचक पृ० १००-२०१]

चलन बढ़ रहा था, वहाँ पश्चिम के नए साहित्य-रूपों का भी हिन्दी में प्रचार होने लगा था और उपन्यास उन नए साहित्य-रूपों में सर्वप्रमुख था।

हिन्दी उपन्यासों का जहाँ एक ओर बड़ी धूमधाम से स्वागत और प्रचार हो रहा था वहाँ इसके विरोधियों की संख्या भी कम नहीं थी। कुछ लोगों का अनुमान था कि पश्चिमी वेश-भूषा के समान यह पश्चिमी साहित्य-रूप भी भारतीय जलवायु के अनुरूप नहीं और इसके प्रकाशन पर रोक लगाए बिना उगती पीढ़ी के चरित्र-भ्रष्ट होने की पूरी आशंका बनी रहेगी। शास्त्रीय और तात्विक ग्रंथों के पढ़ने में परिश्रम अधिक पडता है, इसलिए पढे-लिखे आलसी उपन्यास की ओर टूट पडते हैं जिससे एक ओर तो वे ज्ञान सम्पादन नहीं कर पाते दूसरी ओर सस्ते उपन्यासों से उनमें काम-प्रवृत्ति और विकार की वृद्धि होती है। ब्रह्म, आत्मा और माया की जिज्ञासा में लग्न रहने वाले भारतीयों को तिलस्मी-ऐयारी, चक्करदार चोरी और विलासिता के पंक में फँसते देख कितने ही मनीषी व्याकुल हो उठे थे। परन्तु दीपक पर जैसे शलभ टूट पड़ते हैं वैसे ही उपन्यासों पर साधारण जनता टूटी पड रही थी। अस्तु, कुछ उपन्यास-लेखक पाठकों के नैतिक पतन की रक्षा के लिए ऐसे शिक्षाप्रद उपन्यासों की सृष्टि में लग गए जिसमें हिन्दू समाज के नियमों की रक्षा की गई हो। लज्जाराम मेहता ने इसी विचार से 'आदर्श हिन्दू' 'आदर्श गृहस्थ' आदि उपन्यासों की रचना की। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'मागधी कुसुम वा सरला सुंदरी' की भूमिका में लिखा है .

"अन्ततः यह कहना यहाँ परमावश्यक है कि इस पुस्तक को लिखने में बडी शीघ्रता की गई ... तौ भी हिन्दी के उपन्यासों में जिस प्रकार हिन्दू समाज के नियमों को लात मारी जाती है वैसा इस उपन्यास में नहीं किया गया है और ग्रंथकार की इस ओर दृष्टि बराबर रही है कि उसके उपन्यास में हिन्दू समाज के नियम का उल्लंघन न होने पावे।"

हिन्दी उपन्यासों में हिन्दू समाज के नियमों का किस प्रकार उल्लंघन हो रहा था, इसका भी निर्देश लेखक ने अपने एक उपन्यास "स्वर्णमयी वा जैसी करनी वैसी भरनी" (१९१०) में किया है। उपन्यास के सातवें बयान में 'विवाह' शीर्षक देकर लेखक लिखता है

"हमारे बहुतेरे पाठक 'विवाह' यह हेडिङ्ग देखकर चौंकेंगे, हमें बड़ा बेवकूफ समझेंगे, कहेंगे, 'अभी ही यह हेडिङ्ग क्यों दिया गया? अभी तो ग्रंथ अधौरे पर भी नहीं आया और विवाह की सूझी। यार! क्या ऐसे ही उपन्यास लिखना होता है? जरा चटपटी चुलबुली नायिका हो, सुदर सलोना नायक हो, कुटनियों की कूट, ऐयारों की ऐयारी, माशूक आशिक के चोंचले हों, तिलस्म की

पेंचदार कथा हो, तब उपन्यास की बहार होती है ! अंग्रेजों की तरह वर्षों कोर्ट-शिप होने पर तब विवाह होता है ! यहाँ नायक-नायिका का प्रेम हुआ ही नहीं और चले विवाह की तैयारी करने ! वाह रे उपन्यास लेखक !! धिक् !!!"[१]

कुछ आगे चलकर लेखक लिखता है :

"हमारे पाठक यदि ऐसे उपन्यासों के शौकीन हों तो इस उपन्यास को आले पर रख दें और मुझे जली कटी सुनावें मैं चूँ भी नहीं करूँगा। परन्तु जो पाठक सीधे-सादे हिन्दू गृहस्थ की कथा पढ़ना चाहते हैं वे इसका चाहें तो पाठ कर सकते हैं।"[२]

'इसीलिए लेखक ने भूमिका में पहले ही लिख दिया है कि

"ग्रन्थ किसी अन्य भाषा का न तो अनुवाद और न छाया है एवं असम्भव तथा अतिरंजित बातें भरने के बदले उपयोगी और शिक्षाप्रद विषयों का ही सन्निवेश किया गया है। पतिव्रता का पति-प्रेम, पाप का परिणाम, मैत्री का नमूना आदि बातें अच्छी तरह सरल भाषा में दिखाने की चेष्टा की गई है।"

अस्तु, प्रेमचन्द के हिन्दी क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व हिन्दी उपन्यासों का मूल उद्देश्य या तो जनता का मनोविनोद था, अथवा जनता का सुधार। अधिकतर लोग उपन्यास को केवल मनोविनोद का साधन समझते थे। इसीलिए गोपाल राम गहमरी ने उपन्यास की विवेचना बड़े मनोरंजक ढंग से इस प्रकार की थी !

दीनदयाल एक दिन माघ में सारी रात जाड़े के मारे ठिठुरा पड़ा था, प्रातःकाल होते ही धूप मे आ बैठा है। इधर की दुनिया उधर हो जाय पर यह अब वहाँ से टलने वाला नहीं। लाला किशोरीमल अपने पड़ोसी की बैठक मे बैठे शतरंज खेल रहे हैं। दाई ने घर से आकर कहा, 'लाला, घर में आग लग गई है, जल्दी चलो।' लाला घोड़े को उठाकर बोले, "ऐं क्या कहा, आग लगी है, अच्छा, यह लो घोडे की किश्त"। तात्पर्य यह कि जब तक कोई पक्ष मात न हो लेगा, लाला उठने के नहीं—घर जल के राख हो जाय तो हो जाय। नन्हकू अभी दोनों हाथों से सध की दाद खुजला रहा है, ऐन ऐसे ही समय में इनके दादा जी खड़ाऊँ खटखटाते चले आते हैं। नन्हकू बोले, 'भली, शायद पहुँची, लो अब दादा जी जो चाहें समझें, पर बंदा तो खुजलाना नहीं छोड़ता है।' उपन्यास भी ठीक ऐसे ही पदार्थों में से एक है।[३]

---

१. स्वर्णमयी, पृ० १८ ।

२.वही, पृ० १९।

३. समालोचक, अक्तूबर १९०२, पृ० २० ।

कहने का तात्पर्य यह कि उपन्यास शतरंज के नशे के समान मनोरंजन और विलास का एक साधन मात्र है जो मनुष्य को बेकार बना देता है। इसीलिए प्रेमचंद से पूर्व उपन्यास को साहित्य क्षेत्र में 'अछूत' ही समझा जाता था और जनता में उपन्यासों की लोकप्रियता चाहे जितनी रही हो, साहित्य क्षेत्र में उनका प्रवेश निषिद्ध था।

प्रेमचन्द ने पहले-पहले हिन्दी उपन्यासों को कलात्मक रूप दिया और उन्होंने ही हिन्दी में सबसे पहले उपन्यास को 'मानव-जीवन का चित्र' स्वीकार किया। उपन्यास युग के मानव-जीवन का चित्र है और वह चित्र जितना ही स्वाभाविक और यथार्थ होगा उतना ही वह सुन्दर और प्रभावशाली होगा। इस कारण उपन्यासों की जान उसकी स्वाभाविकता और यथार्थवाद में है। प्रेमचन्द ही ने पहले पहल यथार्थवादी उपन्यासों की सृष्टि की और 'सेवासदन' हिन्दी उपन्यासों के कलात्मक विकास की पहली मंजिल है।

परन्तु यथार्थवाद क्या है इसको भी समझ लेना आवश्यक है। यथार्थवाद आधुनिक विज्ञान युग की देन है। यों तो जीवन सर्वदा से ही प्रायः एक ही प्रकार का चला आ रहा है, परंतु उसको निकट से देखने की दृष्टि विज्ञान ने ही पहले पहल दी। पानी हम सदा से पीते रहे हैं और सबका प्रयास यही रहा करता है कि स्वच्छ और निर्मल जल पान करें। प्रसिद्ध भी है 'पानी पीजे छानकर' परंतु आज कपड़े से छानने से भी जल स्वच्छ नहीं हो जाता, हाँ, स्थूल चर्म-चक्षुओं से चाहे वह जितना भी स्वच्छ जान पड़े। कारण यह है कि विज्ञान ने हमें लघुवीक्षण यंत्र (Microscope) द्वारा दिखला दिया है कि स्वच्छ से स्वच्छ जल में भी कीटाणुओं की संख्या गणनातीत हुआ करती है। यही लघुवीक्षण यथार्थ दृष्टि है। इसीलिए प्रसाद जी ने यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए कहा था कि 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात ही यथार्थवाद है।' आज के यथार्थवादी उपन्यास में इसी लघुता की ओर दृष्टिपात होता है। परन्तु इस लघुता की नाप तोल क्या है? प्रसाद जी के कंकाल उपन्यास में यह लघुता कहाँ है जिस पर लेखक ने दृष्टिपात किया? यह लघुता श्रीचन्द्र की व्यवसाय बुद्धि को कहें या देवनिरंजन के स्खलन को, तारा की कष्टसहिष्णुता को कहें या घंटी के उन्मुक्त हास को, विजय की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को कहें या मंगलदेव के जीवन के विविध आरोह और अवरोह को। वास्तव में प्रसाद जी का लघुता की ओर दृष्टिपात समाज के ऊपरी विधि-निषेध के भीतर छिपे हुए उस कंकाल की ओर दृष्टिपात है जहाँ सब समान हैं। परन्तु प्रेमचन्द का यथार्थवाद इससे कुछ भिन्न है। उनका यथार्थवाद जीवन के

व्यापक क्षेत्र की ओर दृष्टिपात करता है, उस व्यापक क्षेत्र की ओर जहाँ एक ओर होरी और धनिया हैं तो दूसरी ओर राजा साहब और रायसाहब; एक ओर झुनिया और गोबर हैं तो दूसरी ओर मालती और मेहता हैं। मध्यकाल में साहित्य जहाँ राधा और कृष्ण, राम और सीता शिवाजी और छत्रसाल, पद्मावती और रतनसेन पर ही दृष्टि डाल पाता था वहाँ आधुनिक युग का यथार्थवादी साहित्य सिलिया चमाइन, कादिर मियाँ, भैरो पासी, नायकराम पंडा, ठाकुरदीन तमोली, जगधर खोंचेवाला, ताहिर अली मुंशी, गूदड़ चमार और सलोनी से लेकर डिप्टी ज्वाला सिंह, जस्टिस एम. दयाल, जमीन्दार रामनाथ तिवारी, क्रान्तिकारी जितेन्द्र और लखपती शिवकुमार सेठ तक सबके जीवन पर अपनी सूक्ष्म दृष्टि डालता है। साहित्य के उपादान और उपकरणों की यह व्यापकता और विशालता, यह सीमातीत विस्तार भी आधुनिक यथार्थवाद की एक विशेषता है।

परन्तु यथार्थवाद की सबसे बड़ी विजय उसका 'आन्तरिक अभियान' है जो आधुनिक वैज्ञानिक युग की ही देन है। पहले हम समझते थे कि देखना केवल आँख से ही होता है और सुनना भी केवल श्रवण का उत्तरदायित्व है, परन्तु आज के मनोविज्ञान ने बताया कि देखना और सुनना केवल आँख और कान का ही काम नहीं है, मन के सहयोग बिना वे नितात व्यर्थ हैं। यदि आपका मन कही दूर देश में रम रहा है तो आँख-कान रहते भी आप न सामने से आती साइकिल देख सकेंगे, न उसकी अनवरत घंटी की पुकार को सुन सकेंगे और आपको अंधे-बहरे की उपाधि ही नहीं, कुछ और भी दण्ड देना पड़ सकता है। बिना मन के सहयोग के आँख ज्योति रहते भी नहीं देख सकती, कान निर्दोष होकर भी सुन नहीं सकते। प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यासों में हमें हाथ, पैर, कान, आँख की ही करामात अधिक मिलती है, हाँ उसमें बुद्धि का कुछ योग अवश्य है, परन्तु वहाँ मन की करामात कम ही मिलती है। आधुनिक यथार्थवादी उपन्यासों में बाह्य इन्द्रियों का कम परन्तु मन की करामात ही अधिक मिलती है। मन की जादूगरी से आधुनिक उपन्यासों मे आभ्यन्तरिकता की जो एक झलक आ जाती है उससे चरित्रों के प्रति पाठकों का विश्वास जम जाता है। ये चरित्र पाठकों को अधिक निकट और विश्वस्त जान पड़ते हैं, कारण यह है कि वे चरित्र के भीतर पैठकर उनका अन्तःप्रदेश तक झाँक आते हैं, जिससे न कोई गोपनीयता रह पाती है, न कोई रहस्य। ऐसे ही चरित्रों को वे यथार्थ मान सकते हैं और ऐसे चरित्रों का ही उनपर प्रभाव पड़ सकता है। इसी कारण आधुनिक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की इतनी धूम है।

परन्तु इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में एक कठिनाई भी है। मन पर वातावरण का प्रभाव पड़ता अवश्य है, परन्तु कुछ मन ऐसे भी होते हैं जिन पर इस

प्रकार का प्रभाव पडकर भी नहीं पड पाता जहाँ मन विवेक के शासन में रहता है। यथार्थवादी उपन्यासों में ऐसे चरित्रों के लिए कम ही स्थान रहता है जिनका मन विवेक से अनुशासित है। इसीलिए यथार्थवादी उपन्यासों मे प्रायः ऐसे ही चरित्रों का बाहुल्य होता है जो दुर्बल हैं, जो अस्थिर चित्त हैं, जो प्रायः विवेकभ्रष्ट हो जाते हैं। इसी कारण प्रेमचन्द ने एक नये यथार्थवाद की उद्भावना की थी जिसे उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा दी। यों देखने में यह विरोधाभास जान पडता है और कहीं-कहीं इसमें अस्वाभाविकता की भी झलक मिलने लगती है, परन्तु साधारण पाठकों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए उसकी अनिवार्य उपयोगिता है। 'कला-कला के लिए' का आदर्श रखने वाले आलोचकों को यह उपयोगिता की बात कभी रुचिकर नहीं हो सकती, परन्तु कला यदि उपयोगी भी हो, सुंदर यदि शिव भी हो, तो वही सत्य बन जाता है। इस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की सबसे बडी विजय तो यही है कि इस सिद्धान्त के बडे-से-बडे आलोचक भी प्रेमचन्द को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासलेखक मानते हैं और हिन्दी के सफल से सफल यथार्थवादी कलाकार उस आदर्शोन्मुख यथार्थवादी से बहुत पीछे रह जाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री त्रिभुवनसिंह 'भुवनेश' एम० ए० मेरे एक प्रिय शिष्य हैं और इन्होंने मेरे निरीक्षण में 'प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर साहित्य में यथार्थवाद' शीर्षक प्रबन्ध एम० ए० की परीक्षा के लिए लिखा था। परीक्षा की औपचारिकता से मार होकर उसी प्रबन्ध ने प्रस्तुत रूप धारण किया है। आवश्यक संशोधन और परिवर्धन के पश्चात् इस ग्रंथ की उपयोगिता कहीं अधिक बढ़ गई है। उपन्यास आधुनिक युग का विशिष्ट साहित्य-रूप है। एक लेखक ने तो इसे आधुनिक युग का वेद, कुरान और बाइबिल ही मान लिया है।[1]

1. कहते है जब हमारे पूर्वज ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान का पहले-पहल बोध हुआ, तब उन्होंने वेदों की रचना की। जब हज़रत मुहम्मद को ईश्वरीय प्रेरणा हुई, तब उन्होंने कुरान शरीफ का सृजन किया, और जब ईसा को अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई तब हमारे सामने वह उपदेश आया, जो ससार में बाइबिल के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपन्यास भी एक ऐसा ही स्वप्न है, जो आज से तीन वर्ष पूर्व एक दिन मेरे मस्तिक में एकाएक उदय हुआ। यद्यपि मैं इसे कोई ईश्वरीय ज्ञान, दैवी प्रेरणा या अंतर्बोध न कहूँगा, तथापि मैं इसे वेद कुरान या बाइबिल से कम महत्त्व नहीं देना चाहता। उस युग में उनका जो स्थान था, वही इस युग मे उपन्यासों को मिलना चाहिए। यह उपन्यासों का ही युग है।

अपनी ओर से

प्रस्तुत पुस्तक में विवेचना के लिए मैंने जिस साहित्य-अंग को चुना है वह इतना व्यापक तथा गतिशील है कि उसे निश्चित सीमा के अन्दर बाँध देना सम्भव नहीं। आधुनिक काल में उपन्यास साहित्य की उपादेयता तथा लोक प्रियता इतनी बढ़ गई है कि अन्य रचनात्मक साहित्य-अंगों में उपन्यासों की सृष्टि अपेक्षा कृत अधिक हो रही है। इस विकासशीलता के कारण हिन्दी उपन्यास साहित्य की आज जो सीमा है, वह कल नहीं रहने को। जिससे मैं कदापि दावा नहीं कर सकता कि यथार्थवाद की प्रवृत्तियों को दिखाने के लिये मैंने आधुनिकतम उपन्यासों को दृष्टि में रखा है किन्तु इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि नवीनतम विकसित प्रवृत्तियों को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासों की उपेक्षा भी इसमें नहीं की गई है। कुछ ऐसे उपन्यास जो यथार्थवादी किसी निश्चित प्रवृत्ति के अन्दर नहीं लाये जा सकते किन्तु यथार्थता के निकट आये हैं उनकी चर्चा पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट जोड़कर कर दी गई है।

जिन महानुभावों की प्रेरणा और आशीर्वाद से मुझमें कुछ लिखने पढ़ने की शक्ति आई है उन आदरणीय गुरुवर शिवनायण श्रीवास्तव तथा श्रद्धय गुरुवर श्रीपालसिंहजी 'क्षेम' का आभार क्या शब्दों में प्रकट किया जा सकता है ? इस पुस्तक को प्रकाशित देखकर भाई रूपनारायणजी त्रिपाठी, 'अमर' प्रिय चन्द्रकान्ता तथा 'ज्ञान' को कितनी प्रसन्नता होगी मैं नहीं कह सकता। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि प्रिय कमला का आभार किन शब्दों में प्रकट करूँ जो मुझसे निरन्तर लिखने का आग्रह करती रही है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में मुझे जो सहायता श्रद्धेय गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिली तथा आदरणीय गुरुवर डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के जिन सुझावों का लाभ मैंने उठाया है क्या उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करूँ......श्रद्धावनत रहूँगा। प्रो० नामवर सिंह से जो सहायता मिली है तथा अंग्रेजी साहित्य की प्रवृत्तियों को समझने में आँग्ल भाषा के समर्थ–पंडित डा० रामअवधजी द्विवेदी ने जो योग दिया है और जिन साहित्यकारों, मित्रों तथा पुस्तकों से उपकृत हुआ हूँ और उल्लिखित नहीं कर पा रहा हूँ, किस प्रकार भुला दूँ समझ में नहीं आ रहा है।

प्रो० विजयशंकर मल्ल ने पुस्तकों और आवश्यक सुझावों से मेरी बड़ी सहायता की है तथा उन्हीं की कृपा का यह परिणाम है कि यह पुस्तक पाठकों के हाथ इस रूप में जा रही है। प्रो० साहब को मेरे ऊपर जो स्नेह है उसकी तुलना में आभार प्रकाशन कोई मूल्य नहीं रखता।

इस पुस्तक की प्रेरणा मुझे एम० ए० की परीक्षा में प्रस्तुत किये गये 'प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद' नामक मेरे ही प्रबन्ध से मिली जिसकी साहित्यिक साधना गुरुवर डा० श्रीकृष्णलालजी की देख-रेख में सम्पन्न हुयी थी और उन्हीं की ही प्रेरणा के कारण इसे यह रूप भी दे सका हूँ। अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी समय-समय पर डा० साहब ने यदि दिव्य दृष्टि न दी होती और पुस्तकों और सुझावों का कोष मेरे लिए न खोल दिया होता तो इस ग्रंथ के इस रूप में सम्पन्न होने में सन्देह ही था। डा० साहब ने इसका प्रत्येक शब्द पढ़ा है और अपने अमूल्य सुझावों के कारण इसे सम्भावित त्रुटियों से बहुत कुछ बचा लिया है। इतना ही नहीं बल्कि अस्वस्थ रहने पर भी अत्यन्त कष्ट उठाकर डा० साहब ने विस्तृत भूमिका लिख कर मेरी इस कृति को गौरवान्वित किया है, मैं किसी भी प्रकार का आभार प्रकट करना डा० साहब के सम्मान के प्रतिकूल समझता हूँ... धृष्टता नहीं करूँगा। मैं अपनी इस कृति को उन्हें ही समर्पित कर, जो उनकी ही है, डा० साहब के गुरु ऋण का मूल्य घटाना नहीं चाहता, जिससे उऋण होने के लिए श्रेष्ठतर ग्रन्थ अपेक्षित है।

पुस्तक का प्रकाशन इतनी शीघ्रता में हुआ है कि जिससे इसमें सम्भावित त्रुटियों का आ जाना स्वाभाविक है। इतनी बड़ी पुस्तक को बारह दिनों में ही यह रूप दे देना श्री कृष्णचन्द्रजी बेरी तथा पं० सुधाकरजी का चमत्कार ही है जिसके लिये धन्यवाद के शब्द अत्यन्त ओछे होंगे। इसके अतिरिक्त भाई अमरनाथजी ने मेरी पांडुलिपि की जो 'टाइप' प्रतिलिपि तैयार की उसके लिये मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

खानजहाँपुर
८ नवम्बर, सन् १९५५ ई०

त्रिभुवनसिंह

विषय सूची

प्रथम खंड

विषय		पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

पन्द्रहवाँ अध्याय



प्रथम खण्ड

यथार्थवाद का स्वरूप

विषय-प्रवेश

हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद

प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने 'हिन्दी उपन्यास साहित्य' में पाई जाने वाली यथार्थवादी प्रवृत्तियों को दिखलाने का बाल-प्रयत्न किया है। 'यथार्थवाद' आधुनिक साहित्य का बड़ा ही ज्वलंत विषय है। अनेक साहित्य-मर्मज्ञों ने इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। 'यथार्थवाद' को लेकर लिखे जाने वाले निबंधों से हिन्दी साहित्य की प्रमुख पत्रिकायें भी निरंतर विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती आ रही हैं, परन्तु आज तक इस विषय पर जितना भी विचार किया जा सका है, उसका मुख्यतः सम्बन्ध इसके शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष से ही है। जिन विद्वानों ने साहित्यिक कृतियों की विवेचना यथार्थवादी दृष्टि से की भी है, उन्होंने भी विवेचना करते समय यूरोपीय साहित्य को ही सामने रखा है। हिन्दी-साहित्य की विवेचना इस दृष्टि से जो नहीं की जा सकी है, इसका मूल कारण यही है कि 'यथार्थवाद' मुख्यत. पाश्चात्य साहित्य की ही देन है। प्रस्तुत प्रबंध में मैंने यथार्थवादी दृष्टि से विवेचना करने के लिए हिन्दी-साहित्य को ही सामने रखने की धृष्टता की है।

साहित्य-क्षेत्र में उपन्यास ही एक ऐसा उपकरण है, जिसके द्वारा सामूहिक मानवजीवन अपनी समस्त भावनाओं एवं चिन्ताओं के साथ सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हो सकता है। मानव जीवन के विविध चित्रों को चित्रित करने का जितना अधिक अवकाश उपन्यासों में मिलता है उतना अन्य साहित्यिक उपकरणों में नहीं। प्रेमचन्द जी ने तो उपन्यासों को इसीलिये मानव जीवन का चित्र ही कहा है। 'यथार्थवाद' की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास साहित्य का सर्वोत्तम साधन है। यथार्थ चित्रण की सामाजिक आवश्यकताओं ने ही उपन्यासों को जन्म दिया। हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी वृत्तियों के विकास को सुस्पष्ट करने के लिये, मेरी साधारण बुद्धि को उपन्यास साहित्य ही अधिक उपयुक्त जान पड़ा, जिसका ही परिणाम यह प्रस्तुत ग्रन्थ है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य की विवेचना करते समय मैंने जहाँ तक हो सका है, उदार दृष्टि को अपनाने का प्रयत्न किया है, जिससे यथार्थवादी

साहित्य की रूढ़ियों का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाया है और उनका पालन करना मैंने अत्यन्त आवश्यक भी नहीं समझा है।

'यथार्थवाद' का यदि व्यापक अर्थ लगाया जाय तो, यह साहित्य की वह शैली अथवा प्रवृत्ति है जो सदैव से रचनात्मक साहित्य की मूल भित्ति रही है, परन्तु आजकल साहित्य में इसका जिन अर्थों में प्रयोग किया जा रहा है, वह नितान्त इससे भिन्न है। मुख्यत यह विचारधारा हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से आई, जिससे इसकी परिभाषा देते समय पाश्चात्य विद्वानों के मतों को उद्धृत करना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। हिन्दी अथवा अंग्रेजी साहित्य के विद्वानों को उद्धृत करते समय उनके विचारों का व्याख्यात्मक मूल्यांकन इसलिये प्रस्तुत कर दिया गया है कि जिससे उनकी मान्यताओं की तर्कसगत सीमा पाठकों के सामने स्पष्ट हो जाय। 'यथार्थवाद के उदय और विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' प्रस्तुत करते हुये उसके क्रमिक विकास में योग देने वाले समस्त वाह्य प्रभावों का उल्लेख करते समय उनकी संक्षिप्त तुलनात्मक व्याख्या इसलिये कर दी गई है, जिससे कि सिद्धांतों को समझने में किसी भी प्रकार की बाधा न हो। किन किन आंतरिक प्रेरणाओं ने 'यथार्थवाद' के लिये सुलभ भूमि तैयार की तथा उनके कारण इसके स्वरूप पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ा आदि सभी तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या इस अध्याय में की गई है। साथ ही साथ इसका भी हलका सा सकेत कर दिया गया है कि भारतीय साहित्य परम्परा में 'यथार्थवाद' की रूप रेखा क्या थी।

'उपन्यास का उदय और यथार्थवाद का विकास' किन परिस्थितियों में हुआ और दोनों एक दूसरे के कितने निकट हैं आदि की व्याख्या करते हुये उपन्यासों के तत्त्वो तथा शैली आदि के निश्चित रूपों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी-साहित्य के अन्दर 'यथार्थवाद' का उदय किन परिस्थितियों में हुआ और उसका आरम्भिक स्वरूप क्या था, को दिखलाने के लिये तत्कालीन लेखकों के विचारो तथा परवर्ती विद्वानों के मतों का सहारा लिया गया है। उपन्यासों के अन्दर 'यथार्थवाद' सर्वप्रथम किस रूप में ग्रहण किया गया तथा उसके आधार पर समाज की व्याख्या किस प्रकार आरम्भ हुई, का मूल्यांकन करते समय उपन्यासकार की सामाजिक स्थिति तथा उसकी साहित्यिक सीमा की ओर विशेष ध्यान रखा गया है।

जहाँ तक हो सका है, यथार्थवादी साहित्य के साहित्यिक रूपों की सीमा के अन्दर आने वाले उपन्यासों एव उपन्यासकारों की मूल प्रवृत्तियों की विवेचना की गई है, परन्तु आग्रहपूर्वक प्रत्येक उपन्यास में विवेच्य प्रवृत्ति

को ढूँढ़ निकालने का किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसी भी यथार्थ प्रवृत्तियों की उपेक्षा नहीं की गई है, जो कि यथार्थवाद के शास्त्रीय वर्गीकरण के अन्दर नहीं आतीं, जैसे ऐतिहासिक यथार्थवाद तथा मध्यवर्ग का चित्र आदि। आधुनिक उपन्यास साहित्य के नवीनतम उपलब्ध उपन्यासों को विवेचना करते समय दृष्टि में रखने का प्रयत्न तो अवश्य हुआ है, परन्तु विवरणात्मक सूची देने की प्रवृत्ति से जहाँ तक हो सका है बचने का प्रयत्न किया गया है।

'यथार्थवाद' साहित्य में आजकल जिस रूढ़िगत शैली एवं विचार परम्परा के लिये प्रयुक्त किया जा रहा है, यदि उस-कसौटी पर हम हिन्दी-उपन्यासों को कसना चाहेंगे तो अधिक सम्भव है कि एक भी उपन्यास खरा नहीं उतर सकता। कोई भी साहित्य शास्त्रीय बन्धनों को वहीं तक स्वीकार कर सकता है, जहां तक कि वे बंधन उसकी स्वाभाविक प्रगति में बाधा नहीं पहुँचाते। साहित्य के अन्दर प्रगति की चेतना का होना अनिवार्य है, जिसके लिये साहित्यकार को कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है। कल्पना ही चेतना की वह स्थिति है जो किसी भी असंगति को संगति में बदल सकती है। जिस किसी वस्तु की स्थूल सत्ता का प्रमाण हमारे पास नहीं है, उसका चित्रण हम तब तक नहीं कर सकते जब तक कि वह सम्भावित सत्य की सीमा के अन्दर नहीं आ जा सकता। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक उपन्यासों के अन्दर हमें कल्पना का विलास अधिक दिखलाई पड़ता है। जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों के अन्दर ऐसी ऐसी घटनाओं का चित्रण मिलता है जिसे पढ़कर बुद्धि चकरा जाती है। जो घटनायें बुद्धि एवं तर्क की सीमा के भीतर नहीं आतीं, जिनकी कि आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों में बहुलता है, उनका चित्रण तो यथार्थ और यथार्थवाद के भीतर किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता, परन्तु उन घटनाओं की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती जिनके कि किसी भी प्रकार के प्रमाण समाज में मिल जाते हैं। यथार्थता से दूर होते हुये भी आरंभ के उपन्यासों में कुछ ऐसे स्थल मिल जाते हैं जो सम्भावित सत्यों पर आधारित हैं और यही कारण है कि उन्हें भी प्रस्तुत पुस्तक में प्रासंगिक स्थान देना पड़ा है। मनुष्य में कल्पना शक्ति का होना यथार्थ है और भावुकता उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यथार्थ का चित्रण करने वाला उपन्यासकार जब उचित संगति में अपने चरित्र की कल्पना या भावुकता का चित्रण करता है तो वह यथार्थ का ही चित्रण है। आरम्भिक उपन्यासों की भूमि कल्पना और रोमांस की अवश्य थी, फिर भी उनका आधार सामयिक जीवन और ऐतिहासिक तथ्यों के निकट ही है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द जी के आगमन से एक नवीन मोड़ उपस्थित हुआ। समाज के जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों को प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारो ने उठाया और उनका जैसा हल प्रस्तुत करना चाहा है, वह नितान्त स्वप्निल एवं कल्पना मात्र ही है। इन लोगों के द्वारा जो सुधार की आदर्शात्मक गाथा उपस्थित की गई है, उसमें कला का इतना अभाव था तथा आदर्शवादी आवरण इतना मोटा था कि अभेद बन गया। परन्तु इनमें जो सब से बड़ी विशेषता पाई जाती है, जिनका कि आरम्भिक उपन्यासों में अभाव था, वह यह कि इस खेवे के उपन्यासकार कल्पना से उतर कर समाज के निकट आये और उन्होने अपनी रचनायें समाज के लिये कीं। इन उपन्यासों के भीतर आदर्श की मात्रा भले ही अधिक आ गई हो परन्तु जिस समाज को इन लोगों ने प्ररणा देनी चाही है, उसका अत्यन्त ही यथार्थ चित्रण हुआ है। आदर्श और यथार्थ का अद्भुत गठबधन प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में खूब निभाया है और आगे चलकर इन्होंने अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को सूक्ष्म और कलात्मक भी बना लिया है और हम देखते हैं कि गोदान तक आते-आते प्रेमचन्द बिल्कुल बदल गये। उन्हें उनकी सारी पूर्व की मान्यतायें सारहीन जान पड़ने लगीं और वे धीरे-धीरे यथार्थ की कठोर भूमि पर उतर आये। उनके अन्तिम उपन्यास गोदान में यथार्थ की विजय है और आदर्श नई तथा कटु वस्तु-स्थितियों की चोट से टकरा कर चकनाचूर हो गया है।

प्रेमचन्द जी के साथ उपन्यासकारों का एक दल ही चल रहा था जिस पर उनका अत्यधिक प्रभाव था। इस युग के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ के विविध रूपों का चित्रण हमें मिल जाता है। यह काल भारतवर्ष के इतिहास में एक ऐसा काल था जिसमें देश के अन्दर अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की चेष्टा की जा रही थी। राष्ट्रीय, सामाजिक तथा धार्मिक आदि अनेक सुधारक संस्थायें बड़े जोरों के साथ अपना प्रचार-कार्य कर रही थीं। महात्मा गांधी के सबल व्यक्तित्व के अन्दर कांग्रेस का महान राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था तथा आर्यसमाज और हिन्दू महासभा ऐसी सुधारवादी संस्थायें भी अपनी पूरी शक्ति के साथ जागरण लाने का प्रयत्न कर रही थीं। तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों के द्वारा आवश्यक प्रश्नों को उठाया और यथाशक्य उसका समाधान प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया, समाज सुधार और राष्ट्रीयता की भावना जिसका मेरुदण्ड थी। ऐसी ही दूषित परम्पराओं एवं मान्यताओं का चित्रण किया गया है, जो उस समय समाज में वर्तमान थीं। जैसे :—वृद्ध-विवाह, बाल-

विवाह, दहेज, वेश्यागमन और हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य आदि, जिससे उस समय की यथार्थ सामाजिक स्थिति का चित्रण, इस खेवे के उपन्यासों में मिल जाता है। जिन कृतियों एवं कृतिकारों में सुधारवादी हल प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रधान रही है उनकी व्याख्या 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' नामक शीर्षक के भीतर की गयी है। यद्यपि प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' को छोड़ कर अपने अन्य पूर्ववर्ती उपन्यासों में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को ही अपनाया है, फिर भी 'उपन्यासों में प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि' नाम से एक स्वतंत्र अध्याय की इस पुस्तक में इसलिये व्यवस्था की गई है, कि जिससे तत्कालीन समाज एवं राष्ट्र के क्रमिक विकास को आसानी के साथ समझा जा सके। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में हमें तत्कालीन समस्त युग जागरण का व्यवस्थित चित्र मिल सकता है, यदि अभाग्य से उस समय का कहीं हमारा इतिहास लुप्त हो जाय तो उसकी गति विधि का ज्ञान हम प्रेमचन्द जी के साहित्य से कर सकते हैं।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं को जितना अधिक महत्व दिया गया उतना वैयक्तिक समस्याओं को नहीं। समाजगत मूल्यों और वैयक्तिक मूल्यों की सीमायें उनके उपन्यासों में केवल उठकर रह गईं, उनका स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है। प्रेमचन्द जी के जीवन काल में ही ऐसे प्रश्न उठने लगे थे कि समाज के लिये व्यक्ति नहीं वल्कि व्यक्ति के लिये समाज है। प्राचीन मान्यताओं के प्रति नवीन मान्यताओं का स्पष्ट विरोध हमें 'जैनेन्द्र' आदि जैसे उपन्यासकारों में दिखलाई पड़ने लग जाता है। नवीन नैतिक मूल्यो की समस्या जागरुक उपन्यासकारो ने समाज के सामने लाकर रखने की कोशिश की। 'भगवती चरण वर्मा' का उपन्यास 'चित्रलेखा' ऐसी ही नवीन नैतिक समस्या लेकर सामने आता है। प्राचीन समस्याओं को देखने की दृष्टि में भी भेद उपस्थित हुआ। विवाह आदि सामाजिक व्यवस्थाओं में ऐसे परिवर्तन आने आरम्भ हो गये कि बाल-विवाह तथा विधवा-विवाह आदि की समस्याओ का कोई मूल्य ही नहीं रहा, क्योंकि एक प्रकार से इनका अस्तित्व ही उस समय समाप्त हो जाता है, जिस समय समाज में वैयक्तिक मूल्यों की स्थापना हो जाती है। 'नारी' जो उपन्यास साहित्य का केन्द्र विन्दु रही है, के स्वरूप को लेकर अवश्य आधुनिक कहलाने वाले उपन्यासकारों ने अपनी उछृंखल वैयक्तिक रुचियों का परिचय अपनी-अपनी कृतियो में दिया है। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में पाई जाने वाली इन मान्यताओं की चर्चा मैंने सामाजिक 'यथार्थवाद' एवं 'सामाजिक समस्याओं के अन्दर की है। शैली विशिष्ट को लेकर तथा वर्ग विशेष के प्रति सहानुभूति दिखलाते हुये लिखे जाने वाले सामाजिक उपन्यासों की व्याख्या व्यंग्य और मध्य वर्ग के अन्तर्गत की गयी है।

कला के प्रति बढ़ती हुई आस्था तथा योरोपीय साहित्य के प्रभाव से विकसित नवीनतम शैलियों ने कृतिकारों को अत्यधिक बुद्धिवादी बना दिया, जिसके कारण हिन्दी-उपन्यासों के अन्दर विविध वादों को स्थान मिलने लगा। यथार्थवाद के शास्त्रीय वर्गीकरण के अन्दर आने वाले अथवा उससे प्रभावित उपन्यासकारों को 'प्रकृतवाद', 'अतियथार्थवाद' 'समाजवादी यथार्थवाद' तथा 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' के अन्दर रखा गया है। 'अतियथार्थवाद' यानी 'सुररियलिज्म' यद्यपि शास्त्रीय वर्गीकरण के अन्दर नहीं आता, परन्तु मूर्तिकलाओ तथा ज्ञान-विज्ञानों के प्रभाव में आकर जिस साहित्य की सृष्टि हो रही है वह प्रकृतवाद से मिलता-जुलता अपना एक अलग विशिष्ट स्थान ही बनाता जा रहा है, जिससे इसका सक्षिप्त परिचय दे देना अत्यन्त आवश्यक था। इसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये कि यह प्रकृतवाद से किसी भी प्रकार का साम्य नहीं रखता है, और न इसका विकास ही इससे हुआ है। दोनों के साहित्यिक एव सामाजिक लक्ष्यो में मौलिक भेद है। 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' का भी शास्त्रीय वर्गीकरण से कोई संबध नहीं है। परन्तु आधुनिक लेखकों द्वारा प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों की जो व्याख्या की जा रही है, उससे भी अतीत को यथार्थ रूप में समझने में बड़ी सुविधा हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहासकार-सा विवेक मिल जाय तो उसकी कृतियों द्वारा अनेक भ्रान्तियों का निवारण हो सकता है और उससे वर्तमान समाज को बहुत प्रेरणा भी मिल सकती है।

इस श्रेणी के उपन्यासों को 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' के भीतर रखा गया है। व्याख्या करते समय विवेच्य वस्तु का ध्यान रखते हुये यदि सम्भव हो सका है तो ऐतिहासिक असंगतियों की ओर भी हलका सा सकेत कर दिया गया है। ऐसी कृतियों की भी उपेक्षा नहीं की गई है जिन पर किसी 'वाद' का भ्रामक प्रभाव ही आ पाया है। 'समाजवादी यथार्थवाद' को लक्ष्य मान कर लिखी जाने वाली कृतियों में प्राय इस प्रकार की भ्रान्तिया मिल जाती हैं। शास्त्रीय नियमों के आधार पर यदि हिन्दी-उपन्यासों की परख की जाय तो एक भी ऐसा उपन्यास नहीं है जिसे 'समाजवादी यथार्थवाद' के अन्तर्गत रखा जा सके। परन्तु समस्या यह है कि जिन कृतियों को 'वाद' रूपी कूबड़ ने झुका दिया है, उनको किस आवरण में छिपाया जाय। यही कारण है कि बहुत सी ऐसी सुन्दर कृतियों की छेछालेदर करनी पड़ी है, जिसके लिये लेखक तैयार नहीं था।

पहला अध्याय

हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद

यथार्थ और यथार्थवाद

यथार्थ और यथार्थवाद के बीच एक निश्चित भेदक रेखा का खींचना अत्यन्त कठिन है। यथार्थवाद, यथार्थ के आवरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यथार्थवाद का प्रयोग साहित्य के अन्दर आदर्शवाद और 'रोमान्टीसिज़्म' (स्वच्छन्दतावाद) के विरोधी अर्थों में किया जाता है। जो साहित्यकार मानव-जीवन एवं समाज का सम्पूर्ण वास्तविक चित्र उपस्थित करता है और अपने साहित्य का वस्तु विषय काल्पनिक संसार से न लेकर वास्तविक संसार से लेता है, उसे ही हम यथार्थवादी लेखक कह सकते है। यथार्थवादी लेखक अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के बल पर बाह्य पदार्थों का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न करता है, अथवा भौतिकतत्वों का चित्रण करते समय अपनी भावुकता तथा अपनी अनुभूतियों को बाधक नहीं होने देता। यथार्थवादी लेखक का विश्वास है कि साहित्य में सत्य की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब कि उसका मूलाधार शुद्ध बाह्य तथ्यो पर आश्रित हो। यथार्थवादी साहित्य के अन्दर निर्भयतापूर्वक स्वीकार किया जाता है, कि किसी भी साहित्य को यथार्थवादी साहित्य की संज्ञा तभी दी जाती है जब कि उसमें उन निश्चित समस्याओं का समावेश हो, जो कि यथार्थवादी साहित्य के लिये आवश्यक हैं। यद्यपि यथार्थ और यथार्थवाद एक दूसरे के अत्यन्त निकट है, फिर भी दोनों का अपना अलग अस्तित्व है। यथार्थवाद यथार्थता की आधार भूमि पर जीवन का नूतन चित्र है। यथार्थवाद हृदय की वस्तु है और यथार्थ उसका मूल स्रोत, जो अपना विषय वस्तु जीवन की यथार्थता से ग्रहण करता है।

यथार्थवाद संबंधी विभिन्न मत और उनकी आलोचना

"कजामियां" के अनुसार 'यथार्थवाद साहित्य में एक शैली नहीं बल्कि एक विचारधारा है[1]।' बहुत से लोगों को इस संबंध में भ्रम हो जाता है कि 'यथार्थवाद' साहित्य में अभिव्यक्ति की एक शैली का नाम है। परन्तु आगे

1, "Realism in art is not a method but a tendency".
Cazamian: 'A History of English Literature'.

चलकर शैली विशेष के कारण 'यथार्थवाद' का एक अलग स्वरूप ही 'प्रकृत-वाद' (नेचुरलिज्म) के नाम से विकसित हो गया।

'लूकस जार्ज' के विचार से 'सच्चे यथार्थवादी साहित्य की यह प्रमुख विशेषता है कि लेखक बिना किसी भय अथवा पक्षपात के ईमानदारी के साथ जो कुछ भी अपने आसपास देखता है उसका चित्रण करे[1]।' यह तो हुई वस्तुपरक यथार्थवाद की परिभाषा। परन्तु जहां तक भावपरक यथार्थवाद का सबंध है, उसके लिये और भी निश्चित परिभाषा की आवश्यकता है। यदि लेखक समाज के संघर्षों तथा परिस्थितियों से प्रेरणा नहीं ग्रहण करता, बल्कि अपने भावों की सच्चाई ही के द्वारा साहित्य में भावाभिव्यक्ति करता है, तो उसके सच्चे यथार्थवादी साहित्य को क्षति पहुँचने की संभावना है। हमारे लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम यह जान लें कि यथार्थवाद की साहित्यिक धारणा मूलरूप में हो क्या सकती है। किसी वस्तु का ज्यों का त्यो ग्रहण कर लेना यथार्थ चित्रण कहलायेगा, पर साहित्यकार फोटोग्राफर नहीं होता, वह निर्माता है।

निर्माण में निर्माता की मौलिक कृति रहती है, जिसमें कृतिकार की रचनात्मक शक्ति का चमत्कार दिखाई पड़ता है। वह प्रस्तुत सत्य को ज्यों का त्यों नहीं चित्रित कर देता, बल्कि अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार वस्तु जगत के दृश्यों को फिर से एक नये सिरे से सजाता है। ऐसा करने में वह अपनी अनुभूतियों तथा व्यक्तिगत रुचि का ही सहारा लेता है। यही कारण है कि एक ही वस्तु का चित्रण भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न ढंग से करते हैं। इस प्रकार वस्तुजगत के सत्य और भावजगत के सत्य में अन्तर दिखलाई पड़ता है। साहित्य का सत्य वस्तुजगत के सत्य से सदैव कुछ न कुछ भिन्न रहेगा ही। यदि हम यथार्थवादी साहित्य को वस्तुजगत का तद्वत् चित्र ही मान लें तो भी चित्र और मूल में स्पष्ट अन्तर रहता ही है।

'हैवर्डफास्ट' ने माना है कि 'साहित्य के अन्दर रचनात्मक प्रक्रिया सदैव एक संयोग है, तद्वत् चित्रकारिता नहीं। लेखक का कार्य वस्तुओं का गिनाना नहीं, वरन् चुनाव करने का हुआ करता है[2]।' "यथार्थवाद वह साहित्यिक

---

1 It is a condition sinquanon of great realism that the author must honestly record without fear or favour everything he sees around him

George Lukacs : Study in European Realism p. 137-138.

2. In literature the creative process is always a synthesis never

संयोग है, जो चुनाव तथा रचना के माध्यम से अपने वास्तविक विचारों को समुन्नत रूप में पाठकों के सामने उपस्थित करता है[1]।" "सच तो यह है कि सत्य वह सेव नहीं, जिसे कोई भी तोड़ सके। सत्य एक समय एक ही पक्ष में हो सकता है, वह कभी भी दो-पक्षीय नहीं होता। इसके पूर्व कि लेखक सत्य के स्वभाव की परख करके उसका रूप निश्चित कर लें, उसके सम्मुख दोनो पक्ष होते हैं, जिनमें से उसे चुनना पड़ता है। सत्य के संबंध में समझौते की कोई भी स्थिति नहीं होती, उसकी अलग स्थिति ही है। सत्य एक होता है[2]।" प्रस्तुत यथार्थ की रूपरेखा विलक्षण है। इसका संबंध बीते और आने वाले दोनों काल से है। परन्तु निश्चित ही यह दोनो काल से भिन्न है। सौ या बीस वर्ष पहले जो सत्य था, आवश्यक नहीं कि वह आज भी सत्य हो। इस प्रकार यदि यथार्थ की रूपरेखा बदलती है तो स्तर का बदलना आवश्यक है। जहाँ तक स्तर का प्रश्न है न तो कोई चिरंतन स्तर रहा है और न हो सकता है। स्तर कें शब्दों में चिरंतन का प्रयोग एक मात्र पूर्व कल्पित धारणा है।

आर० यल० स्टीवेन्सन के अनुसार "यथार्थवाद का प्रश्न साहित्य में मुख्यतः सत्य से अल्पांश भी सम्बन्ध नहीं रखता। वल्कि उसका सम्बन्ध केवल रचना की कलात्मक शैली मात्र से है।" यह निर्विवाद सत्य है कि यथार्थवाद सत्य की प्रवहमान धारा में एक प्रधान मोड़ है। इसकी अपनी एक विशेष धारा है जो कि साहित्य की परम्पराओं में एक आधुनिकतम नूतन परम्परा है। समाज में कुटिल एवं छल-छंदों से भरी हुई कहानियो की अत्यधिक माँग तथा भद्दे एवं कुटिल चलचित्रों के प्रति बढ़ती हुई अनुरक्ति जो कि यथार्थ नहीं है, विनाशोन्मुख और कुटिल जीवन का चित्रण मात्र है।

---

a duplication. The writer must select he can not enumerate. H Fast 'Literature and Reality.

1. Realism being that literary synthesis which through selection and creation heightens for the reader his understanding of reality (Ibid. p. 17 Chapt. VI).
2. Obiously the truth is not an apple that any one can pick. The truth is on one side or on other and before the writer can ascertain the nature of the truth he must choose sides. Te truth is partison not neutral,

(Ibid. p. 18.)

यथार्थवाद के सम्बन्ध में स्वर्गीय प्रेमचंद की धारणा है कि 'यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ और खूबियाँ दिखाते हुये अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं, और चूकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि उसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते है, यातनायें सहते है, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते है, उनको नेकी का फल उल्टा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है।

यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा रहता है। चूंकि ससार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है, यहां तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बा रहता है, इसलिये यथार्थवाद हमारी दुर्बलता, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है।'[1] वास्तव में यथार्थवाद का यह लक्ष्य नहीं, यह तो उसके बारे में बना ली गई गलत एवं सकीर्ण धारणा है। आज जो इस प्रकार के आक्षेप करने का अवसर लोगों को मिल रहा है, उसके लिये बहुत कुछ अधकचरे यथार्थवादी साहित्यकार उत्तरदायी हैं। वास्तव में यथार्थवाद की सृष्टि हमें निराशावादी बनाने के लिये नहीं होती, बल्कि उसकी सृष्टि आशा को दृढ़तर बनाने के लिये की जाती है और न उसका यही लक्ष्य है कि वह हमारे सामने एक ऐसा चित्र उपस्थित कर दे कि हमको अपने चारो तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगे।

बाबू जयशकर प्रसाद के अनुसार यथार्थवाद एक साहित्यिक दृष्टि है। उन्होंने स्वीकार किया है कि "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावत दु ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य के माने हुये सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख[2]।" परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक साहित्यकार के प्रस्तुत करने का ढंग एक सा हो। साहित्यकार की लेखनी यन्त्र नहीं है, जिससे कि एक ही आकार-प्रकार की वस्तुओं का निर्माण होता रहे। साहित्य और साहित्यकार के अनुसार विभिन्न शैली

१. (उपन्यास नामक लेख, गद्य-तरगिणी पृ० ५२)।
२. जयशकर प्रसाद—'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' पृ० १२०।

तथा विभिन्न शिल्प विधान का होना स्वाभाविक है। क्योंकि यह कोई स्वाभाविक वस्तु नहीं है कि प्रत्येक साहित्यकार का रचनातत्व तथा रूप-विधान एक सा ही हो।

साहित्यकार की विभिन्न मनोदशायें होती हैं, जिनमें वह अपने साहित्य के लिये आस-पास बिखरी हुई, वस्तुजगत सम्बन्धी सामग्रियों में से चुनाव करता है और फिर उसे अपनी कल्पना का रंग देकर क्रम से सजा कर रखता है। ऐसी स्थिति में यह भी कोई आवश्यक नहीं कि एक ही लेखक की सभी रचनायें एक दूसरे से मेल खायें, तो यह कब संभव हो सकता है कि विभिन्न लेखकों की कृतियों में एकरूपता हो। इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि यथार्थवादी साहित्य की दृष्टि एवं प्रणाली सदा एक-सी रही है। प्रत्येक सच्चा और ईमानदार कलाकार सत्य का अन्वेषक होता है।

वास्तविकता एकांगी नहीं होती। "यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है[1]।" यही कारण है कि समयानुसार साहित्य के रूपों में परिवर्तन होता रहता है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "कला क्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरंतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है[2]।" मनुष्य जिज्ञासा प्रधान प्राणी है। प्रत्यक्ष रूप में जिज्ञासा के दो रूप माने जाते हैं, एक बाह्य और दूसरा आंतरिक। बाह्य जगत से सभी जीव प्रभावित होते हैं, परन्तु मनुष्य उस प्रभाव का अनुभव भी करता है और वहीं वह अन्य प्राणियों से ऊपर उठ जाता है। मनुष्य की यह अनुभव करने की शक्ति ही, उसकी दृष्टि को अन्तर्मुखी बना देती है और वह अन्तः-करण की शक्तियों द्वारा अपने भीतर और बाह्य जगत में छिपी हुई किसी अज्ञात सत्ता का अनुसंधान करके आत्मा और परमात्मा तथा ब्रह्म आदि की सृष्टि करता है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के मत से "यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक् सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता

---

१. वही।

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'विचार और वितर्क' पृ० ९५।

है। यथार्थवाद का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तुजगत से है[१] ।" "यथार्थवादी अपने को वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न बताता है। वह सत्य का खोजी हुआ करता है और उसका सत्य वही है जिसे वह अपनी इन्द्रियों से जान पाता है। आदर्शवादियो के ऊपर यथार्थवादी व्यग्य करते थे कि "वे घोड़े की पीठ पर बैठकर शून्य में दौड़ लगा रहे हैं[२] ।" वास्तव मे यथार्थवाद एक जीवन दृष्टि है, जिसका प्रभाव साहित्य के वकास पर पड़ता है।

"महान साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिविम्वित करती है, अत. उसकी एक मात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद है[3] ।" केवल रसों आदि की सृष्टि ही तथा अन्य साहित्यिक अलंकारों के प्रयोग मात्र से ही महान कला अथवा साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि इनका सम्बन्ध कला के रूप से है, उसके मौलिक सत्य विषय से नहीं। "इसका अर्थ कदापि नहीं कि यथार्थवाद के लिये अभिव्यक्ति, टेकनीक और शैली का कोई महत्व ही नहीं है। या यह कि वास्तविकता को केवल जान-समझ लेना ही पर्याप्त है और शैली, अभिव्यक्ति तथा टेकनीक चाहे वचकानी, भोंडी और व्यंग्य-गर्वोक्तियो की वैसाखियों पर चलने वाली लँगड़ी ही क्यों न हो[४] ।" यथार्थवाद कलाहीन, मानव-अनुभूतियों से शून्य नीरस साहित्य की रचना नहीं है। यथार्थवादी साहित्य महान दिग्गज प्रतिभाओं की ही सृष्टि है।

प्रगतिवादी लेखकों की साहित्यिक मान्यताओं को यदि रचना का मानदंड मान लें तो निश्चित ही उस प्रकार का साहित्य, साहित्य तो न हो सकेगा, चाहे और जो कुछ भी हो ले। "जहा तक मैं समझ सका हूँ प्रगतिवादी लेखकों का कहना है कि साहित्य मनुष्य के लिये हो, मानवता की पीड़ा, वेदना, अन्याय, शोषण को जो व्यक्त करे, जिसमें मजदूरों की पुकार हो, जो वर्गवाद का गला टीप दे, पूजीवाद की पूछ में पलीता लगा दे, जिसमें कल्पना का कल्लोल न हो, वस्तुवाद का स्वाद हो। जहां तक मेरी बुद्धि जाती है, अव तक का सारा का सारा साहित्य मनुष्य के लिये होता है। बैल या गधे के लिये साहित्य-सृजन करने वाले महापुरुष मुझे अभी देखने में नहीं आये[५] ।"

---

१. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—'आधुनिक साहित्य'।
२. "They are riding on horse back over bacuum."
३. शिवदान सिंह चौहान—'आलोचना' सम्पादकीय सन् १९५२।
४. शिवदान सिंह चौहान—वही सन् १९५२।
५. कृष्णदेव प्रसाद गौड—'सरस्वती' पत्रिका जुलाई १९४२।

यथार्थवाद और प्रकृतवाद

यथार्थवाद साहित्य में उस सत्य को मान्यता प्रदान करता है जिसमें जीवन हो, केवल चित्र मात्र नहीं, जैसा कि प्रकृतवादी मानते हैं। प्रकृतवादियों के अनुसार साहित्य यथार्थ वस्तु का यथावत् चित्र मात्र है। जिस प्रकार कैमरे द्वारा लिये गये चित्र में किसी भी प्रकार का भेद नहीं आने पाता, उसी प्रकार साहित्यकार द्वारा लिये गये चित्र में अन्तर नहीं पड़ना चाहिये। और न तो साहित्य किसी व्यक्ति विशेष के व्यक्तिगत सिद्धान्तों की ही अभिव्यक्ति है, जिनको कि उसने अपनी सुविधाओं के लिये बना रखे हैं और व्यवहार में जिनका कुछ भी मूल्य नहीं है। 'जार्ज लूकस' के अनुसार—"यथार्थवाद में ऐसे तथ्यों को मान्यता दी जाती है, जिनके अनुसार साहित्य की कार्यभित्ति न तो निर्जीव वस्तुओं पर आधारित हैं, जैसा कि प्रकृतवादियों का अनुमान है और न तो व्यक्तिगत सिद्धांतों पर ही, जिनका निर्माण व्यक्तिगत स्वार्थों को लेकर होता है और जो व्यवहार में अपना कुछ भी मूल्य नहीं रखते[1]।"

यथार्थवादी साहित्य की मूल सृष्टि मौलिक रूप से वर्ग एवं एक विशिष्ट सम्मिश्रण को जो कि सर्व साधारण एवं विशिष्ट चरित्रों तथा परिस्थितियों दोनों को पारस्परिक सम्बन्ध सूत्र में लाने की सामर्थ्य रखता है, प्रस्तुत करने में हैं। प्रकार अथवा वर्ग यथार्थवादी साहित्य की साधारण विशेषता नहीं है, और न तो इसका सम्बन्ध व्यक्ति मात्र से ही है। बल्कि इसके भीतर समस्त मानवीय एवं सामाजिक विशेषताओं का एक निश्चित अपनी चरम सीमा को प्राप्त विकास निहित है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' के अन्दर जहाँ पर यथार्थवादी साहित्य की विशेषताओं का वर्णन किया है, वे विशेषतायें अधिकांशतः प्रकृतवादी साहित्य की विशेषतायें हैं। उनके अनुसार 'यथार्थवादी लेखक अपने साहित्य-सर्जन के लिये कुछ कौशलों का सहारा लेता है। वह (१) वक्तव्य वस्तु के इर्दगिर्द की प्रत्येक बात का ब्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है और गंदी तथा घिनौनी समझी जाने वाली चीज़ों का विशेष रूप से उल्लेख करता है। (२) वक्तव्य वस्तु के साथ अत्यन्त क्षीण सूत्र से संबद्ध नगण्य

---

1. "Realism is the recognition of the fact that a work of literature can rest neither on a lifeless average, as the naturalists suppose nor on an individual principle which dissolves its own self into nothingness"
(George Lukacs : Study in European realism)

व्यक्तियों की भी चर्चा करता है। (३) सम-सामयिक घटनाओं और रीति-रस्मों का विस्तार पूर्वक उल्लेख करता है। (४) भिन्न-भिन्न पात्रो की बोलियों का लेखन करता है और उनमें यदि जुगुप्सित, अश्लील गालिया भी हों तो उन्हें ज्यों का त्यों रख देने में नहीं हिचकता। (५) भिन्न-भिन्न व्यवसाय और पेशे के लोगों की पारिभाषिक शब्दावली को चुन-चुन कर सग्रह और व्यवहार करता है। (६) घटना की सचाई का वातावरण उपस्थित करने के लिये, चिट्ठियों, सनदों और अन्य प्रामाणिक समझी जाने वाली बातों को उपस्थित करता है[1]।'

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के कुछ उपन्यासकारों ने जिन्होंने कि यथार्थवाद को अपनाया है, यथार्थवाद और प्रकृतवाद का प्रयोग एक साथ किया है। इस प्रकार यथार्थवाद तथा प्रकृतवाद परस्पर एक दूसरे का रूप धारण करते रहे हैं। इसके एक मात्र कारण ये लेखक हैं जो यथार्थवाद की अभिव्यक्ति अपने एक विशेष ढंग से करते हैं और जिनके मान पूर्वाग्रहों तथा भौतिक तत्त्वों से परिपूर्ण हैं। यही कारण है कि वे वाह्य दृश्यों तथा मानव-विचारों को परखने में धोखा खा जाया करते हैं। ऐसे लेखक यथार्थवादी होने से वंचित रखे गये हैं, जो प्रयत्न करके भी वाह्य दृश्यों का लघु अंश ही उतार पाते हैं। यथार्थवाद शब्द लेकर लोगों ने अनेक धारणायें भी साहित्य के अन्दर बना रखी हैं।

"यथार्थवाद शब्द बहुत गलतफहमी का शिकार बन गया है। साहित्य में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है, यह अंग्रेजी साहित्य के 'रियलिज्म' शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसको कल्पना के द्वारा विचित्र रगों से अनुरजित करना और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिये उसे काट छांट कर उपस्थित करना[2]।" परन्तु यथार्थवाद और प्रकृतवाद के नाम पर जिस नवीन शैली या वाद का विकास हुआ उसमें भी क्रमश जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव ही दिखलाई पड़ने लगा।

सत्य और यथार्थ के नाम पर जो रचनायें प्रस्तुत की गईं उनमें प्राय· विकृत और असंतुलित चरित्रों की जीवन गाथा रहा करती थी। इससे आदर्श-

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य' पृ० २८।
२. वही पृ० २७।

वादियों ने उनके सम्बन्ध में कहा कि 'उन्होंने हमें एक नया संसार देने को कहा था, पर हमें उनसे मिला एक नया अस्पताल[1] ।' मार्क्सवादी सिद्धान्तों के कट्टर विरोधी होते हुये भी अन्तश्चेतनावादी लेखक अपने को यथार्थवादी कहते हैं । उनका यथार्थवाद अन्तःश्चेतना का यथार्थवाद है । "इस मत के अनुगामी भी यही कहते हैं कि काव्य हमारी अन्तश्चेतना में पड़े हुये संस्कारों और भावों का यथार्थ उन्मेष है[2] ।"

'ज़ोला' (Zola) ने निर्भीकतापूर्वक स्वीकार किया है कि प्रत्येक साहित्यकार का यह कर्त्तव्य है कि वह जीवन के विश्वसनीय यथातथ्य चित्रों को चित्रित करे, चाहे वे कितने ही बुरे एवं भ्रष्ट हों । जब वह मनुष्यों के रोगों तथा कुरीतियो को चित्रित करे तो वह इतना तथ्यपूर्ण हो कि पाठको को उसकी वास्तविकता में किसी भी प्रकार का संदेह न हो । यथार्थवादी साहित्यकार पाठकों को विश्वास में रखने के लिये स्वयं भी यथार्थ बन जाता है । ऐसा करने के लिये उसे सावधान रहना पड़ता है कि कहीं पाठक उसके ऊपर अविश्वास न करने लगें । इस प्रकार के यथार्थ चित्रण के लिये लेखक के कुछ विशेष शिल्पविधान हैं । वह (१) जिस किसी भी वस्तु का वर्णन करने लगेगा, उसका इतने विस्तार से वर्णन करेगा कि कोई सम्भावित वस्तु या घटना छूटने न पाये और वह मुख्य वस्तुओं का वर्णन करना भले भूल जाय परन्तु साधारण तथा नगण्य वस्तुओं का वर्णन अवश्य करेगा । (२) लेखक कुछ अखबारों की कटिंग की बात करेगा, क्योंकि उसे ज्ञात है कि अखबार आज के दैनिक जीवन में कितना महत्वपूर्ण बन बैठा है । (३) डायरी के कुछ पन्ने तथा पत्रों को अवसर पाने पर उद्धृत करने से वह कभी भी नहीं चूकता ।

यह लेखक के सारे स्वांग अपने को यथार्थवादी होने की मान्यता प्राप्त करवाने के लिये हैं । परन्तु यथार्थवाद के सम्बन्ध में यह अति सामान्य धारणा ही है । जिस साहित्यकार को युग के सत्य पर विश्वास नहीं, वह कभी भी यथार्थवादी कलाकार नहीं हो सकता । युग के सत्य से शून्य साहित्य घासलेटी साहित्य बनकर रह जायगा, यही उसकी उपादेयता है । 'फ्लाबेयर' (Flaubert) पहला व्यक्ति था जिसने कि साहित्यकारों से मांग की कि वे

---

१. उद्धृत—आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—
"They promised to give us a world instead they gave a hospital."

२. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—'आधुनिक साहित्य' ।

दैनिक जीवन के छोटे से छोटे एवं नगण्य चित्रों को अपनी कला द्वारा साहित्य के उच्च स्तर पर चित्रित करें। कुशल कलाकार की लेखनी द्वारा वर्ण्य वस्तु का सौन्दर्य आकर्षक बन जाता है, चाहे वह वर्णन की दृष्टि से कितनी ही निम्न कोटि की वस्तु क्यो न हो।

यथार्थवाद का यह कदापि अर्थ नहीं होता कि गदी बातों का चाहे जितना भी नग्न प्रदर्शन किया जाय। हमारे अनेक शारीरिक धर्म हैं। किन्तु शिष्टता की माप यही है कि उनमें जो जघन्य है वे परोक्ष के लिये हैं। इसी के साथ साथ एक और समस्या प्रकृतवादी साहित्य ने सुलझाने का बीड़ा ले लिया है, वह है यौन समस्या यानी सेक्स प्राव्लेम। इस प्रकार के साहित्य ने स्त्री जाति के साथ वडा ही अन्याय किया है। क्योंकि इनकी दृष्टि स्त्रियों के प्रति अत्यन्त एकांगी है और उनके साढ़े तीन हाथ के शरीर की नाप-जोख में ही इनका मन विशेष रमता है।

यथार्थ और रोमांस

साहित्य में वह सभी यथार्थ है जिसके पीछे साहित्यकार की अपनी अनुभूति है, और जिसे वह दूसरों को अनुभूत करा सकता है। मानव अनुभूति के विषय असीम और असंख्य हैं। इनकी सीमा के निर्धारण का प्रयत्न कोरी विडम्बना ही होगी। साहित्यकार के लिये एक नियंत्रण स्वीकार किया जा सकता है, वह है उसके साहित्य का लोक-कल्याणकारी रूप, उसे समाज का अकल्याण करने का कोई भी अधिकार नहीं है, उसे कदापि ऐसे यथार्थ का चित्रण नहीं करना चाहिये, जिससे कि पाठकों की कुरुचिपूर्ण, कुत्सित, पशु-वृत्तियों को सहलाहट मिले। परन्तु स्वस्थ रोमास मानव-जीवन में ताजगी लाने तथा उसे गतिशील बनाये रखने के लिये अति आवश्यक है। साहित्य के क्षेत्र में 'रोमांस' भी उतना ही यथार्थ है, जितना रोटी कपड़ा[1]। लोगों की सामान्य धारणा है कि 'रोमांस' विलासी जीवन की क्रोड़ में फलता-फूलता है और उसकी सुकुमार लता संघर्ष-रत मानव-जीवन के ताप को पाकर मुरझा जाती है।

"कहा जाता है कि आज का संघर्ष-रत मानव किसी प्रकार की रोमानी भावनाओं में दिलचस्पी नहीं ले सकता, जो रोटी कपड़े के लिये, अपने अधिकारों के लिये, अपने जीवन के लिये शोषकों से लड़ रहा है, उसे प्रेम-कहानी पसद आएगी? किन्तु यह तथ्य नहीं है। शोषित और संघर्ष-रत व्यक्ति भी मानव है, 'आटोमैटन' नहीं है जो सदा एक ही वात सोचता रहेगा। पेट की

१—कल्पना—सम्पादकीय (अक्तूबर १९५२ पृ० ७४३)।

भूख के अतिरिक्त मानसिक भूख उसे भी लगती है, उसका अकाट्य प्रमाण प्रत्येक देश के लोकगीत और लोक कथायें हैं। लोक गीत और लोक कथायें बुर्जुआ-वर्गकी कृतियाँ नहीं हैं, प्रत्येक देश और काल के शोषितों की, सर्वहारा वर्ग की रचनायें हैं। कोई नहीं कह सकता कि ये रचनायें यथार्थ का चित्रण नहीं हैं। इनमें हमें जन-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलती है। यह कट्टर से कट्टर प्रगतिवादी भी स्वीकार करेगा और लोक साहित्य में केवल संघर्ष की, रोटी-कपड़े की बातें नहीं है[1]।" मानव जीवन में प्रेम-तत्त्व का पाया जाना चिरंतन सत्य है और फलस्वरूप साहित्य के अन्दर रोमांस उतना ही शाश्वत है जितना कि साहित्य में मानव।

यथार्थ और कल्पना

अंग्रेजी साहित्य में आजकल 'यथार्थवाद' का रूप बहुत कुछ बदल गया है। वह अब कल्पनामय और रहस्यमय हो गया है और उसमें बहुत सी ऐसी वस्तुयें प्रवेश पा गयी हैं, जो कि सत्य से बहुत दूर और असम्भव तथा अविश्लेष्य मालूम पड़ती हैं। परन्तु यथार्थवाद के समर्थक अब भी यही कहते हैं, कि हमने सत्य के अन्वेषण के लिए अपने क्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर लिया है, जिसमें साहित्य की रूढ़िगत लीक पर चलने की कोई आवश्यकता नहीं। मायर्स (Myers) के अनुसार तो वास्तववाद ने ही अपने नग्न-निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक से अधिक अर्थगर्भित बनाने के लिये प्रतीकवाद का रूप धारण कर लिया।

कितने वास्तववादी आगे चलकर स्वयं प्रतीकवादी बन गये है। प्रभाववादी कवि उस घटना का वर्णन करते हैं जो निरपेक्ष दृष्टि से उनके हृदय पर अपना प्रभाव डालती हैं, जब कि यथार्थवादी उसका तद्वत् वर्णन कर देता है। वह प्रभाववादियो की भाँति हृदय पर पड़े हुए प्रभावो के अनुसार नहीं करता। 'चित्रकार जब चित्र बनाने बैठता है तब तथ्य का संवाद देने नहीं बैठता। वह तथ्य को उसी हद तक स्वीकार करता है, जिस हद तक उसको उपलक्ष्य करके किसी एक सुषमा का छंद विशुद्ध रूप में मूर्त हो उठता है। यह छंद विश्व का नित्य पदार्थ है। इसी छन्द के ऐक्य सूत्र में ही हम तथ्यों में सत्य का आनन्द पाते हैं। इस विश्व छंद के आलोक मे बिना उद्भासित हुए तथ्य का हमारे लिये कोई मूल्य ही नहीं[2]।'

१—वही पृ० ७४३।
२—रवीन्द्रनाथ टाकुर (रवीन्द्र साहित्य भाग २४, अनु० हंस कुमार तिवारी पृ० ४३-४४)।

यथार्थवादी लेखक जैसे 'बालज़ाक' या 'टाल्स्टाय' अपनी रचना की अन्तिम प्रश्नावली को समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा नवीनतम समस्या से चुनते हैं, और वहीं से उनकी रचना का आरम्भ भी होता है। जन समुदाय की कठिनाई, जो उस समय तीव्रतम रूप में सामने रहती है, उसी के प्रति सहानुभूति एवं उदारता दिखलाने के लिए वे अपने साहित्य की सृष्टि करते हैं। यही कठिनाइयाँ तथा दर्द उनके अनुराग अथवा घृणा का स्वरूप निश्चित करती हैं। और इसी भावुकता के द्वारा ही उनकी कल्पनात्मक दृष्टि का निर्माण होता है, तथा उसी से पता चलता है, कि उन लोगों ने इसे किस प्रकार और कैसे देखा है।

यथार्थ और वास्तविकता

आज के साहित्यकारो का कहना है, कि भौतिकता और कल्पना का संयोग नहीं हो सकता। दोनों के सयोग से किसी रचनात्मक साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, बल्कि एक साधरण संग्रह मात्र ही होगा। 'मिल्टन' ने कविता के अन्दर तीन बातों की माँग की है। उसके अनुसार कविता 'सरल हो, और अनुभूतिजन्य तथा उत्तेजक हो[1]।' वाह्य सत्य एव रचनाकार के बीच के संघर्ष से उद्भूत आवश्यकता, कौशल की माग करती है, जिसके द्वारा सत्य का निर्माण होता है, यही रचनात्मक प्रक्रिया की विशेषता है। परन्तु 'मार्क्स' ने कभी भी इसका दावा नहीं किया कि कला का कार्य केवल आर्थिक आवश्यकताओं तथा आर्थिक प्रक्रिया की प्रतिच्छाया उपस्थित करना है।

'एनजिल' ने बड़े जोरदार शब्दो में कहा है, कि मनुष्य की इच्छाओं तथा उत्तेजनाओं का सघर्ष मानव के भावात्मक तत्वों को लेकर नहीं होता, बल्कि उसका वास्तविक आधार मानव की शरीर सबंधी अवस्थायें ही हैं और मूलत तो उनका आधारभूत तत्व आर्थिक समस्याओं पर आधारित है। 'लेनिन' के अनुसार तो लेखक का सबध निश्चित ही सत्य से होना चाहिये। साहित्य वास्तव में एक मानवीय कला है और इसी कारण मार्क्सवादी लेखकों का कहना है कि एक समाजवादी कला, नवीन यथार्थवाद ही आज एकमात्र प्रकट

1—"Milton demanded three things of poetry that it be complet‹ensous and passionate The essence of the creative process is the struggle between the creater and external reality. But does not a marxism claim that works of art are merely a reflection of economic needs and economic process" Rolphox The Novel and the People.

साहित्य है जिसके द्वारा रचनात्मक लेखक सत्य के साथ अपना संग्राम जीतते हैं। परन्तु सत्य की जो मनचाही कल्पना कर ली जा रही है, उससे तो ऐसा लगता है कि भविष्य में वास्तविक सत्य का गला ही घुट जायगा। यथार्थवाद वास्तविक सत्य तक पहुँचने का साधन मात्र है, वह साध्य कभी भी नहीं हो सकता।

"यथार्थवाद को जैसे हमारे लेखकों ने विश्वास के रूप मे नहीं, बल्कि आजकल के आवश्यक साधन के रूप में ग्रहण कर लिया है, यानी हर व्यक्ति में कुछ ढुलमुलपन और कुछ पतन-स्खलन दिखा देने का नाम ही यथार्थवाद हो और आधुनिक बनने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक छोड़ा ही न जा सकता हो"[१] परन्तु इस प्रकार के चित्रण मात्र से यथार्थवाद का कार्य पूरा नहीं हो जाता, बल्कि उसका संकल्प कुछ और, इससे महान और पवित्र है जो अधूरा ही रह जाता है। वास्तविकता की निष्कपट अभिव्यक्ति ही यथार्थवाद का लक्ष्य है।"

यथार्थ और सामयिकता

यथार्थवादी साहित्य के अन्दर युग-सत्य की अभिव्यक्ति होती है। परिस्थितियों के अनुसार युग का सत्य भी बदलता रहता है। 'हैवर्ड फास्ट' के अनुसार "जो कविता कभी महान् समझी जाती थी, वह आज केवल अच्छी समझी जाती है और आज से बीस अथवा पचास वर्ष बाद उसकी क्या स्थिति होगी कोई नहीं कह सकता[२]।" किसी भी साहित्य का मूल्यांकन हम उसकी लोकप्रियता के आधार पर करते हैं तथा उसकी ख्याति के द्वारा उससे परिचय प्राप्त करते हैं। परन्तु पूर्ववर्ती साहित्य का मूल्याकन करना इस रीति से थोड़ा कठिन होगा। आज से तीन सौ वर्ष पूर्व जो साहित्य रचा गया था और उस समय उसकी जो लोकप्रियता एवं प्रशंसा थी वह आज संभव नहीं। क्योंकि मान लीजिये आज से तीन सौ वर्ष पूर्व वहाँ एक ऐसा समाज था जो कि एक बहुसंख्यक जनसमूह के शोपण पर अपना जीवन व्यतीत करता था, जैसे कि आज का हमारा अमरीकी समाज है। आज जब कि वहाँ की स्थिति बिल्कुल बदल गयी है और वहाँ का अमेरिकी जीवन रूसी जीवन में परिवर्तित

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'विचार और वितर्क'।

2. "The great poem has become a rather nice poem and what it will be in future twenty or fifty years from now no one can say."
H. Fast, 'Literature and Reality' P. 22.

हो गया है, तो वहाँ की लोकप्रियता एवं प्रशंसाओं की मान्यताओं में अवश्य ही अन्तर पड़ेगा। अतः ऐसी स्थिति में साहित्य के स्तर तथा उसके सभी अंगों का बदलना अनिवार्य है। स्तर, जो एकमात्र सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और नैतिक गुणों की माप है, अपने विषय के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है।

ऐतिहासिक सत्य के आँकलन में यदि वर्ग का इतिहास है, तो निश्चित ही वह समाजवादी साहित्य, वर्गगत साहित्य होगा। यदि देश की प्रमुख विचार-धारा शासक वर्ग से अत्यधिक प्रभावित है, तो अत्यन्त स्वाभाविक है कि देश का अधिक से अधिक साहित्य उसी विचार-धारा की अभिव्यक्ति करेगा। यह कभी भी अन्तिम सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता कि पूँजीवादी युग में यथार्थवादी साहित्य की सृष्टि नहीं की जा सकती। सत्य तो यह है कि पूँजीवाद प्रगतिवादी, व्यंग्यात्मक तथा प्रत्यक्ष विरोधी साहित्य को विकसित होने में सहयोग प्रदान करता है। परन्तु इसका स्थान गौण ही रहा है, यह कभी भी प्रमुख विचारधारा नहीं बन सकी है।

साहित्यिक भाषा में जो प्रस्तुत सत्य के प्रति उदासीन हैं, भयभीत हैं और वास्तविकता में गोते नहीं लगाना चाहते वे अपने साहित्यिक 'प्रकाश' (फोकस) को जगत से परे उन्मुख कर देते हैं तथा वे एक स्वप्न कार्यालय का रूप धारण कर लेते हैं। पर न तो आज, और न कभी कला स्वप्निल वस्तुओं के द्वारा आहत रही है और न है। संसार का महान् तथा स्थायी साहित्य सदैव सत्य की झलक रहा है और उस पर कलाकार की प्रतिभा अवश्य ही अपना चमत्कार दिखलाती रही है। वस्तुत. कला मानव समाज और सत्य में सम्बन्ध सूत्र की कड़ी रही है। "कला के निर्माण के लिए यथार्थवाद ही साहित्य में सर्वोत्तम शैली है" और जिसके द्वारा सम-सामयिक वास्तविक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण किया जाता है।

यथार्थ और सत्य

जो कुछ है वह सत्य है। जो कुछ हम देखते हैं या सुनते हैं, जिसका अनुभव या अनुमान करते हैं, जिसकी कल्पना करते हैं, जिसे बुद्धि से जानते हैं अथवा जिसका हमें आभास मिलता है वह सब है, इसलिये सत्य है। इस दृष्टि से सत्य के दो भेद हुए, एक व्यक्त सत्य अथवा नित्य सत्य और दूसरा अव्यक्त अथवा अनित्य सत्य। यदि यथार्थ सत्य ही है तो उपर्युक्त दोनों रूप यथार्थ के ही हैं।

यथार्थ से हमारा तात्पर्य केवल व्यक्त पदार्थों अथवा बाह्य पदार्थों से ही है। व्यक्त सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य पूर्ण एवं अनन्त सत्ता की कल्पना यथार्थ नहीं है। इसी बिन्दु पर पहुँचकर यथार्थ आदर्श से अलग हो जाता है। कल्पना भी वहीं सत्य हो सकती है जिसका कि हमने अपने वास्तविक जीवन में उपयोग किया है। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में कभी भी अंगूर नहीं खाये, वह उसकी प्रशंसा सुनकर केवल अंगूर पर श्रद्धा ही कर सकता है। अंगूर की मिठास उसके लिए यथार्थ नहीं कही जा सकती। परन्तु ऐसा संभव है कि जो एक वस्तु किसी व्यक्ति के लिए कल्पना की वस्तु है, वही दूसरे व्यक्ति के लिए यथार्थ भी हो सकती है। आज की कल्पित वस्तु कल यथार्थ का रूप धारण कर सकती है। आज के गगनगामी वायुयान पूर्व में किसी की कल्पना की वस्तु ही रहे होंगे। अतः इसी से अनुमान किया जा सकता है कि कल्पना में वह वस्तु आती है जिसका इस लोक में अस्तित्व न हो। प्रतीकात्मक कल्पनाएँ साकार हो जाने पर यथार्थ का रूप धारण कर लेती हैं।

विभिन्न लेखकों ने अपनी परिस्थितियों एवं कलात्मकता के द्वारा यथार्थ साहित्य का विभिन्न रूप सामने प्रस्तुत किया है। परन्तु सबके अन्दर एक समय की सर्वमान्यता का आग्रह रहा है और गम्भीरतापूर्वक जहाँ तक देख सके हैं, वहां तक सबने सत्य को देखा है। जगत के बाह्य सत्यों तथा साहित्य के सत्यों में अन्तर होता है। साहित्य फोटोग्राफी नहीं है कि वह किसी भी वस्तु का तद्वत् निर्जीव चित्र उपस्थित कर दे, बल्कि वह जगत् के मानव सम्बन्धी यथार्थ चित्रों को कल्पना के रंग से मनोमय बनाकर उपस्थित करता है। "साहित्य का सत्य कल्पना को बिल्कुल नहीं छोड़ देता, वह यथार्थ के आधार पर जितना ही दृढ़ होता है, उतना ही गहराइयों तक पहुँचता है[1]।"

कल्पना भी दो प्रकार की होती है। एक तो कोरी कल्पना जो माथा-पच्ची करके की जाती है जिसका न तो समाज पर सीधा और न परोक्ष ही प्रभाव पड़ता है, और दूसरी प्रकार की कल्पना वह है जो यथार्थ को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने के लिए कुछ ताने-बाने की व्यवस्था भी करती है।

साहित्य में यथार्थवाद जीवन का वह वास्तविक चित्रण है जो समाज का पूर्ण जीवन्त चित्र उपस्थित कर देता है। प्रत्येक युग में वास्तविकता को ढूँढ़ना ही साहित्य में सच्चा यथार्थवाद है। निष्पक्ष भाव से समाज के सम्बन्धों को ठीक तरह से देखना ही यथार्थवाद का कार्य है। हम समाज में यह यथार्थ

१. डा० रांगेय राघव (आलोचना १९५२)।

इसलिए ढूँढ़ते हैं कि हमारा विकास हो सके। 'गोर्की' का विश्वास था कि "निराशा और दासता के युगों को पार करते हुए, शोषक वर्ग द्वारा पैदा की गयी परिस्थितियों से लोहा लेते हुए, यदि जनता लोक साहित्य और कला की श्रेष्ठ परम्परा को आगे बढ़ा सकी और उसमें आश्चर्यजनक गहराई, कलात्मक रूप और ओज ला सकी तो इसका मुख्य कारण था, यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रौढ़ होती हुई शक्तियाँ। "सत्य का पुट ही लोक साहित्य को युग-युग तक सजीव रखता है। परन्तु यथार्थवादी साहित्य का केवल यही कार्य नहीं है कि वह जीवन की प्रगति का समर्थन ही करता चले। ऐसा करने में तो साहित्य साहित्य न रह जायगा बल्कि वह एक संग्रहालय बन कर ही रह जायगा।

यथार्थवादी साहित्य के अन्दर उन मोड़ों का सक्रिय उल्लेख मिलना आवश्यक है जिनके द्वारा समाज में परिवर्तन उपस्थित होता है। इसीलिए किसी जाति या समाज की यदि रहन सहन तथा उसकी सांस्कृतिक परम्परा जानना हो, तो हमें उसके साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। शाहजादी जेब्बुन्निसा ने भी एक स्थल पर कहा है कि यदि तुम मुझे देखना चाहते हो तो मुझे मेरी शायरी में देखो। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार "रस वस्तु और तथ्यवस्तु का एक धर्म और एक मूल्य नहीं होता। तथ्यजगत की जो आलोक-रश्मि दीवार पर आकर रुक जाती है, रस जगत में वह रश्मि स्थूल को भेद कर अनायास ही पार हो जाती है। उसे न तो किसी राज्य को बुलाना पड़ता है, न सेंध मारनी पड़ती है[1]। "साहित्यकार भाषा के माध्यम से कल्पित सत्य को जब अपनी तीव्रतम अनुभूति के द्वारा व्यक्त करता है तो उससे साहित्यिक सत्य की सृष्टि होती है।

"जिस ज्ञान-राज्य में हमारा मन विचरण करता है, उसका रूप दोरुखा है। उसका एक रुख है 'तथ्य' और दूसरा 'सत्य'। जैसा कुछ है वैसा ही होना तो हुआ तथ्य, और यह तथ्य जिस वस्तु के अवलंबन पर रहता है वह हुआ सत्य[2]।" इस प्रकार साहित्य के अन्दर जिन परिस्थितियों, समस्याओं तथा घटनाओं का लेखा-जोखा चित्रित रहता है, उसे हम तथ्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं और लेखा-जोखा के अतिरिक्त वे परिस्थितियाँ, समस्याएँ तथा घटनाएँ ही सत्य के नाम से अभिहित की जा सकती हैं। "साहित्य और ललित कला का काम है 'प्रकाश करना' इसलिए तथ्य के पात्र को आश्रय करके हमारे

१ रवीन्द्रनाथ ठाकुर (रवीन्द्र साहित्य भाग २४- साहित्य के पथ पर, अनु० हंसकुमार तिवारी पृ० ४८)।

२ रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

मन को सत्य का स्वाद देना ही उसका मुख्य काम है। यह स्वाद है 'एक' का स्वाद, असीम का स्वाद [1]।"

यथार्थवाद का वास्तविक स्वरूप

सच्चा यथार्थवाद मानव एवं समाज को एक इकाई के रूप में देखता है। वह उसके एक या कुछ अंगों को ही सामने नहीं लाता। यथार्थवाद की अपनी तीन प्रमुख सीमाएँ हैं (१) सम्पूर्णता (२) स्वतन्त्र जीवन-चित्रण (२) मानव सम्बन्ध। यथार्थवादी साहित्य के अन्दर उन तत्त्वों को पूर्णरूप से बहिष्कृत किया गया है जो मानव व्यक्तित्व को पूर्ण बनने में बाधक होती हैं। ऐसी परिस्थितियों तथा वस्तु-विन्यासों का तिरस्कार किया गया है जिसका निर्माण मनुष्य अपनी क्षणिक मनोदशाओं के बीच कर लेता है। उन्नीसवीं सदी के यथार्थवादी साहित्य के अन्दर इन्हीं उपर्युक्त मनोवृत्तियों से संघर्ष करने वाली प्रवृत्तियों को स्थान दिया जाता था। बहुत पहले इन प्रवृत्तियों को प्रयुक्त किया गया था। 'बालजक' ने पूर्व में ही इसे देख लिया और उन्होंने सभी समस्याओं का चित्र खींच डाला है।

रहस्यवाद के जो बादल एक बार साहित्य गगन पर अपनी कविता की रंगीनियों के साथ सम्पूर्ण दृश्यों पर मँडराये जिससे एक मनोमय वातावरण सर्वत्र फैल गया, अब विलीन हो गये हैं। आज का आकाश उन रहस्यमय वातावरणों से निर्मल हो चुका है और उसके स्थान पर भौतिक तत्त्वों की प्रतिष्ठापना हो चली है जो मार्क्स के उपदेशों से ओतप्रोत है। रहस्य के स्थान पर स्पष्ट और अत्यन्त तीव्र प्रकाश जो कुछ लोगों के लिए दुष्कर तथा कठोर प्रतीत हो रहा है, मार्क्स के प्रभाव से भासित है। 'मार्क्स' प्रत्येक वस्तु का भौतिक आधार स्वीकार करता है। उसके अनुसार संसार की सभी क्रियाओं के मूल में आर्थिक तत्त्व है। इसी तत्त्व के कारण ही वह संसार में विकास-क्रम तथा अन्य मानवीय क्रियाओं का होना स्वीकार करता है। यथार्थवाद अवास्तविक वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक रचनाओं का मध्य मार्ग नहीं है, और न तो वह वास्तविक वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक रचनाओं का विरोधी ही है। मिथ्यावादी समस्याओं का हल यथार्थवाद अपने ढंग से उपस्थित करता है।

कोई भी लेखक न तो सच्चा यथार्थवादी हो सकता है और न महान साहित्यकार ही हो सकता है, यदि वह अपने चरित्रों के विकास को अपनी इच्छाओं

१. वही, पृष्ठ ४३

के अनुसार चित्रित करता है। यह सब केवल वर्णन-व्यवस्था है। मूल वस्तु तो यह है कि रचनाकार की नीयत क्या है, वह रचना किस लिये करना चाहता है, अमुक-अमुक दृष्टियों से यथार्थवाद का दर्शन करके वह करना क्या चाहता है ? परन्तु लेखक की इस दृष्टि से भी हमें किसी प्रकार का प्रकाश नहीं मिल सकता, बल्कि इसके आगे हम जानना चाहेंगे कि लेखक कौन-सी वस्तु देखता है और किस प्रकार देखता है। यहीं पर कला के सामने समाज की रूपरेखा निश्चित करने की महत्वपूर्ण समस्या उपस्थित होती है।

लेखक की सामाजिक स्थिति के कारण भी उसकी रचना में अन्तर पड़ता है। लेखक जिस समाज में रहता है, यदि उसके संघर्षों में भाग लेता है, तो ऐसी अवस्था में की गयी रचना और यदि वह घटनाओं का केवल तटस्थ रहकर निरीक्षण ही करता है तो ऐसी अवस्था में की गयी रचनाओं में मौलिक अन्तर होगा। एक रचना में अनुभव निहित होगा और दूसरी में केवल रूप निर्माण का प्रयत्न। कौन लेखक समाज में अंग स्वरूप है और कौन तटस्थ निरीक्षक इसका निर्णय केवल उसके शारीरिक सहयोग से ही नहीं किया जा सकता और न तो इस आधार पर ही किया जा सकता है कि वह किस विशिष्ट समुदाय का है। क्योंकि प्राय. कार्यों के आधार पर ही समुदायों का निर्माण होता है। इसका निर्णय केवल लेखक की विकास दिशाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। बहुत से लेखक ऐसे हुए हैं जो समाज के सघर्षों को कोसते रहे पर अन्त में समाज की प्रस्तुत माग को ठुकरा न सके और उन लेखकों को समयानुकूल सक्रिय भाग भी लेना पड़ा। 'ज़ोला', जो स्वभाव से ही कार्य में विश्वास करने वाला लेखक था, परन्तु सक्रिय भाग न लेकर तटस्थ निरीक्षक ही बना रहा और जब उसने जीवन की आवश्यकताओं की ओर आँख उठायी तो समय निकल चुका था जिससे उसके विचार विलम्ब से उसकी रचनाओं में विकसित हुए।

यथार्थवाद के अन्दर युग तथा जन समूह की सच्ची भावना होती है। जो साहित्यकार इस भावना का यथार्थ चित्र अपनी रचना द्वारा प्रस्तुत करने में सफल होता है, वही युग का महान् लेखक बन बैठता है। लेनिन ने इसी आधार पर 'टालस्टाय' को युग का महान् लेखक माना है जब कि प्रगतिवादी श्रमिकों के प्रतिनिधियों का यह कहना है कि 'यद्यपि टालस्टाय ने यह नहीं समझा कि सामाजिक व्यवस्था का सुधार किस प्रकार होगा और वह इस प्रश्न की ओर से उदासीन ही रहा, फिर भी उसने यह अनुभव किया था कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था अमान्य है जिसे सहन नहीं किया जा

सकता।' इसी भावना की अनुभूति के कारण वे भी टालस्टाय को महान् कलाकार के रूप में स्वीकार करते हैं, जब कि उनकी दृष्टि से महान् कलाकार वही है जो अपनी रचना द्वारा वर्तमान सामाजिक दुर्व्यवस्था के सुधार की योजना प्रस्तुत करता है।

यथार्थवाद न तो इतिहास है कि वह किसी भी घटना की सूची तैयार करता चले, न तो वह कैमरा है जो वस्तु उसके सामने जिस रूप में आये उसका हू बहू चित्र उपस्थित कर दे, न तो अजायब घर है कि दुनियाँ भर की तमाम चीजो को कागज के पन्नों पर संग्रहीत कर दे और न तो उसने मानव की जुगुप्सित तथा विलासी प्रवृत्तियो को सन्तुष्ट करने के लिए अज्ञेय एवं गोपनीय जघन्य स्थलों तथा घटनाओ को उपस्थित करने का ही बीड़ा उठा रखा है।

यथार्थवाद का एकमात्र लक्ष्य वस्तुजगत की स्थितियों को समक्ष रखते हुए, सुन्दर से सुन्दरतर स्थितियों की ओर समाज को उन्मुख कराना है। यही कारण है कि 'रवीन्द्र', 'शरत्', 'प्रेमचन्द्र' आदर्शवादी दृष्टि रखते हुए भी जनता के हृदय को स्पर्श करने में सफल हुए। वे अपने युग की समस्याओं और संघर्षों के तटस्थ दर्शक ही नहीं थे, बल्कि इनकी सहानुभूति जनता के व्यापक संघर्ष, वेदना और पीड़ा के प्रति भी थी। इतना अवश्य है कि उनके यथार्थवाद की उनकी सीमाएँ है।

अब परिस्थितियाँ बदल गयी है। राष्ट्रीय आन्दोलन का अब व्यापक रूप विघटित हो चुका है। उसका बुर्जुआ अर्थात् शोषक पक्ष समझौता वादी बनकर जनहितो से अपना अंचल खींच चुका है, और जन पक्ष की शक्तियाँ अभी संयुक्त होकर एक ऐसे महान राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म नहीं दे पायी है जो देश के समूचे वातावरण को बदल दे। अब लेखक को सहज ही इतिहास की उभड़ती हुई शक्तियो को देखना होगा और ऐसे पात्रों की सृष्टि करनी होगी जो कि युग की वास्तविकता का सच्चे रूप में प्रतिनिधित्व कर सकें, ताकि लेखक साहित्य मे एक नयी उदात्त मानववादी नैतिकता का स्वर भर सके। लेखक के सामने यथार्थ और साहित्य की आज यही एक प्रमुख समस्या है।

यथार्थवाद की विशेषताएँ

यथार्थवाद का लक्ष्य निस्सन्देह समाज की कुप्रथाओं की ओर ध्यान आकर्षित करने का है। समाज की कुप्रथाओं की ओर उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव

है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं अधिक काला दिखलायें जितना कि वह वास्तव में है। ऐसा करने में जब लेखक मर्यादाओं का उल्लंघन कर बैठता है, तो ऐसी दुर्बलताओं का चित्रण शिष्टता की सीमा के प्रतिकूल तथा आपत्तिजनक हो जाता है।

परिभाषा द्वारा किसी साहित्यिक तत्त्व को समझने तथा उसके एक निश्चित रूप को स्थिर करने के प्रयास में प्राय: असफलता ही मिलती है, तो भी यथार्थ की वास्तविकता को समझाने का अनेक विद्वानो ने प्रयत्न किया है। एक सहृदय विद्वान के अनुसार "यथार्थता कुछ नहीं, केवल कथा वस्तु का सत्यपूर्ण वर्णन् है।" यथार्थवाद की सच्ची परिभाषा नहीं हो सकती। 'इमर्सन' ने यथार्थ को दृष्टि में रखते हुए कथावस्तु के सम्बन्ध में कहा है कि 'मुझे महान्, दूरस्थ और काल्पनिक नहीं चाहिये, मैं साधारण का आलिंगन करता हूँ, मैं सुपरिचित और निम्न के चरण में बैठता हूँ।' देश काल के अन्तर पड़ने पर मनुष्य की व्यवस्थाओं में भी अन्तर पड़ जाता है। मानव की प्रस्तुत स्थिति एक ओर, जिसकी भी यथार्थ स्थिति है, तथा भविष्य में वर्गहीन समाज की स्थापना की इच्छा, दूसरी ओर अपनी अलग यथार्थ स्थिति रखती है। वास्तव में यही दो स्थितियों के अन्तर (गैप) को पाटना यथार्थवाद की सबसे बड़ी विशेषता है।

वास्तविकता परिवर्तनशील है। जो कल था, वह आज नहीं रहा। जो आज है। वह कल नहीं रहेगा। परिवर्तन ही एक शाश्वत सत्य है। यथार्थवादी कलाकार की प्रतिभा की उर्वरता इसी में है, कि वह इस शाश्वत सत्य को पहचाने, तथा समाज में परिवर्तन लाने वाले उन तत्त्वों को अपने साहित्य में चित्रित करे। "जो अपनी उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है, वह असत्य है, और जो उभर रहा है, वही सत्य है[1]।" "यथार्थवादी साहित्य किसी पिटीपिटायी सड़क पर चलकर, अपनी नियामक शक्ति का जलवा नहीं दिखाना चाहता। वह बहुत ही स्थूल, एक दम एकांगी और असचेष्ट होगा। उसके लिये बंधन इतना ही लगाया जा सकता है कि वह सामाजिक हो और सामान्य अनुभूतियों के मेल में यथार्थ का अंकन करे[2]।"

यथार्थवादी साहित्य के कला-पक्ष को लेकर प्राय लोगों में भ्रम रहता है, कि यथार्थ-चित्रण के क्षेत्र में कला अपना कोई स्थान नहीं रखती। पर सच तो

१—शिवदान सिंह चौहान—'आलोचना, सम्पादकीय टिप्पणी १९५२ ई०।
२—प्रो० विजय शंकर मल्ल—'हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद।

यह है कि कला के अभाव में यथार्थवादी साहित्य की सृष्टि ही नहीं की जा सकती। "प्रतिभा के अभाव में यथार्थवाद की सृष्टि असम्भव है तथा कलाकी अनुपस्थिति तो और भी अखर जाती है। यथार्थवाद उस मलिन पथ पर अन्धे की दौड़ नहीं जो कीचड़ों के बीच से होकर जाता है, यथार्थवाद गन्दे-रहस्यों, प्रत्येक भाषा के लिए विचारहीन प्रसन्न करने वाले शब्दों के बदले प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द नहीं यथार्थवाद साहित्य को कारागार से कला की हथकड़ियों से मुक्ति की कामना करने वाला विधान सभा का विरोधी सदस्य नहीं, सिद्धान्तों अथवा मतों को रंजकता प्रदान करने के लिए प्रयोग में आने वाला शब्द नहीं और न तो यथार्थवाद रचना-वर्द्धन के लिए जोड़ी जाने वाली विशेषताओं के बदले प्रयुक्त होने वाली ही कोई वस्तु है, बल्कि वह इन्ही गुणों की मनुष्य कृत सृष्टि है[1]।"

कलाकार मशीन नहीं और न वह कभी मशीन रहा है। कलाकार की देन रचनात्मक होती है। वह रचना करता है और वह रचना अपने जीवन के भौतिक तत्वों के साथ करता है। यदि उसने रचना अपने लिए की तो उसकी रचना का हमारे लिए कोई महत्व नहीं। कलाकार यदि अपनी कृति कला के रूप में स्थायी रखना चाहता है तो उसे अपने और पाठकों के बीच में सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए भावों के आदान-प्रदान का पुल बनाना पड़ेगा। यथार्थवादी रचना धरातल पर और धरातल के लिए ही होती है, वायवी तथा आकाश-कुसुमों के लिए नहीं। यथार्थ का अभिप्राय यह भी नहीं कि उसका सम्बन्ध नियमत. सत्य से ही हो, बल्कि वस्तुजगत सम्बन्धी सत्यों का परिष्कृत रूप ही यथार्थवाद का वास्तविक स्तर है।

आजकल के अधिकांश यथार्थवादी लेखकों की दृष्टि विश्व के सम्पूर्ण परिवर्तन-क्रम की ओर रहती है। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति किसी वर्ग की ही केवल उत्पत्ति नहीं है, बल्कि वह समाजवादी समाज की भी इकाई है।

---

1. Realism is no excuse for a lack of talent, realism is not an apology for an absence of technique realism is not a grubling mediocre moles run through the mud realism is not the substitution of bagoo of idiotic, thoughtless political slaptrap for all the language realism is not the 'leftist" imprisonment of art in manacles, a substitution of dogma g r taste of vines realism is not a substitution of addtion for creativity but rather the hand maiden of these qualities." Haward Fast. Literature and Reality'.

दूसरा अध्याय

यथार्थवाद के उदय और विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आधुनिक साहित्य में यथार्थवाद जिन अर्थों में प्रयुक्त किया जा रहा है वह एकमात्र पाश्चात्य साहित्य की देन है। समाज से साहित्य और साहित्य से समाज के प्रभावित होने के कारण जब कभी दोनों में से एक की अवस्थाओं में परिवर्तन होता है तो एक का पभाव अनिवार्य रूप से दूसरे पर पड़ ही जाता है। १९ वीं और २० वीं शताब्दी के मध्य में यूरोप के अन्दर सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों में अनेक मोड़ उपस्थित हुए जिनके परिणामस्वरूप साहित्य की विचारधाराओं में अनेक प्रकार के परिवर्तन आये। युग की आवश्यकताओं ने ही साहित्य में यथार्थवाद को जन्म दिया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसके पूर्व साहित्य में यथार्थ था ही नहीं? यथार्थ तो साहित्य का प्राण है। बिना शाश्वत् सत्य की अभिव्यक्ति के साहित्य चिरजीवी हो ही नहीं सकता। यथार्थ के अभाव में जिस साहित्य का निर्माण होगा, वह मरणोन्मुख तथा अस्थायी ही होगा, परन्तु यह 'यथार्थवाद' नहीं था, जिसका रूप हमारे सामने आज है।

१९ वीं शताब्दी में विश्व-साहित्य धीरे-धीरे मानव की दैनिक समस्याओं, उसके वास्तविक जीवन तथा एक विशेष विकासशील दिशा के निकट आया जिसका निर्माण पश्चिमी यूरप के ऐतिहासिक यथार्थवाद के द्वारा हुआ। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से समाज के विकास की जो रूपरेखा बनी उसने पढ़े लिखे लोगों की महत्वाकांक्षा, साहित्य और उनके समय की जनता में विग्रह उत्पन्न कर दिया। इस काल में वही लेखक महान् बन सकता था जो नवीनतम् समस्याएँ लेकर दैनिक जीवन को चित्रित करता। इसके अतिरिक्त अन्य नूतन ज्ञान-विज्ञानों का प्रभाव भी मानव जीवन पर पड़ा जिससे जीवन को यथार्थ रूप में देखने की दृष्टियों में भी भेद आये। साहित्य के इस यथार्थ रूप को निश्चित करने में इन वाह्य प्रभावों का भी महत्वपूर्ण योग है।

वाह्य प्रभाव (डार्विन का जीव विज्ञान)

भौतिकवादी दृष्टियों को प्रामाणिक रूप देने के लिए तीन स्रोतों से सहायता ली गयी (१) जीव विज्ञान (२) मनोविज्ञान (३) और शरीर विज्ञान। मानव

जीवन के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में की हुई डार्विन द्वारा खोज का मनुष्य को देखने के दृष्टिकोणों पर अत्याधिक प्रभाव पड़ा। डार्विन के अनुसार "आरम्भिक अवस्था से सभ्यता के अन्तिम रूप तक जीवों का विकास भौतिक-शक्तियों के प्रभाव के कारण सूक्ष्म जीवाणुओं से हुआ।" उसने स्वीकार किया है कि मनुष्य आरम्भ में जल जन्तु था जो लहरों के द्वारा समुद्र के किनारे फेंक दिया गया और धरातल के ठंडे होने के साथ साथ उसपर फैलता और विकसित होता गया। मनुष्य जिस रूप में आज है वैसा ही या उससे अच्छा आरम्भ में नहीं था वरंकि उसका जन्म कीटाणु रूप में हुआ और अनेक परिवर्तन के बाद वह अपने इस मनुष्य रूप को प्राप्त कर सका है। यद्यपि मानव-विकास के सम्बन्ध में विकासवाद का यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है, फिर भी इसका एक महत्वपूर्ण स्थान है।

जहाँतक हिन्दू धर्म का प्रश्न है, वह स्वभाव से ही आदर्शवादी होते हुए भी संसार के सब धर्मों से अधिक वैज्ञानिक है। इसकी जानकारी हम इसके अन्दर निहित सांकेतिक दृष्टियों को पकड़कर कर सकते हैं। पुराणों के अन्दर अवतारवाद की कल्पना बड़े ही मनोरंजक ढंग से की गयी है। जहाँ एक ओर भगवान के परिस्थितिजन्य नाना अवतारों की कल्पना करके भक्तों की भावना में आस्था दृढ़ करने की सफल योजना की गयी है, वहीं उसका दूसरा वैज्ञानिक रूप (पक्ष) भी हम ले सकते हैं। कच्छप, वाराह, नरसिंह, वावन आदि अवतारों की कल्पना स्पष्ट कर देती है कि किस प्रकार मनुष्य आरम्भ में जलजन्तु रहा, पुनः धरती का जीव बना और उसके पश्चात् जो उसमें परिवर्तन आया तो उसमें उसने जन्तु तथा मानव दोनों का संयुक्त रूप धारण किया और तब कहीं जाकर वह वावन अंगुल का आदमी बन पाया।

इस विकासवाद के सिद्धांत के द्वारा जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ उसने मनुष्यों को प्रकृति के निकट ला दिया और उसने अपने आसपास की वस्तुओं से अपने सम्बन्ध ढूँढ़ निकाले। यह विज्ञान मानव जीवन और पशु जीवन में अभेद स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इसने अपने चमत्कार कई दिशाओं में दिखलाये। जितने भी जीव-जन्तु रहे, सबकी वैज्ञानिक दृष्टि से परख हुई और यहाँ तक कि पेड़-पौधों तक की वैज्ञानिक छानबीन सफलता-पूर्वक की गयी। इस प्रकार मनुष्य का क्या सम्बन्ध पशुओं से है, आदि सभी अध्ययन के विषय बने। इन आधुनिक सिद्धान्तों का साहित्य पर अविलंब प्रभाव पड़ा और मनुष्य ने अज्ञात आदर्शों के अतिरिक्त अपने पैर के नीचे की धरती को भी देखना आरम्भ किया। इस सिद्धांत को लक्ष्य

करके लिखे जाने वाले साहित्य को 'प्रकृतवाद' के अन्दर स्वीकार किया जाता है।

"स्थूल रूप से 'प्रकृतवादी' रचनाएँ उन्हें कहा जाता था जो प्रकृति-प्रेम का वर्णन करती हों। सामान्यत प्रकृतवाद के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती थीं जो प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क रखने की चेष्टा करके 'यथार्थवाद' का रूप प्रस्तुत करती हो। विशेष रूप से 'प्रकृतवाद' उन्नीसवीं सदी के उन कलाकारों द्वारा प्रतिपादित मत है जो मानव को प्रकृतिरूप में अंकित करना चाहते थे— मानववादी अथवा धार्मिक रूप में नहीं[१]" 'ज़ोला' ने इसे लेकर नये प्रयोग किये, परन्तु वे प्रयोग के लिए किये गये थे। उसने जीव-विज्ञान के आधार पर मनुष्य की गहन-रहस्यमयी अन्तर-वृत्तियों का लेखा-जोखा लिया और इस प्रकार एक नये 'प्रकृतवादी' (नेचुरलिस्ट) स्कूल की स्थापना की। जोला एक समाधान देने का उद्योग करते हैं। श्रमिकों के उद्वेगपूर्ण जीवन से परिचय प्राप्त करके वे 'प्रकृतवाद' के आधार पर समस्या को सुलझाने का प्रयास करते हैं। परन्तु हम सबको पता है कि जटिल एवं अव्यवस्थित सामाजिक समस्याओं को हल करने में कुछ विशेष सफल नहीं हुए[२]।"

फ्रायड का मनोविश्लेषण

फ्रायड के अनुसार मानव की वाह्य परिस्थियो का वास्तविक ज्ञान कर लेना ही पूर्ण वास्तविक ज्ञान नहीं है। वह मनुष्य के अन्दर काम भावना का प्राधान्य मानता है जिसके द्वारा मनुष्य के अधिकाश कार्यों की दिशा निश्चित होती रहती है। मनुष्य के अवचेतन मन में पड़ी दमित काम वासनाओं के ऊपर मनुष्य के गुण-दोष की विवेचक शक्ति का नियन्त्रण रहता है जिससे समाज की मर्यादा का निर्वाह होता है। परन्तु अवसर पाकर मनुष्य की कामवृत्ति प्रतिबन्ध तोड़ कर हिंसक पशु की भाँति अपना शिकार ढूँढ़ने के लिए बाहर आ जाती है। 'कभी कभी जब अवचेतन मन की इच्छा को रोकने में विवेचक शक्ति असमर्थ हो जाती है तो अवचेतन मन की इच्छा प्रकट होकर चेतनता का रूप धारण कर लेती है। और जब लगातार अन्तरमन की इच्छाओं का विवेक द्वारा दमन किया जाता है, तो उनकी स्वाभाविक धारा का विपरीत प्रभाव चेतन मन पर वैसा ही पड़ता है जैसे बहती सरिता को बाँध देने पर

१　अजीत कुमार (आलोचना—उपन्यास अक पृष्ठ २७)

२　वही पृष्ठ २१।

उसकी लौटती हुई धारा का[१]।' जिसका परिणाम होता है कि मनुष्य के जीवन में बहुत सी ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं और मनुष्य के जीवन में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते है। इन ग्रन्थियो के लिए हल प्रस्तुत करने वाले जिस साहित्य की सृष्टि की जाती है, उस प्रणाली विशेष को मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली कहते हैं। 'यह वर्ग अपनी संस्कृति और सभ्यता के रोगों का निदान समाज की नाडी देखकर नहीं करता बल्कि व्यक्ति विशेष के अन्तर्मन के द्वारा एक्सरे कर अपना नुस्खा पेश करता है। इस पद्धति के अनुसार व्यक्ति के सारे कष्ट, अप्रसन्नता, निराशा, मलीनता आदि किसी न किसी कुण्ठा के कारण उत्पन्न होते हैं। ये कुण्ठाएँ व्यक्ति के अचेतन मन में अव्यक्त रूप से छिपी रहती है। जब कोई 'न्यूरोटिक' चरित्र अपनी कुण्ठाओं का रहस्योद्घाटन कर लेता है तब वह रोगोन्मुक्त हो जाता है[२]।' इस प्रकार यथार्थ चित्रण के लिए मानव मन के अन्तर्तम में चलने वाली वृत्तियों का तद्वत् चित्रण करना अति आवश्यक हो जाता है।

मार्क्स का अर्थ विज्ञान

मार्क्स और फ्रायड के साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में मौलिक भेद उपस्थित हुआ। मार्क्स के बढ़ते हुए प्रभावों ने साहित्य के ऊपर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला और उसके सिद्धान्तो को लेकर साहित्यकारों का एक वर्ग ही उठ खड़ा हुआ जिसने मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार साहित्य के माध्यम से करना अपना प्रधान लक्ष्य बनाया। मार्क्स साहित्य का आधार आर्थिक मानता है। मार्क्सवाद के अनुसार भौतिक शक्तियाँ मनुष्य को परिवर्तित कर सकती है, किन्तु यह भी इसका दृढ़ विचार है कि मनुष्य ही वास्तव में भौतिक शक्तियों को प्रभावित

१—Some times, however, he is unable completely to bar the way and the unconscious desire succeeds in making its way up and appearing in the conscious." Unconscious desire which suffer from continuous repres-ion by the censor, finding their natural channel of pres-ion in the conscious obstructed, are turned back upon themselves and like a river which has been dammed, form a bind of swamp in the unconscious which is called a complex,"

C. E. M. JOAD Guide to Modern thought, p. 205

२—बचन सिंह (आलोचना-उपन्यास अंक पृ० १३१)

करता है और इस प्रकार अपने को भी परिवर्तित करता है[1]।' परन्तु मार्क्स ने जिस मानव की कल्पना की है वह अत्यन्त सामाजिक है। 'अपने को स्वयं की परिधि में पूर्ण समझने वाला एकान्त और वैयक्तिक विचारों और उपाधियों के आवरण से ढँका मनुष्य मार्क्सवादी विचारक और साहित्य का अपेक्षित विषय नहीं होता[२]।' 'मार्क्स' समाज मे दो प्रकार के वर्ग मानता है, एक सर्वहारा वर्ग और दूसरा शोषक वर्ग। इन्हीं सर्वहारा वर्ग की समस्याओं के समर्थन में लिखे गये साहित्य को यथार्थवादी साहित्य के रूप में स्वीकार करता है जिसके अन्दर उनकी समस्याओं, कठिनाइयों एव परिस्थितियो का वास्तविक चित्र हो जिसे समाजवादी यथार्थवाद का रूप दिया गया।

यूरोप के यथार्थवादी उपन्यासों का प्रभाव

सोशलिस्टिक ियलिज्म

हिन्दी साहित्य की आधुनिक प्रमुख विचार धाराओं पर यूरोपीय साहित्य का अत्यधिक प्रभाव है। भारत में अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी शिक्षा के बढ़ते हुए महत्व के कारण हिन्दी के साहित्यकार यूरोपीय साहित्य के सम्पर्क में आये। जर्मनी में सर्वप्रथम 'गेटे' ने मध्यवर्ग के परिवार के नायक को सामाजिक पृष्ठिभूमि पर लाकर खड़ा किया। गेटे के बाद यह विचार-धारा फ्रान्स की ओर मुड़ी जो ब्रिटेन में जाकर स्काट के ऐतिहासिक उपन्यासों में बदल गयी। फ्रान्स के 'स्तादल' ने पूँजीपति वर्ग की ह्रासोन्मुखी दशाओं का वर्णन किया। इसके पश्चात् 'बाल्जाक' पहला व्यक्ति था जिसने नवीनतम समस्याओं को लेकर दैनिक जीवन को चित्रित करने के महत्व को परखा। 'फलाबेयर' ने साहित्यकारों से माँग की कि दैनिक जीवन के छोटे-छोटे एवं नगण्य चित्रो को कला के द्वारा साहित्य के उच्च स्तर पर चित्रित करें और उसने स्वयं तथा कथित उदात्त भावनाओं की झुठाई की पोल खोली।

'फलाबेयर' के समय में 'विक्टरहूगो' ने नये प्रयोग किये। 'पेरिस का कुबड़ा' तथा 'अभागे' नामक उपन्यासों में केवल उसने उपेक्षित तथा निम्नस्तर

1—Marxism places men in the centre of its philosophy, for while it claims that material forces may change man, it declares most emphatically that it is man who changes the material forces and that in the course of so doing he changes himself

Rolphox. Novel and the People

२—मोतीसिंह (आलोचना उपन्यास अक पृष्ठ २०३)

के पात्रों की हीन अवस्था का ही चित्रण नहीं किया, बल्कि मानवीय मर्यादा तथा आत्मगौरव की प्रवृत्तियों को भी उसने उभार कर सामने रखा। 'जोला' के नये प्रयोग केवल प्रयोग के लिए ही किये गये। उसकी दृष्टि 'प्रकृतवादी' थी। फ्रान्स के बाद यथार्थवादी साहित्य का सच्चा रूप रूस में जाकर प्रकट हुआ। 'बालजक' की सभी समस्याओं को रूस के 'टाल्स्टाय' ने और भी अच्छे ढंग से अपनाया [1]।" अस्तु, पूँजीवादी समाज के उस घोर साहित्यिक आपत्काल में आशा की जो पहली किरण फूटी, वह थी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूसी उपन्यास का उदय। 'तुर्गनेव', 'टाल्स्टाय' और 'डास्टाएव्सकी' ने जो यथार्थ देखा और अंकित किया, वह उनके "फ्रान्सीसी आचार्यों की अपेक्षा कई गुना अधिक सजीव, जीवन के अधिक निकट, अधिक सहज, अधिक स्पर्श और अधिक मार्मिक था [2]।" 'टाल्स्टाय' के यथार्थवाद में 'मनुष्य की शत-शत दुर्बलताओं, भूलों और भ्रान्तियों के बावजूद महामानव के भीतर निहित आत्मिक शक्तियों की विजय पर विश्वास पाया जाता है।"

गोर्की के उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की अवस्था का चित्रण हुआ। इस प्रकार उसके यथार्थवाद में वास्तविक चित्रण के साथ-साथ सामाजिक संघर्षों के भी चित्र मिलने लगे, जिन्होंने एक नयी सामाजिक क्रान्ति की रूप-रेखा स्पष्ट की और-धीरे धीरे 'मार्क्स' के सिद्धान्तों को प्रमुख स्थान मिला जिसका आधार समाज की आर्थिक व्यवस्था है।" उन रूसी उपन्यासकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने जारयुगीन दुर्दान्त शासन की आपदाओं के बीच भी 'सामूहिक मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास सम्बन्धी अपने सहज विश्वास को' कभी डिगने न दिया। इसी महान परम्परा में आगे चलकर गोर्की ने अपना महानतर योग दिया [3]।"

इसके साथ ही साथ सर्वहारा वर्ग की सत्ता स्थापित हो जाने पर हारे हुए पूँजीपति वर्ग के लोगों ने निराश होकर 'फ्रायड' के सिद्धान्तों की शरण ली तथा उन लोगों ने धीरे-धीरे पाशविक आदिम प्रवृत्तियों को अपनाना आरम्भ कर दिया।

विज्ञान के वरदान तथा विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण यूरोपीय साहित्य की ये आधुनिकतम प्रवृत्तियाँ अवसरानुकूल हिन्दी साहित्य

१—अजितकुमार (आलोचना-उपन्यास अंक, पृ० संख्या २१-२२)
२—इलाचन्द्र जोशी (आलोचना-११, विश्व उपन्यास का क्रमिक विकास और मन्तव्य)
३—अजितकुमार (आलोचना-उपन्यास अंक, पृ० २२)

के अन्दर भी अभिव्यक्त हुई। 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र ने यथार्थ की जिस प्रवृत्ति को अपने साहित्य में स्थान दिया, उसका आज तक निरन्तर विकास होता चला आ रहा है।

विज्ञान और यथार्थवाद का प्रादुर्भाव

उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने मानव-जीवन के ही नहीं, बल्कि प्रकृति के नाना क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। जितनी भी प्राचीन मान्यताएँ शुद्ध कल्पना के बल पर टिकी थीं, उन पर से लोगों का विश्वास डिगने लगा और इसने मानव समाज को एक ऐसे बिन्दु पर लाकर खड़ा कर दिया जहाँ वह किसी भी वस्तु को केवल इसलिए मानने को तैयार नहीं कि वह हमारे लिए मान्य अथवा अनुकरणीय है, क्योंकि वेदों द्वारा उसे मान्यता प्राप्त है। किसी वस्तु को मान लेने के पूर्व वह उसकी सम्भावनाओं की ओर देखने लगा। यहाँ पर आकर मानव जीवन के पुराने आदर्शों में आमूल परिवर्तन हुआ। एक सुनिश्चित आदर्श विकास के लिए आरम्भ में ही नहीं मान लिया गया, बल्कि मानव समाज धीरे-धीरे अपने निचले स्तर से उठकर विकसित हुआ और आज का समाज उस विकास की चरम निष्पत्ति है, ऐसा माना जाने लगा। मुद्रण यंत्रों के आविष्कार ने गद्य साहित्य को प्रोत्साहन देकर तथा छापेखानों की सुविधाओं के कारण साहित्य को मनुष्यों के दैनिक जीवन के अत्यधिक निकट ला दिया।

आन्तरिक प्रेरणा

राष्ट्रीय आन्दोलन और गांधी का नेतृत्व

इसके पूर्व ही साहित्य का सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्त्व तो आँका जा चुका था, परन्तु भारत का सच्चा साधारण नागरिक साहित्य में उसी समय आया जब कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व गाधीजी के हाथों में आया। देश के अन्दर युग-जागरण तो आ गया था। बगाल में स्थापित ब्रह्म-समाज जैसी सामाजिक संस्थाओं से हमारे हिन्दी के साहित्यकार प्रेरणा तो ग्रहण कर रहे थे, परन्तु अबतक सच्चा किसान साहित्य में नहीं आ सका था। प्रेमचन्दजी ने जब अपना 'सेवासदन' लिखा तो उस समय तक गाधीजी का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में व्यापक नहीं हो पाया था। परन्तु उसके बाद ही हम देखते हैं कि प्रेमचन्दजी के साहित्य का रूप ही बदल गया।

गाधीजी के पूर्व कांग्रेस राष्ट्रीय विचार रखने वाले एक शिक्षित समाज की संस्था थी। उन्होंने पहली बार सात लाख गाँवों का नाम लिया और

लोगों को जनता के अन्दर छिपी हुई महान् शक्ति से परिचित कराया। सब ने जनता-जनार्दन को पहचाना। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी के बीच हुए पत्र व्यवहारों में, जिसमें गांधीजी ने 'टैगोर' की कवि-कल्पना द्वारा उद्भूत विचारों का उत्तर दिया था, स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि गाँधीजी ने देश की स्वतंतत्रा से अधिक महत्वपूर्ण देश की दरिद्रता एवं रोटी-कपड़े की समस्या को समझा। इस बीच लिखे जाने वाले साहित्य के अन्दर हमें वे सभी मोड़ मिल जायँगे जो गाँधीजी के प्रभाव से राष्ट्रीय आन्दोलन में आये थे।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् तक भारत की सम्पूर्ण जनता में भारी असन्तोष फैल चुका था। पूँजीपतियों के छोटे वर्ग के अतिरिक्त, जिसने युद्धकाल में धन कमाया था, शेष सारा भारत आर्थिक संकट और राजनीतिक निराशा में डूबा हुआ था। टर्की के अपमान से भारतीय मुसलमानों में भी अंग्रेजों के प्रति कटुता आ गयी थी। देश के अन्दर वातावरण तो तैयार हो चुका था, केवल जनवाणी को स्वर देना था। गान्धीजी के कांग्रेस में आने के पूर्व यह संस्था कुछ पढ़े लिखे मस्तिष्क वाले राष्ट्र भक्तों तक ही सीमित थी और वह जन साधारण की वस्तु नहीं हो पायी थी। सन् १९१४ में अफ्रीका से भारत लौट आने पर गांधीजी ने देश के किसानों और श्रमिकों की भलाई का ध्येय अपनाया तथा अपने आन्दोलन की दृढ़ नींव ही इनकी सामूहिक शक्ति पर खड़ी की। उन्होंने चम्पारन में किसानों के पक्ष में एक सफल आन्दोलन भी चलाया जिसकी सफलता ने पहली बार सर्वसाधारण की सामूहिक शक्ति को प्रकट किया।

अहमदाबाद के साबरमती स्थान पर उन्होंने किसानों और मजदूरों के बीच एक आश्रम खोला और वहीं से रौलट बिल के विरोध में सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने जनता को सत्याग्रह का पाठ सिखाने के लिए सम्पूर्ण देश में भ्रमण किया और जनता को उनके अन्दर छिपी हुई सोई अपार शक्ति से परिचित कराया। उन्होंने बताया कि सत्याग्रह समस्त देश के लिए आत्म-संयम और आत्मशुद्धि का कार्य है। जनता के अन्दर से अपने को हीन समझने वाली भावना धीरे-धीरे दूर होने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि थोड़े समय में ही विदेशी सरकार को उखाड़ फेकने के लिये ग्रामीणों की विशाल-वाहिनी, स्वाधीनता संग्राम में लगे हुए नेताओं के साथ प्राणों पर खेलने के लिए तैयार हो गयी। उसके अन्दर इतना साहस आ गया कि जब गांधीजी ने ६ अप्रैल को रौलट बिल के विरोध में हड़ताल और व्रत का दिन निश्चित किया तो जनता जुलूस बनाकर सरकार की निन्दा करती हुई आगे बढ़ी। यह पहला

आन्दोलन था जिसमें अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सभी साथ थे। जनता के अन्दर इतनी शक्ति और ओज आ गया था कि वह पुलिस के अत्याचारों का मुकाबला करने के लिए अहिंसक भी हो उठी। इसी के आसपास १३ अप्रैल १९१९ को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में अंग्रेजों ने निहत्थी भोलीभाली जनता पर सेना द्वारा घोर पाशविक अत्याचार करवाया जिसके फलस्वरूप दो हजार व्यक्ति घायल हुए और चार सौ वहीं मर गये। इस भीषण नर-संहार के पश्चात् गाधीजी ने असहयोग आन्दोलन की नीति को अपनाया। उदारवादी दल के लोग इसे उचित नहीं समझते थे, क्योंकि सुरेन्द्रनाथ के मतानुसार जनता पारस्परिक हिंसा और घृणा के कारण सहयोग कर रही थी।

गाधीजी ने सम्पूर्ण देश का समर्थन प्राप्त करके असहयोग आन्दोलन को आगे बढ़ाया। कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन में आन्दोलन पर जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, उसमें आन्दोलन के आरम्भ में सरकार को उन संस्थाओं का, जिनके द्वारा वह अपनी शक्ति का संगठन करती थी, बहिष्कार करने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया था, जिसमें उपाधियों का त्याग, स्थानीय संस्थाओं की सदस्यता से त्याग, सरकारी दरबारी उत्सवों में भाग न लेना, अंग्रेजी स्कूलों तथा विद्यालयों का बहिष्कार, प्रान्तों में राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना करना, वकीलों और न्यायाधीशों का अदालतों का बहिष्कार, पंचायतों की स्थापना, विदेशी नौकरियों का बहिष्कार, स्वदेशी प्रचार और विदेशी बहिष्कार आदि को कार्यान्वित करने की योजना बनायी गयी। इस योजना ने देश के गाँवों-गाँवों में राष्ट्रीय चेतना का ऐसा मंत्र फूँका कि सारा भारत उठ खड़ा हुआ।

राजनैतिक समस्याओं को हल करने के लिए मार्ग में जो सबसे बड़ी समस्या गाधीजी को दिखलायी दी, वह थी सामाजिक समस्या। सामाजिक अनाचार का एक भयावह रूप अछूत-समस्या लेकर सामने आता है। गांधीजी के हरिजन आन्दोलन ने देश के पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान इस सामाजिक कोढ़ की ओर खींचा। गांधीजी द्वारा उठायी गयी तत्कालीन सभी सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं की ओर उस युग के जागरूक साहित्यकारों की दृष्टि गयी। लगभग उसी समय हम प्रेमचन्द को 'कर्मभूमि' में अछूतों की समस्या को उठाते हुए पाते हैं। प्रेमचन्दजी की अमर कृति 'रंगभूमि' राष्ट्रीय जन-जागरण की ही देन है। हम देखते हैं कि जिस प्रकार गांधीजी का उद्देश्य जनमत तैयार करना था, वे जिस प्रकार सामाजिक विकास में विश्वास रखते थे, अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही जिस प्रकार क्रान्ति का होना सम्भव मानते थे

प्रत्येक को समान अवसर दिलाने की जिस प्रकार वकालत करते थे तथा उनका जैसा विश्वास था कि सामाजिक अथवा राजनैतिक व्यवस्था तब तक उन्नति के पथ नहीं बढ़ सकती, जब तक कि समाज के एक-एक व्यक्ति की व्यक्तिगत रूप से उन्नति नहीं की जाती, उसी प्रकार की समस्याएँ प्रेमचन्दजी के उपन्यासो में उठायी गयी हैं और समाधान भी गांधीजी के आदर्शों पर ही प्रस्तुत किया गया है। उनका अमर चरित्र 'सूरदास' तो गांधीजी के आदर्शों का मूर्तिमान चित्र है। आज जहाँ हरिजन आन्दोलन मंदिर-प्रवेश आन्दोलन तक ही सीमित रह जाता है, वहाँ प्रेमचन्द आगे बढ़कर चमारों के गाँव के आभ्यान्तरिक सुधार की तह की समस्या तक पहुँचते हैं।

इस युग से प्रभावित लेखकों द्वारा लिखे जाने वाले साहित्य के अन्दर मुख्यतः प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास मिल सकता है। शासन के अनाचार, जमीदारों की नृशंसता, सरकारी कर्मचारियों की धाँधली, जनता का जागरण, सत्याग्रह संग्राम तथा असहयोग आन्दोलन आदि सभी घटनाओं का वास्तविक चित्रण उनके उपन्यासों के अन्दर हुआ है। इस प्रकार महात्मा गांधी ने यथार्थ राष्ट्रीय साहित्य को महान प्रेरणा प्रदान की।

ग्रामीण जागरण

सत्याग्रह-संग्राम की सफलता तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के विकसित रूप ने जनता के अन्दर साहस का संचार किया। १९२३ और १९२४ ई० में उत्तर प्रदेश में पहला किसान आन्दोलन चला, परन्तु कांग्रेस ने उसे विशेष मान्यता नहीं दी। प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' में ही ग्रामीण प्रश्नों की ओर दृष्टि ले जा चुके थे और फिर 'कर्मभूमि' में उन्होंने गाँव को अपना विषय बनाया। 'गोदान' तक आते-आते ग्रामीण जागरण इतना बढ़ गया था कि 'धनियाँ' जैसी स्त्रियाँ दारोगा को भलि-भाँति फटकार सकती थीं और 'गोबर' ऐसे नवयुवक जमीदारों की पोल समझने लगे थे।

१९३०-३२ के आन्दोलन की जड़ें बड़ी शीघ्रता से दृढ़ होने लगीं। उनमें इतनी शक्ति आ गयी थी कि सरकार को समझौता करना पड़ा, परन्तु कुछ लोगों ने इस समझौते का विरोध इसलिए किया कि वह सरकार की शक्ति को कुंठित करने के लिए प्रलोभन था। इसकी प्रतिक्रिया हमें प्रेमचन्द के 'गोदान' में स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती है।

शिक्षित मध्यमवर्ग का उदय

भारत में शिक्षित मध्यवर्ग के उदय का कारण अंग्रेजी राज्य की सत्ता है। मुख्यत इसका उदय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। अंग्रेजी राज्य दृढ़ करने एवं आफिसों में कार्य करनेवाले बाबुओं को तैयार करने के लिए खोले गये स्कूल और कालेजों ने इसे उत्पन्न किया।

भारतवर्ष का मध्यमवर्ग सबसे अधिक चिंत्य वर्ग है। इसकी सारी कठिनाइयाँ इसकी कमजोरियों के कारण हैं। हिन्दी के प्रथम कहे जानेवाले उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में हमें इस वर्ग का चित्रण मिलता है और बराबर यह साहित्यकारो की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करता चला आ रहा है।

प्रजातन्त्र और समानता की भावना

विश्व के अन्दर प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था को मिलती हुई प्रमुखता ने व्यक्ति के सामाजिक स्तर संबंधी भेद-भाव को मिटाकर समानता की भावना का उदय किया। निचले से निचले स्तर का व्यक्ति भी श्रेष्ठतम पद प्राप्त करने की कल्पना कर सकता है जिसके परिणामस्वरूप साहित्य के अन्दर वर्ग अथवा व्यक्ति विशेष को ही स्थान न मिलकर, सभी जन सामान्य को स्थान मिलना अनिवार्य हो गया। आज का 'यथार्थवादी' साहित्य इसी सामाजिक मान्यता के आधार पर अपनी सृष्टि कर रहा है।



तीसरा अध्याय

उपन्यास का उदय और यथार्थवाद का विकास

श्रेष्ठ साहित्य युगधर्म तथा सामाजिक परिस्थितियों की देन होता है। देश-काल में भेद पड़ने के कारण सामाजिक परिस्थितियों में जो अन्तर पड़ता है, उसका अविलम्ब प्रभाव साहित्यिक रूप पर पड़ता है। साहित्य-धर्म की मान्यता तथा उसके रूप का निर्धारण युग के अनुसार हुआ करता है और उसके अन्दर भी युगानुकूल मोड़ आते रहते है। हमारा आधुनिक 'उपन्यास' साहित्य मानव की आधुनिक विषम परिस्थितियों की देन है। हिन्दी में उपन्यास शब्द बहुत पुराना नहीं है, बल्कि १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य सभ्यता और कथा साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण यह शब्द हिन्दी साहित्य में अपना स्वरूप लेकर आया। गद्य साहित्य की आशातीत उन्नति के कारण ही साहित्य के इस आधुनिकतम श्रेष्ठ रूप की सृष्टि आवश्यकताओ के अनुसार हो सकी।

योरोप के अन्दर वैज्ञानिक आन्दोलन ने एक नयी युगक्रान्ति उपस्थित कर दी और फलतः जमाने ने एक नयी करवट बदली। विज्ञान की आशातीत सफलताओं ने मनुष्यों के सोचने की दृष्टि में महान भेद उपस्थित कर दिया। विचारो में वह तार्किक एवं बुद्धिवादी हो चला। धीरे-धीरे अन्धविश्वासों पर टिकी हुई सभी पूर्व मान्यताएँ समय की पीठ के नीचे दबती गयी और पूर्व का भोला मानव सहज ही बुद्धि-अग्राह्य वस्तुओं को मानने में हिचकने लगा। छापेखानों के आविष्कार ने साहित्य को कानों से हटाकर आँखों के पास ला दिया और साहित्य जनजीवन के अत्यधिक निकट आया।

योरोप की औद्योगिक क्रान्ति का बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा। योरोपीय जीवन-परिवर्तन बड़ी ही द्रुतिगति से बढ़ने लगा जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा। जिस एक कार्य को सैकड़ों व्यक्ति मिलकर कठिनाई से कर सकते थे उसे मशीन सरलतापूर्वक अपेक्षाकृत थोड़े समय में और भी सुन्दर ढंग से करने लग गयी। थोड़े समय तक तो इससे व्यवस्था में विशेष बाधा नहीं आयी, परन्तु शीघ्र ही बेकारी की समस्या ने समाज को पूर्णतः झकझोर दिया। आवश्यकताओं में महान वृद्धि हो जाने के कारण परेशानी भी बढ़ी और सामाजिक जीवन अत्यन्त विषम एवं

जटिल हो गया। विज्ञान की वृद्धि ने जगत के विस्तार में संकोच कर दिया और प्रत्येक देश की विभाजक प्राकृतिक सीमाओं की कठिनाइयो को दूर कर पारस्परिक सबधों की स्थापना कर दी जिमसे औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव अन्य देशों पर पड़ा।

जगत और जीवन की अभिव्यक्ति अबतक जिन साहित्यिक रूपो द्वारा हो रही थी, वे जीवन की प्रस्तुत विषम परिस्थितियो को चित्रित करने में अपूर्ण जान पड़ने लगे। कवि गीतधर्मी होने के कारण व्यक्ति स्वातंत्र्य का उपासक होता है जिससे उसकी सृष्टि व्यक्तिगत अधिक होती है, समष्टिगत कम। इसके विपरीत उपन्यासकार वाह्य प्रभावो को अधिक ग्रहण करता है। कवि भावुकता से प्रेरित होने के कारण प्राय यह भूल बैठता है कि वह सामाजिक प्राणी है, परन्तु उपन्यासकार की स्थिति ऐसी नहीं होती। वह समाज में रहकर समसामयिक परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करता हुआ अपनी बुद्धि एव अनुभवों से पखार कर युग एवं समसामयिक समस्याओं का यथार्थ चित्र, समाज के लिए प्रस्तुत करता है। "ध्यान रखना चाहिये कि उत्तम कविता अपेक्षाकृत युग से पूर्व की सृष्टि होती है, क्योंकि अन्य साहित्यिक कलाओ की अपेक्षा इसमें वैयक्तिकता तथा भावुकता का स्पर्श अधिक होता है। हम अनुमान लगा सकते हैं कि कविता व्यक्ति के अन्तर्जगत से उद्भूत सहज भावों को एक विशेष ढग से व्यक्त करती है, परन्तु उपन्यास व्यक्ति को समाज के एक अंग के रूप में इस प्रकार चित्रित करता है जैसा कि वह समाज में रह कर अनुभव करता है। ऐसी कला जिसे उपन्यास कहते हैं, केवल समाज में ही उत्पन्न हो सकती है जहां आर्थिक विषमताएँ व्यक्ति को सोचने के लिए वाध्य करती हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति को समझना सरल होता है, और सोचने की इस दृष्टि का ही बड़ा ही महत्व है। इस प्रकार कविता स्वभावजन्य है तथा समाज की मिथ्यवादी परिस्थितियाँ उपन्यास को जन्म देती हैं[1]।"

गीतों के रूप में कविता उपन्यास से जितनी दूर है, महाकाव्य के रूप में उतनी नहीं। कविता के क्षेत्र में जो स्थान 'महाकाव्य' का है, गद्य के क्षेत्र में वही स्थान "उपन्यास का है। परन्तु यथार्थ जीवन की जैसी अभिव्यक्ति "उपन्यास" के अन्दर हो रही है, महाकाव्य के अन्दर सम्भव नहीं। अपनी कुछ निश्चित् सीमाओं के कारण महाकाव्य यथार्थवादी नहीं हो सकता। कवि को

1—'Remembering that novels is the sophestication of modern culture"
Christopher Caudwell "Illusion and reality" new ed 1946.

अपनी सृष्टि में काव्यगत नियमों का पालन करना पड़ता है, उसे अलंकार-मात्रा ठीक करने पड़ते हैं, सर्गों की व्यवस्था करनी पड़ती हैं, जिससे वह महाकाव्यों के अन्दर अपनी सच्ची अनुभूतियों को नहीं उतार पाता। 'उपन्यास' महाकाव्य की भाँति न तो महान् व्यक्तियों के महान् कार्यों को चित्रित करने के लिए बाध्य है, और न उसके ऊपर वे साहित्यिक प्रतिबंध ही हैं, जिससे उसके अन्दर उपन्यासकार को खुलकर प्रकट होने का अवसर मिलता है। "उपन्यास हमारे जीवन में प्रतिदिन घटनेवाली घटनाओं का साहित्यिक रूप है। "उपन्यास-कार की कल्पना के पत्र कवि-कल्पना की भाँति उन्मुक्त नहीं होते, उसके पैरों में यथार्थ का बन्धन होता है। उपन्यासकार की दिव्यदृष्टि रवि-रश्मियों से स्पर्द्धा नहीं करती, वह तो अपने जगत को ही, भली-भाँति देखकर संतुष्ट हो जाती है[1]।" महाकाव्य के अन्दर युग जीवन की अभिव्यक्ति तो होती है, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण तो उपन्यास में ही सम्भव हो सका, क्योंकि उपन्यासकार महाकाव्यकार की भाँति आदर्शवादी नहीं हुआ करता।

नाटक और छोटी कहानियाँ गीतों तथा महाकाव्यों की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट कही जा सकती हैं। परन्तु उपन्यासकार की-सी स्वतंत्रता नाटक-कार को नहीं रहती, उसकी अपनी कुछ काव्यगत सीमाएँ हैं, जिनका उसे पालन करना पड़ता है, जिससे उपन्यासकार बिल्कुल मुक्त है। नाटककार को काव्य-तत्त्वों के अतिरिक्त, रंगमंच के विधान तथा अभिनय आदि की कुशलता आदि पर भी अपनी सफलता को आश्रित रखना पड़ता है। निस्सन्देह नाटक-कार अपनी सीमाओं के कारण जो कुछ कहना चाहता है, उसे भी पूर्णरूपेण नहीं कह पाता, जिसकी पूर्ति कुशल अभिनेता अपने अभिनय के द्वारा करता है। उपन्यासकार को नाटककार की भांति सम्वाद आदि का बंधन नहीं रहता और जब कहीं उसके पात्र असमर्थ हो जाते हैं, वह स्वयं प्रकट होकर स्थिति स्पष्ट कर देता है। हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी चित्र समस्या के रूप में और भी स्पष्ट होकर आये, परन्तु उन्हें परम्परागत विकास के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, बल्कि निश्चित रूप से उनका मूल स्रोत 'बर्नार्ड शा' और 'इब्सन' के समस्या नाटक हैं। समस्यानाटक के अन्दर युग की नवीनतम समस्या ही उभड़ कर आती है, समाज के व्यापक चित्रों के लिए उनमें अवकाश नहीं।

जहाँ तक छोटी कहानियों का प्रश्न है, निश्चित ही उनमें यथार्थ जीवन का

१. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास पृ० ४।'

चित्रांश पाया जाता है। कहानी की सृष्टि जीवन के किसी एक अंग विशेष अथवा घटना विशेष को लेकर होती है। अतः इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है और जिस विशाल जीवन और जगत का यथार्थ चित्र उपस्थित करना उपन्यासो के लिए सम्भव हो सका है वैसा करना कहानियो के लिए सर्वथा असम्भव है। ठीक ऐसी ही स्थिति 'एकांकी' नाटकों की भी है। ये जीवन के अत्यधिक निकट तो लाये जा सके हैं, परन्तु उनसे व्यापक चित्रो की कामना करना निरी भूल होगी।

नवीन साहित्य-रूप की आवश्यकता और उपन्यास का आविर्भाव

परिस्थितियों में विषमता आ जाने के कारण कविताओ का साहित्य उपन्यासों और कहानियों की ओर उन्मुख हुआ तथा उपन्यास साहित्य को यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति के लिए सर्वोत्तम साधन के रूप में स्वीकार किया गया। "उपन्यास परिवर्तित सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थितियों की देन है। उपन्यासों के इतने अधिक प्रचार का कारण यह है, कि वह सर्वथा मानव जीवन से संबद्ध है। मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के विस्तारपूर्वक वर्णन का जितना अवकाश उपन्यासों में मिलता है, उतना अन्य किसी साहित्यिक अंगो में नहीं। इसी से स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने उपन्यास को जीवन का चित्र माना है। "मानव जीवन के विविध पक्षों का यथार्थ चित्र उपस्थित करने के लिए उपन्यास साहित्य का क्षेत्र अपेक्षाकृत अन्य साहित्यिक रूपों से अधिक उपयुक्त है।"

आधुनिक सामाजिक जटिलता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक नवीन साहित्य रूप की आवश्यकता अनुभव की जिसमें महाकाव्यों की-सी व्यापकता तो हो, किन्तु पद्य का बंधन न हो, इसलिए अधिक मुक्त तथा लचीले गद्य रूप उपन्यास की सृष्टि हुई। 'कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव-जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। गीत काव्यो के पुँजीभूत भाव सत्य, दुःखान्त नाटकों के चिरन्तन संघर्ष और करुण, गीति-कथाओं की गीत और प्रवहमानता, मुक्तकों का उक्ति वैचित्र्य और नीत-सत्य—इन सभी पुराने साहित्यिक रूपों की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया [1]।"

इस प्रकार उपन्यास के अन्दर समसामयिक राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थियों का यथार्थ एवं व्यापक चित्र उतारना सम्भव हो सका है।

---

१. आलोचना-सम्पादकीय 'उपन्यास अंक पृ० १'।

"कविता यथार्थवाद की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़ कर भी जी सकता है, पर उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थ प्राण है [1]। यथार्थवाद की अवतारणा जिस रूप में उपन्यास सहित्य के भीतर होनी चाहिये, अभी हो नही सकी है। बुद्धि और अनुभूति का, व्यक्ति स्वातंत्र्य और समाज-बोध का समन्वय उपन्यासकार की साधना का सबसे बड़ा सुख है। इसे जीवन और जगत के संवेदनीय स्पर्श से अभिव्यक्ति का वरदान मिला है। उपन्यास की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह है इसकी सहजता तथा सरलता। इसके अन्दर एक साधारण स्तर के व्यक्ति से लेकर समाज के उच्चतम श्रेणी के व्यक्तियों के लिए सामग्री मिल सकती है। महाकाव्य आदि के अन्दर की अनुभूतियाँ काव्यात्मकता के कारण कवि के लिए स्व संवेद्य बन कर रह जाती है, या उसे समझने के लिए पाठक को काव्यगत गुणो से परिचित होना चाहिये, किन्तु उपन्यास सदैव परसंवेद्य होता है और गम्भीर बातों को सरलतम ढंग से सामने प्रस्तुत करता है।

जीवन की आलोचना और यथार्थवाद का उदय

उपन्यास साहित्य का एक मात्र लक्ष्य यह नहीं है कि समाज का तद्वत् निर्जीव चित्र उतार दे, बल्कि उसकी चित्रकारिता सोदेश्य होती है। उपन्यास-कार को अपनी कृति में कुछ कहना रहता है, वर्तमान समाज की अच्छाइयों तथा बुराइयों को इस प्रकार प्रस्तुत करना रहता है कि हम स्पष्ट रूप से उसे पहचान सकें, समाज और व्यक्ति के पारस्परिक संबन्धों की व्याख्या करते हुए उन मार्गों को निर्देशित करना रहता है, जिन पर चलकर वह एक सुखमय जीवन की व्यवस्था कर सके। उपन्यासकार को विवश होकर व्यक्ति तथा समाज की आलोचना तथा प्रत्यालोचना करनी पड़ती है।

समाज को तो उसकी परम्पराओं तथा वाह्य प्रभावों से जाना जा सकता है। परन्तु व्यक्ति को सम्पूर्ण रूप से समझने के लिए उसकी वाह्य स्थितियाँ ही पर्याप्त नहीं हैं। वाह्य स्थितियों के अतिरिक्त मनुष्य की एक आन्तरिक स्थिति मन की भी है जो अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। साहित्य के अन्दर मनो-विज्ञान का सहारा लेकर उपन्यास के अन्दर मानव के अन्तःकरण में चलने वाले द्वन्द्वों का विस्तारपूर्वक चित्रण करने का सफल प्रयत्न पहली बार किया जा रहा है। इस प्रकार समाज के साथ-साथ व्यक्ति का भी यथार्थ चित्रण उपन्या-सों के अन्दर उसकी समस्त आलोचनाओं के साथ किया जा रहा है।

---

१. डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी—'विचार और वितर्क।

विद्रोह भाव और इन सबको उखाड़ फेंकने की कामना-प्रवृत्ति[1]। जिसने मानव को चकाचौंधी, अत्यधिक व्यस्त एवं शंकालु बना दिया है, उसे न तो इतना अवकाश है कि प्रत्येक समस्या को प्रयोग द्वारा सुलझा सके और न तो उसमें यह सहज विश्वास ही रह गया है कि किसी श्रेष्ठ के चरण चिन्हों का अनुगमन ही करे। अतः ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी जो अपने चरित्रों को प्रयोगशाला में लाकर प्रयोग कराये तथा परिणामों के द्वारा पाठकों के लिए समस्याओं का हल प्रस्तुत करे और ऐसे कर्मनिष्ठ, परिस्थितियों से जूझने वाले तथा उदात्त चरित्रों को सामने लाये जिनके पीछे हम आँख मूँद कर चलें।

मानव जीवन की समस्त व्यापकता को समेट कर तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक ग्रन्थियों को खोलते हुए तथा समाज के अन्दर व्यक्ति के मूल्यों की प्रतिष्ठापना करते हुए उपन्यास साहित्य ने समय की माँग को स्वीकार कर यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति की है। यदि यथार्थ उपन्यास का प्राण है तो उपन्यासों के अभाव में यथार्थ का जीना भी कठिन है। उपन्यासकार को किसी व्यक्ति-विशेष अथवा वर्गविशेष का न होकर अपनी रचना विश्व के व्यापक पृष्ठभूमि पर करनी चाहिये जो उपन्यास साहित्य का प्रधान लक्ष्य है।



१—मोहन राकेश (आलोचना-उपन्यास-अंक पृष्ठ ४९'।)

चौथा अध्याय

शैली में यथार्थवाद

उपन्यास और यथार्थवादी शैली

जहाँ हम यह स्वीकार करते हैं कि यथार्थवाद उपन्यासों का प्राण है, वहाँ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यथार्थवादी शैली ही वह पंचतत्त्व है जिसके द्वारा यथार्थवाद का स्वरूप निर्मित होता है। यदि उपन्यासों के अन्दर यथार्थवादी शैली नहीं है, तो यथार्थ से यथार्थ घटना और कथावस्तु के होते हुए भी उपन्यास कभी भी यथार्थवादी नहीं हो सकता और न तो उसमें मानव जीवन की अभिव्यक्ति ही यथार्थ रूप में हो पायेगी। यथार्थवादी शैली क्या है ? इसका कोई एक निश्चित रूप स्थिर नहीं किया जा सकता, वल्कि इसका स्वरूप रचना के स्वभावानुकूल वनता-बिगड़ता रहता है। ऐसी स्थिति मे जो शैली एक उपन्यास के लिए यथार्थवादी है, वही दूसरे के लिए यथार्थवादी भी हो सकती है। जव कि हमारा उपन्यास साहित्य अभी विकास की ओर तीव्र गति से दौड़ लगा रहा है तो यह अत्यन्त स्वाभाविक ही है कि विविध प्रयोग हमें देखने को मिलें। इससे यह भी आवश्यक नहीं है कि शैली का जो स्वरूप आरम्भ में निश्चित हुआ, वही चलता रहे। अतः इसके लिए हमें उपन्यास साहित्य के विविध मोड़ों, नाना प्रकार के नये प्रयोगों तथा दार्शनिक प्रवृत्तियों से परिचय प्राप्त करना होगा।

शैली की विविधता

आरम्भ में उपन्यासों में नायक और नायिका जन सामान्य के प्राणी न होकर राजा, रानी अथवा अति सामान्य पुरुष हुआ करते थे। पाठक भी इतना भोला विश्वासी था कि किसी भी प्रकार की शंका उठाये वगैर ही कथा को सत्य-रूप में ग्रहण करने लग जाता था। परन्तु स्थिति में क्रमशः परिवर्तन उपस्थित होने लगा। आधुनिक काल में सार्वजनिक समानाधिकार की भावना वढ़ चली, विधान और शिक्षा की दृष्टि में सभी मनुष्यों को समान अधिकार मिला। स्त्री-पुरुष, शूद्र-ब्राह्मण किसी में कुछ भी भेद नहीं रखा गया। स्वच्छन्दतावाद की भावना को वल पकड़ने से सामान्य मानवता के यथार्थ चित्रण की ओर लेखकों की अभिरुचि वढ़ने लगी। इस प्रकार आधुनिक उपन्यासो में

असामान्य नायक और नायिकाओं के स्थान पर अति सामान्य पात्रों के जीवन का चित्र उपस्थित किया जाने लगा। आरम्भ के उपन्यासों में अधिकांश प्रेम-प्रसंगों का ही चित्रण हुआ करता था, परन्तु अब प्रेम के अतिरिक्त अन्य भावों, भावनाओं तथा कार्य व्यापारों का भी चित्रण होने लग गया है। कहने का तात्पर्य यह कि अब उपन्यासों का क्षेत्र संकीर्ण न रहकर व्यापक हो गया है।

वातावरण

पाठक पूर्व की अपेक्षा अब अधिक चतुर हो गये हैं, इसलिये उपन्यासकारों को भी उन्हें विश्वास में रखने के लिए अत्यधिक सतर्क बनना पड़ा है। अब पाठक किसी व्यक्ति के बारे में पूर्ण परिचय पाना चाहता है। उसकी तुष्टि केवल नाम लेने से ही नहीं हो पाती। इसलिए यदि उपन्यासकार को किसी राजा का वर्णन करना होगा तो वह केवल उसका नाम लेकर ही नहीं रह जायगा, बल्कि वह बतलायेगा कि 'उस राजा का नाम आदित्य सेन था, वह विदर्भ देश का राजा था और नल की बीसवीं पीढ़ी में पैदा हुआ था। ईसा के ८०१ वर्ष पूर्व उसने आठ अश्वमेध यज्ञ किये और उसके बहुत से सिक्के तथा शिलालेख अमुक नगर में मिलते हैं', जिससे घटनाओं के ऊपर पाठकों को अविश्वास करने का साहस नहीं हो सकता।

अपने उपन्यासों की काल्पनिक कथा को सत्य का रूप देने के लिए आधुनिक उपन्यास लेखक एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करता है कि उसकी गम्भीरता, स्वाभाविकता और यथार्थवादिता से प्रभावित होकर पाठकों को पूरी कहानी को सत्य मानना ही पड़ता है। कम से कम पढ़ते समय तो वह उसे सत्य मानता ही है। यथार्थ वातावरण की सृष्टि करके उपन्यासकार ऐसा चित्र उपस्थित करने लग गया है कि पाठक उसे कोरी कल्पना न समझकर सत्य घटना का यथार्थ चित्र मानने लग जाते हैं। "वातावरण की यथार्थता से ही पाठकों को वह इतना मुग्ध कर लेता है कि उसे पूरा विश्वास हो जाता है कि लेखक जो कुछ भी कह रहा है, वह कपोल कल्पना हो ही नहीं सकती। उसकी सत्यता में उन्हें सन्देह ही नहीं रहता[1]।"

स्थान, काल और पात्र का विचार कर संभाव्य सभी बातों के यथार्थ चित्रण से आधुनिक लेखक वातावरण की सृष्टि करता है वही सृष्टि लेखक की कल्पना पर एक रहस्यमय अवगुंठन डाल कर उसे सत्य का स्वरूप प्रदान कर देती है।' वातावरण का इतना अधिक महत्व होता है कि जिस प्रकार रात के अँधेरे में रस्सी में साँप की

१—डाक्टर श्रीकृष्ण लाल 'हिन्दी कहानियों' की भूमिका', पृ० १५।

प्रतीति होती है, उसी प्रकार यथार्थ वातावरण के कारण एक कल्पित कथा में सत्य घटना की प्रतीति होती है।"

शैली और कथानक

उपन्यास में आद्योपान्त जिन कलाकरों की शैली एक सी रहती है, उन्हें दिवालिया समझना चाहिये। कला उनके पास नहीं होती। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली में असीम विविधता मिलेगी, पर 'शरत्' में नहीं। किन्तु 'शरत्' की शैली की एकता निंद्य नहीं, क्योंकि उनके कथानक भी लगभग एक-से ही होते हैं। परन्तु प्रेमचन्द्र में यह बात नहीं है। कथानक के परिवर्तन के साथ साथ उनकी शैली परिवर्तित नही होती, इसीलिए पाठक प्रायः पृष्ठ के पृष्ठ छोड़कर आगे बढ़ने लगते हैं। 'शरत्' अपने पाठक की दिलचस्पी कभी नहीं खोते। शैली और कथानक जब तक एक दूसरे के अनुकूल नहीं होंगे, तब तक कभी भी यथार्थवादी शैली का पूर्ण निर्वाह नहीं हो सकता।

स्वाभाविकता एक और कसौटी है। यहाँ पर उपन्यासों के दो भेद किये जा सकते हैं (१) स्वाभाविक (२) अस्वाभाविक। स्वाभाविक वह है जिसका कथानक स्थूल और सूक्ष्म यथार्थ पर आधारित हो और जिसमें अनुभूति आत्म-कल्पना में रँगी हो। अस्वाभाविक में दिमागी कल्पना जैसे जासूसी आदि, जिसमें जितनी अधिक अस्वाभाविकता होगी, उतना ही अधिक स्वाभाविक होगा। स्वाभाविक श्रेणी के उपन्यासों में देखना होगा कि दृश्य वातवरण आदि जो उपस्थित किये गये है असंगत तो नहीं है। जैसे महीना तो गर्मी का चल रहा है और पात्र सर्ज का सूट पहने हुए है। सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में इस प्रकार की विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। यदि उपन्यासकार ने कहीं 'राणाप्रताप' को तुर्की टोपी अथवा सूट पहना दिया तो उपन्यास की सारी स्वाभाविकता समाप्त हो जायगी। इस प्रकार लेखक केवल अपनी अल्पज्ञता का ही परिचय नहीं देगा, बल्कि वह पाठकों का विश्वास भी खो देगा। यह तो एक मोटी बात है। कभी-कभी असंगति बड़ी बारीकी से देखने पर ही दिखलायी पड़ती है। जैसे पात्र को मोटर चलाना तो आता नहीं, या इसके विपरीत इसका कहीं निर्देश नहीं किया गया हो और यकायक दिखा दिया जाय कि मौका पाते ही वह मोटर ले उड़ा।

सत्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह सत्य होता है जिसे हम देखते है, या हमने कभी देखा है और दूसरा सत्य सम्भाविक होता है जिसे कभी देखा तो नहीं, परन्तु उसकी सत्यता का अनुमान करते हैं। उपन्यासकार को सम्भा-

वित सत्य का चित्रण अपने उपन्यास मे नहीं करना चाहिये। लेखक को सत्य की कसौटी अपने को नहीं, वल्कि पाठकों के मन को मानना चाहिये। ऐसा कोई भी सत्य जो पाठकों के गले के नीचे न उतरे लेखकों को नहीं चित्रित करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से उपन्यासकार जो सन्देश अपनी कृति के द्वारा देना चाहता है, वह ग्राह्य नहीं होगा जिससे उपन्यास का कोई भी मूल्य उपन्यासकार को उसकी साधना के बदले नहीं मिल सकता। किसी चलती हुई ट्रेन से एक बच्चे का गिरना और वहीं किनारे खडे किसी व्यक्ति के द्वारा गिरते ही उसे गोद में ले लेना तथा बच्चे के प्राण की रक्षा का हो जाना कोई असम्भव नहीं है, परन्तु पाठक सन्देह कर सकता है कि क्या आवश्यक था कि जब बच्चा ट्रेन से गिरा तो वहाँ एक व्यक्ति नीचे खड़ा ही रहता। यह लेखक का पूर्व निश्चित आयोजन जान पड़ता है। इस प्रकार ऐसी सच्ची घटनाओं के होते हुए भी उनपर अस्वाभाविकता का आरोप लगाया जा सकता है जिससे उपन्यासकार को सदैव बचने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे ऐसे ही सत्यों का चित्रण करना चाहिये जिसे उसका पाठक सत्य समझता है। पाठक ऐसे ही सत्य को सत्य समझ सकता है जिसे वह दैनिक जीवन में घटते देखता है अथवा कभी उसने उसे देखा हो। अत उपन्यासो के अन्दर स्वाभाविकता लाने के लिए लेखक को इन बातों की ओर विशेष दृष्टि रखनी चाहिये।

शैली और मनोविज्ञान

सूक्ष्म यथार्थ की भूमि पर स्वभाविकता को परखने के लिए मनोवैज्ञानिक होना पड़ेगा। किस पात्र का कब और कहाँ चरित्र चित्रण उसकी स्वाभाविकता के अनुकूल नहीं रहा, यह समझ लेना बड़ी बारीकी का काम है। पात्र की स्वाभाविकता इसलिए कही गयी है कि पात्रविशेष विशिष्ट हो सकता है, यानी साधारण औसत व्यक्ति से कम या ज्यादा (सबनार्मल या एब नार्मल) औसत (नार्मल) वर्ग के पात्र में यदि उपन्यासकार अनायास और अकारण ही कोई ऐसी अजीब बात दिखाता है जो उसके समूचे स्वभाव से मेल खाती, तो वह अस्वाभाविक होगी। यदि दिखाता है तो उसका मनोवैज्ञानिक समीकरण होना चाहिये। यदि वह भी नहीं है तो उसे यह प्रदर्शित करना चाहिये कि यह पात्र एक उलझन है, एक समस्या है, यह भी संसार का एक वैचित्र्य है।

प्रत्येक बात का उचित कारण पाठकों को मिलना चाहिये। मनोविज्ञान और साहित्य के एक दूसरे के अधिक निकट आ जाने के कारण बाह्य यथार्थ

से अधिक महत्व आभ्यान्तरिक यथार्थ को मिलने लगा है जिससे मानव मन के अन्दर उत्पन्न होने वाले भावों तथा आकर्षण आदि मनोवेगों का लेखा-जोखा विविध परिस्थितियों एवं घटनाओं को सामने रखकर, उसके वास्तविक रूप में उपस्थित करना, यथार्थवादी शैली का सबसे कठिन और महत्वपूर्ण कर्म बन गया है। ट्रेन के डिब्बों में प्रेमी और प्रेमिकाओं को मिलाकर जासूसी तथा ऐयारी उपन्यासकार उनका अभिसार तो करा चुके थे, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने उन डिब्बों का उपयोग दूसरे प्रकार से किया। मुसाफिरों की भीड़ से किसी युवती के प्राण बचाने तथा साथ-साथ यात्रा करने से उत्पन्न स्वाभाविक प्रेम का विकास दिखलाने में मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अत्यधिक सफल हुए हैं। प्रेमिका को डिब्बे में बैठा देने पर प्लेटफार्म पर खड़ा प्रेमी किस प्रकार संज्ञा-शून्य रहता है, ट्रेन खुलकर जब कुछ दूर चली जाती है तो किस प्रकार उसे यकायक होश आ जाता है और उसके मन में किस-किस प्रकार की विचार-श्रृंखला द्रुतिगति से बनने-बिगड़ने लगती है, आदि सूक्ष्माति-सूक्ष्म मार्मिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति आधुनिक यथार्थवादी शैली की चरम निष्पत्ति कही जा सकती है।

शैली और भाषा

शैली के अन्दर भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा का महत्व इतना अधिक है कि शैली से कभी-कभी हम भाषा का ही अर्थ समझ बैठते हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण से उपन्यासों की भाषा पात्रोनुकूल होनी ही चाहिये, और इस विषय को लेकर साहित्य के अन्दर काफी विवाद भी चलता रहा है। एक सीमा तक सभी विद्वान सहमत हैं कि स्वाभाविकता लाने के लिए पात्रोनुकूल भाषा अनिवार्य है। उपन्यासों के अन्दर साधारणतः पात्र दो प्रकार के पाये जाते हैं। एक तो व्यक्ति (इन्डिविजुअल) और दूसरे प्रकार के विशेष (टाइप)। जिस पात्र में अपनापन पाया जाय उसे हम व्यक्ति और जो किसी वर्ग का प्रतिनिध हो उसे प्रकार विशेष अथवा टाइप कहेंगे।

पात्रोनुकूल भाषा के प्रयोग का महत्त्व सर्वप्रथम प्रेमचन्दजी ने समझा और 'सेवासदन' नामक उपन्यास में हमें इसका सर्वोत्तम सफल प्रयोग भी दिखलायी पड़ता है। पात्रों की बातचीत में उन्होने अधिकतर पात्रोनुकूल भाषा का प्रयोग करने का प्रयास किया है। हिन्दू घरों में हिन्दी और पढ़े-लिखे मुसलमानों से उर्दू ही बोलवायी गयी है। गाँव का चमार अपने गाँव की भाषा बोलता है, चाहे कलकत्ते से लौटकर भले ही वह 'विलायती बोल'

बोलने लगे। जब कहीं ग्रामीणों का प्रसग आता है तो उन्होंने ठेठ भाषा का व्यवहार किया है जिससे उपन्यास की स्वाभाविकता और भी बढ़ जाती है। पर देखना हमें यह है कि क्या सच्चे अर्थों में इस नियम का पालन करना सम्भव है। जहाँ तक स्वाभाविक भाषा का प्रश्न है, इसे स्वीकार करने में दो मत हो ही नहीं सकते, पर जहाँ पर पात्रों के अनुसार भाषा के प्रयोग का प्रश्न है, हमें प्रेमचन्दजी के बाद की कृतियो को देखने से पता लगता है कि वे भी इस पथ से डिगते से जान पड़ते हैं। 'रगभूमि' के अन्दर ईसाई से लेकर पन्डा और देहाती तक सभी खड़ी बोली बोलते हैं।

विज्ञान के आविष्कार ने जहाँ पर ससार की दूरी कम कर दी है, वहाँ पर उसने सम्पर्क के माध्यम से व्यक्ति के ससार का अत्यधिक विस्तार भी कर दिया। आज के ससार में न तो केवल हिन्दू या मुसलमान ही रहते हैं, बल्कि एक-एक देश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अंग्रेज आदि सभी रहते हैं और सबसे सबका दैनिक जीवन में सरोकार रहता है। इसलिए यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि आज के उपन्यासों के अन्दर भिन्न देश के भाषा भाषी पात्र आयें। जब कि भारतवर्ष के अन्दर ही बीस से अधिक ऐसी भाषाएँ हैं जिनके बोलने वाले वर्तमान हैं तथा उनका अपना कुछ न कुछ साहित्य भी है, तब हम यह किसी भी प्रकार से दावा तो कर नहीं सकते कि एक प्रकार की भाषा बोलने वाले पात्रो को उपन्यासों में स्थान मिलेगा। यदि हम अंग्रेज से अंग्रेजी, मद्रासी से 'मद्रासी', अमेरिकन से अमेरिकी भाषा का प्रयोग कराने लगेंगे तो उपन्यास विविध भाषाओं का चिड़ियाघर हो जायगा, और इससे उपन्यासों की सर्वग्राह्यता में कितनी बाधा उपस्थित होगी, पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं।

लेखक के सामने जब कभी इस प्रकार की भाषा सम्बन्धी समस्या उपस्थित हो तो उसे चाहिये कि वह भाषा का प्रयोग पात्रों की सामाजिक रहन-सहन एवं विद्या बुद्धि सम्बन्धी स्तर के अनुसार करें। यदि 'कालिदास' ऐसा पात्र हो तो नील सरोवर में स्वर्ण कमल खिलने जैसी बात स्वाभाविक है, परन्तु यदि लेखक रमई चमार से भी स्वर्ण कमल खिलने की बात कहलवाता है तो वह अत्यन्त ही अस्वाभाविक होगी। ऐसी स्थिति में लेखक को चाहिये कि वह साधारण पात्रों के मुख से साधारण बोलचाल की भाषा और श्रेष्ठ पात्रों से साहित्यिक भाषा का प्रयोग कराये और जब कभी उसे अप्रान्तीय अथवा विदेशी पात्रों के मुख से कुछ कहलवाना हो तो अति सामान्य भाषा को व्यवहार में लाये। कुछ उपन्यासकार घटनाओं को सचाई के रँग में अधिक रँगने के लिए डायरी आदि के पृष्ठों को उध्दृत करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि डायरी वाला

व्यक्ति साधारण पढ़ा लिखा है तो उसके, लेखों के अन्दर साधारण हिन्दी के साथ-साथ बीच-बीच में कहीं-कहीं अंग्रेजी आदि भाषाओं के एकाध शब्द रख देने से स्वाभाविकता ही बढ़ेगी। इस प्रकार पात्रोनुकूल भाषा का तात्पर्य वहीं तक लेना चाहिये जहाँ तक कि पाठक उसे पढ़कर उसकी स्वाभाविकता में पूर्ण आस्था प्रकट कर सके।



द्वितीय खंड

यथार्थ का उद्भव और विकास

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी में यथार्थवाद का उद्भव और विकास

आधुनिक साहित्य में यथार्थवाद से जो तात्पर्य हम लेते हैं वह हिन्दी साहित्य को योरोपीय साहित्य की देन है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार तो यथार्थवाद शब्द भी 'अंग्रेजी के रियलिज़्म' की 'तौल' पर गढ़ लिया गया है, परन्तु हिन्दी साहित्य के अन्दर 'यथार्थवाद' का विकास एक विचारधारा के रूप में नहीं पाया जाता जैसा कि योरोप में हुआ। हिन्दी के कवियों और लेखकों ने परिस्थितिजन्य आवश्यकताओं के अनुसार प्रभाव ग्रहण किया और साहित्य के अन्दर यथार्थवाद की अभिव्यक्ति की जिसके कारण हिन्दी में इस प्रवृत्ति का क्रमिक विकास नहीं पाया जाता। इंग्लैंड में अंग्रेज जाति की कुछ अपनी विशेषताओं के कारण 'यथार्थवाद' का विकास 'प्रकृतवाद' तक नहीं हो पाया, फ्रांस के अन्दर प्रायः 'यथार्थवाद' और 'प्रकृतवाद' की प्रवृत्तियाँ एक साथ ही दिखलायी पड़ने लग जाती है, परन्तु फ्रांस में जब यह कला मुरझा रही थी तो रूसी साहित्यकारों ने उसे नवीन जीवन प्रदान किया।

रूसी कलाकारो ने यद्यपि प्रेरणा फ्रांस के उपन्यासों से ग्रहण की थी, परन्तु इनके उपन्यासो मे उनसे अधिक यथार्थ जीवन की स्पष्ट व्याख्या हो सकी। 'टाल्स्टाय' तथा उनके प्रभावित उपन्यासकारों की मनुष्य जाति की शत-शत दुर्बलताओं, भूलों और भ्रान्तियों के बावजूद, महामानव के भीतर निहित आत्मिक शक्तियों की विजय पर आस्था बनी रही। इनके पश्चात् ही उपन्यास साहित्य के अन्दर मजदूरो का उद्‌बोधन आया। गोर्की के उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की आर्थिक विषमताओ तथा उनके दैनिक जीवन के संघर्षों का चित्र मूर्तिमान हो उठा। हिन्दी साहित्य के अन्दर 'यथार्थवाद' के विकास का क्रम यह नहीं रहा क्योंकि इसने प्रभाव विभिन्न प्रकार से तथा विभिन्न समयो मे ग्रहण किया।

उद्‌भव

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने हिन्दी साहित्य के अन्दर यथार्थवाद का आरम्भ भारतेन्दु के समय से माना है। उनके अनुसार सर्वप्रथम यथार्थवाद भारतेन्दुजी के नाटको और उनकी कविताओ में आया और 'प्रेमयोगिनी' को हिन्दी

साहित्य में इस ढंग का पहला प्रयास समझना चाहिये। 'देखी तुम्हरी कासी' वाली कविता को भी उन्होंने इसी श्रेणी में रखा है। भारतेन्दुजी ने राष्ट्रीय चेतना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। इस प्रकार भारतेन्दुजी से प्रभावित पूर्व प्रेमचन्द युग के लेखकों में यथार्थ के चिन्ह यत्र-तत्र दिखलायी पड़ने लग जाते हैं।

हिन्दी का आरम्भिक उपन्यास-साहित्य और उसमें यथार्थवाद की उपेक्षा

समाज की जिन आवश्यकताओं ने हिन्दी उपन्यासो को जन्म दिया उसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी उपन्यासों की सृष्टि आरम्भ मे किसी साहित्यिक लक्ष्य को लेकर नहीं की गयी थी। अत. प्रेमचन्द के पूर्व लिखे गये उपन्यासो के विवेचन मे बड़ी ही उदार दृष्टि अपनानी होगी। हम इन उपन्यासो का उचित मूल्यांकन तभी कर सकेंगे जबकि हम उन्हें उनकी परिस्थितियों तथा पाठकों की रुचियों, जिनके लिए वे लिखे गये हैं, के अनुसार देखने का प्रयत्न करेंगे। आरम्भ में उपन्यासो की रचना जनता का मनोरंजन करने के लिए ही की गयी थी। उस समय के पाठक तीन श्रेणियों में विभक्त थे, "प्रथम श्रेणी के लोग वे थे जो अंग्रेजी हिन्दी आदि विविध विषयों की शिक्षा पाये हुए थे और जो सरकारी अथवा गैरसरकारी नौकरियाँ करते थे। दूसरी श्रेणी में वे लोग थे जो लोग संस्कृत के तो अच्छे ज्ञाता थे, परन्तु हिन्दी कम जानते थे। और तीसरी श्रेणी में वे लोग आते थे जिन्होंने बहुत साधारण शिक्षा पायी थी तथा केवल हिन्दी ही पढ़-लिख सकते थे। पहले श्रेणी के पाठकों को पहले तो अवकाश ही कम मिलता था और जो कुछ मिलता भी था उसे वे हिन्दी की पुस्तकें पढ़कर नष्ट नहीं करना चाहते थे। दूसरी श्रेणी का पाठक रामायण महाभारत और पुराणों को छोड़कर और कुछ पढ़ने के लिए तैयार ही नहीं था। इस प्रकार तीसरी श्रेणी का पाठक ही बच रहता है जिसने उपन्यासों का स्वागत किया। इस श्रेणी के अन्दर छोटी-मोटी दूकानें करने वाले अथवा खेती-बारी और इधर-उधर की मेहनत करनेवाले और मजदूर थे जिनके लिए मनोरंजन की सामग्री आवश्यक थी, जिसे उपन्यासों के द्वारा प्रस्तुत किया गया।

मनोरंजन इन उपन्यासों का मात्र उद्देश्य था। अर्द्धशिक्षित जनता की सम्पत्ति समझ जाने के कारण, सभ्य एवं बड़े घरों की बहू-बेटियों के लिए उपन्यासों का पढ़ना, उनके लिए भद्दी रुचियों का परिचय देना

था और उपन्यास लिखना भी एक साहित्यकार के लिए सम्मान की वस्तु नहीं थी। आरम्भ में जितने भी कथाप्रधान उपन्यासों की रचना हुई उनसे (१) तिलस्मी (२) साहसिक (३) जासूसी और (४) प्रेमाख्यानक मुख्य हैं। कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गये जिनका सम्बन्ध ऐतिहासिक घटनाओ से जोड़ा गया है, परन्तु ऐतिहासिकता नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं है।

इन उपन्यासों में साहित्यिक मानदंडों के द्वारा दोषों एवं गुणों का विवेचन करना उन उपन्यासों और उपन्यासकारों के प्रति अन्याय करना होगा क्योंकि इनके अन्दर मनोरंजन को ही प्रधान माना गया है। किसी भी उपन्यास से अधिक से अधिक पाठकों का मनोरंजन जितना अधिक हो जाता था, वह उपन्यास उतना ही सफल कहा जाता था।

पूर्व प्रेमचन्द-उपन्यास-साहित्य में यथार्थवाद की उपेक्षा का मिलना नितान्त स्वाभाविक है। यह ऐसा काल था जब कि हिन्दी साहित्य के अन्दर उपन्यासों को जन्म दिया जा रहा था। उपन्यासकार विभिन्न श्रोतों से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे। तत्कालीन उपन्यासकारों ने संस्कृत साहित्य की आख्यायिकाओं, 'अरेबियन नाइट्स' के ढंग पर लिखी गयी उर्दू और फारसी की कहानियों तथा अंग्रेजी साहित्य के उपन्यासों से विशेष प्रेरणा प्राप्त की। कुछ वास्तविक घटनाओं के आधार पर कल्पना प्रधान अनेक उपन्यासों की भी सृष्टि हुई। 'पिंडारियों' की लूट-मार करने की कलाओं ने भी उपन्यासकारों को प्रचुर सामग्री प्रदान की।

'पिंडारी अमीर अली ठग' ने बंदी होने के बाद न्यायालय में अपना जो बयान प्रस्तुत किया कि किस प्रकार वह और उसके साथी लूटमार किया करते थे उसके आधार पर अंग्रेजी में 'अमीरअली ठग' नामक उपन्यास लिखा गया और उसी रूप में उसका हिन्दी में अनुवाद भी हुआ। 'अमला वृतांत माला' 'कांस्टेबल वृतांतमाला' तथा 'ठग वृतांतमाला' आदि सभी इसी प्रकार के उपन्यास हैं। जिन उपन्यासकारो ने अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा ली, उनके उपन्यासों में हमें अन्य की अपेक्षा यथ.र्थ अधिक मिलता है। वास्तव में यह युग प्रयोग का युग था। मुख्यत· उस युग के उपन्यासों को तीन श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है—

१—प्रयोगात्मक (१८८०–१८९९)
२—कल्पना प्रधान (१८९९–१९१०)
और ३—उपदेशात्मक (१९१०–१९१८)।

प्रयोग-युग

हिन्दी के आदि मौलिक उपन्यासकार लाला श्रीनिवास दास ने अपना प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' अंग्रजी उपन्यासो के आधार पर लिखा जिसके अन्दर हमें देखने को मिलेगा कि लेखक ने प्रेम के परिचित दायरे के बाहर जाकर जीवन के अन्य पक्षो पर भी दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के अन्दर दिल्ली के एक सेठ की कहानी है जो चाटुकारों की मिथ्या प्रशंसा से फूल-फूल कर बाहरी तड़क-भड़क तथा आडम्बरों के चक्कर में पड़ कर भिखारी बन जाता है और उसके ऊपर ऋण का इतना बड़ा बोझ लद जाता है कि वह उसी में डूबने उतराने लग जाता है। इसके अन्दर सांसारिक खरे अनुभवों के बड़े सजीव चित्र आये हैं और यदि उपन्यासकार उपदेश के चक्कर में न पड़ता तो अवश्य ही यह एक उच्च कोटि का उपन्यास होता।

'परीक्षा गुरु' के चरित्र भी अपनी वैयक्तिक विशेषताओ के कारण नहीं, बल्कि, मानवीयता के कारण हमें आकृष्ट करते हैं। उनका क्रमिक विकास नहीं होता, पर मानवीय दुर्बलताओ और सबलताओ से युक्त होने के कारण हमारे जाने-पहचाने, जीते-जागते मनुष्य के रूप में सामने आते हैं। इस उपन्यास के द्वारा तत्कालीन मध्यवर्गीय समाज और देश-दशा का विस्तृत परिचय मिल जाता है। नायक 'मदन मोहन' नव शिक्षित मध्यवर्ग की कमजोरियों का मूर्तमान रूप है। इस नयी चाल की पुस्तक में नयी रोशनी के एक व्यापारी का अपने खुशामदी और स्वार्थी मित्रों के फेर मे पडकर दिवालिया बनना और एक सच्चे शुभचिंतक मित्र की सहायता से ऋण मुक्त होकर सुधर जाना दिखलाया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी मे अनेक सामाजिक और नैतिक उपन्यास लिखने के प्रयोग हुए। उनमें से अधिकाश का नाम भी अब कोई नहीं जानता। पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने सन् १८८६ में 'नूतन ब्रह्मचारी' की रचना छात्रों को नैतिक शिक्षा और दूसरी रचना 'सौ अजान और एक सुजान' दो धनी व्यापारियों की कुसगति में पड़ने के कारण पतन और सज्जन की संगति में पड़कर सन्मार्ग पर आ जाने के परिणाम को दिखलाने के उद्देश्य से की।

बीसवीं सदी के यशस्वी कवि पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने १८९९ मे 'ठेठ हिन्दी का ठाट' लिखा जो भाषा की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। लेखक ने ठेठ भाषा की दृष्टि से ही उसकी रचना की थी।

उन्नीसवीं सदी के तीन और उपन्यास उल्लेखनीय हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल' १८९९, 'स्वतत्र रमा' और 'परतंत्र लक्ष्मी' (सन्

१८९९) तथा श्री कार्तिक प्रसाद का 'दीनानाथ'। इसके अतिरिक्त मेहता जी ने 'आदर्श दम्पति' (१९०४) 'बिगड़े का सुधार' (१९०७) और 'आदर्श हिन्दू' (१९१५) नामक तीन उपन्यास और लिखे।

ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' सन् १८८८ ई० और पंडित अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' सन् १८९३ ई० में प्रकाशित हुए। ये उपन्यास संस्कृत-कथा-साहित्य की आख्यायिकाओं के ढंग पर लिखे गये हैं। 'श्यामा स्वप्न' में स्वच्छन्द प्रेम की कहानी है जो रीति कालीन नायिकाओं की परिपाटी को लेकर लिखा गया है। 'व्यास' जी का 'आश्चर्य वृत्तान्त' दूसरे ही प्रकार की रचना है। एक व्यक्ति स्वप्न में गया से काशी होते हुए चित्रकूट तक भ्रमण करता और ऐसे जगलों, पहाड़ों, और कंदराओं में घूमता और विलक्षण दृश्यों के दर्शन करता है कि पाठक उसके विवरण को सुन कर आश्चर्य में पड़ जाते हैं।

कल्पना प्रधान

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के कुछ पूर्व जब देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास निकलने आरम्भ हुए तो उपन्यास साहित्य के अन्दर एक मोड़ आया। उस युग के उपन्यासों में चमत्कार पर अत्यधिक आग्रह दिखायी पड़ता है क्योंकि इनके अन्दर मनोरजन को ही प्रधान माना गया है। मानव जीवन के व्यापक क्षेत्रों की चर्चा जैसा कि आज हो रही है, इनमें मिलना असम्भव है, क्योंकि इन उपन्यासों के अन्दर जीवन के मनोरंजन पक्ष की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया। लेखकों ने तिलस्म और ऐय्यारों के ऐसे चमत्कार दिखलाये कि पाठकों की आँखे चौंधिया गयीं। कब उनके पैरों के नीचे की धरती खिसक जायगी और वे एक जादू के महल में पहुँचा दिये जायँगे, उन्हें ज्ञात नहीं था। किसी भी व्यक्ति पर विश्वास करना कठिन था क्योंकि नहीं मालूम वह कब, क्या, रूप धारण कर लेगा। इस प्रकार ऐय्यारों के करिश्मों ने अपने और पराये के भेद-भाव की सीमा नष्ट कर डाली थी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन उपन्यासों के अन्दर यथार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं है। घटनाएँ, कथाएँ, तथा पात्र आदि भले ही इनके बिल्कुल काल्पनिक हों परन्तु उनके अन्दर भी वास्तविकता है, वे भी एक प्रकार के समाज के प्रतीक हैं और उनका भी सामाजिक मूल्य है।

देवकीनन्दन खत्री

देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी और ऐय्यारी के उपन्यास सबसे प्रसिद्ध हुए। कुछ लोगों ने तो केवल 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। 'चन्द्र-

कान्ता' हमारे सामने आदर्श हिन्दू ललना का चरित्र रखती है। हिन्दू ललना का प्रेम जीवन में एक बार होता है। 'चन्द्रकाता' ने भी जिसे एक बार अपना हृदय दे दिया, दे दिया। राजा वीरेन्द्र भी सत्य का पक्ष लेने वाला न्यायी नरेश है। 'भूतनाथ' अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओ से युक्त एक बहादुर ऐय्यार है जिसके नाममात्र से ही विपक्षी घबड़ाते हैं। वह समाज में पापी बनकर रहने की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ समझता है। 'दारोगा' पूरा शैतान है, मालिक तक की हत्या कर डालता है, परन्तु अन्त में ऐसी मौत मरता है कि गलियो के कुत्ते भी तरस खाते हैं। 'कुसुमकुमारी' और वीरेन्द्र वीर आदि उपन्यास खूनी प्रकरणपर हैं।

खत्रीजी के उपन्यासो का एकमात्र उद्देश्य था पाठको का मनोरजन करना। इनके उपन्यास नवयुको और नवयुवतियों के गले के हार बन गये और वे खत्री जी के साथ-साथ तिलस्मी इमारतों में घूमने लगे। इनकी वर्णन-शैली रेनाल्ड से मिलती-जुलती है, क्योंकि दोनों ही कथाओं का सूत्रपात इतिहास से मिलाते हैं और उसमें कुछ विचित्रता पैदा कर देते है। इनके उपन्यासों का उद्देश्य यद्यपि चरित्र-चित्रण नहीं है, फिर भी इनमें इसका नितात अभाव नहीं पाया जाता।

सूनी तिलस्मों और ऐसे क्षेत्रो का कोना-कोना इन्होंने देख डाला था। तिलस्मी उपन्यासों में राजकुमारो की प्रेम कहानी कही गयी है। एक राजकुमारी के अनेक प्रेमी तथा एक राजकुमार के अनेक प्रेमिकाएँ होती थीं, परन्तु उनमें वास्तविक प्रेम किसी एक से ही होता था। ऐय्यारों के द्वारा एक दूसरे को प्राप्त करने में बाधा पहुँचती थी। यहीं पर लेखक को अपना चमत्कार दिखलाने का अवसर मिल जाता था। अन्त में ऐयार लोग प्रेमी और प्रेमिकाओं के विवाह कराने में सफलता प्राप्त करते थे।

खत्रीजी के उपन्यासों से पाठक प्राय उसके काल्पनिक पक्षों से ही परिचित हो सके हैं, परन्तु उसका दूसरा वास्तविक पक्ष भी है। डाक्टर श्रीकृष्ण लाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में तिलस्मी उपन्यासों में आये प्रेमाख्यानकों की तुलना हिन्दी के 'वीर काव्यों से की है।' चन्द्रकान्ता की तुलना सबसे अधिक लोकप्रिय चारण काव्य आल्हा से की जा सकती है। दोनों के मूल में वही स्वच्छन्दवादी प्रेम है। 'चन्द्रकान्ता' के ऐय्यार बहुत कुछ उस अर्द्धपौराणिक वीर काव्य के नायकों के समान हैं, केवल उपन्यास की परिस्थिति ने उन्हें थोड़ा परिवर्तित कर दिया है। उदाहरण के लिए जब चुनार का अधि-

पति आल्हा और ऊदल को युद्ध में परास्त न कर सका तब उसने अपने मित्र से सहायता माँगी और उसके मित्र ने नृत्य और संगीत का जाल बिछा कर सरल-हृदय आल्हा को बन्दी बना लिया। उस समय ऊदल और उसके मित्रों ने कावुली घोड़े बेचने वालों का वेष बना कर चतुरता से आल्हा को बन्दीगृह से मुक्त किया। यह चाल तिलस्मी उपन्यासों के ढंग की है। लेखक ने जिस दृष्टि को अपनाया है उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कर डाला है।

गोपालराम गहमरी

गहमरीजी ने घटना प्रधान जासूसी उपन्यास लिखे। इनके जाजूसी उपन्यासों में घटनाओं का एक क्रम पाया जाता है। इनके उपन्यासो में भाव की अपेक्षा बुद्धि का चमत्कार अधिक पाया जाया है। इन्होंने चालिस वर्षों में डेढ़ सौ उपन्यास लिख डाले। ये जासूसी उपन्यास पूर्ण रूप से यूरोप, विशेषतः इंग्लैंड की देन हैं। स्काटलैंड की पुलिस और जासूसों के साहस और निर्भीकता तथा बुद्धि चातुरी को लेकर ही इंग्लैंड में जासूसी उपन्यासों की भरमार हुई थी। इन उपन्यासों के अन्दर एक छोटे-से रहस्य बीज को लेकर बड़ी से बड़ी घटनाओं का पता लगाते देखकर जासूसों की समर्थता पर हमें थोड़ी देर के लिये आश्चर्य भले हो जाय, परन्तु भारतीय क्रान्तिकारियों के पीछे ऐसी-ऐसी घटनाएँ घटीं है जिन्हें जान लेने पर और भी आश्चर्य हो सकता है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर 'आजाद' के साथ दो खुपिया पुलिस अधिक दिनों तक उसके साथ रहे और उनके साथियों को ज्ञात तक भी न हो सका। इन उपन्यासो के अन्दर कल्पना से उतना ही काम लिया गया है जितना कि आधुनिक विज्ञान अवकाश देता है।

किशोरीलालजी गोस्वामी

गोस्वामीजी के उपन्यास कल्पना प्रधान हैं। केवल कथन मात्र के लिए उन्हें सामाजिक कहा जा सकता से। इनमें प्रेम-प्रवंचना का आधिक्य है जो कहीं-कहीं अश्लील भी हो गया है। ये डायरी के पन्नों को उद्धृत करने के इतने चक्कर में पड़ गये कि कौतूहल भी समाप्त हो गया है। इनके प्रेमाख्यानक उपन्यासों में 'अंगठी का नगीना' 'स्वर्गीय कुसुम' या 'कुसुम कुमारी' आदि के प्रेमी और प्रेमीकाएँ रेल के डिब्बों में, नावों में अथवा पानी बरसते समय भाग कर खडे हुए बरामदों में मिल जाया करते थे और वहीं एक दूसरे के प्रेम सूत्र में आवद्ध हो जाता था जैसा कि आज की फिल्मी दुनियाँ में प्रायः

१—डाक्टर श्रीकृष्णलाल—"आ० हि० सा० वि०, पृ० २७६—२७७।"

कान्ता' हमारे सामने आदर्श हिन्दू ललना का चरित्र रखती है। हिन्दू ललना का प्रेम जीवन में एक बार होता है। 'चन्द्रकाता' ने भी जिसे एक बार अपना हृदय दे दिया, दे दिया। राजा वीरेन्द्र भी सत्य का पक्ष लेने वाला न्यायी नरेश है। 'भूतनाथ' अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओ से युक्त एक वहादुर ऐय्यार है जिसके नाममात्र से ही विपक्षी घवड़ाते हैं। वह समाज मे पापी वनकर रहने की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ समझता है। 'दारोगा' पूरा शैतान है, मालिक तक की हत्या कर डालता है, परन्तु अन्त में ऐसी मौत मरता है कि गलियों के कुत्ते भी तरस खाते हैं। 'कुसुमकुमारी' और वीरेन्द्र वीर आदि उपन्यास खूनी प्रकरणपर हैं।

खत्रीजी के उपन्यासो का एकमात्र उद्देश्य या पाठको का मनोरजन करना। इनके उपन्यास नवयुकों और नवयुवतियो के गले के हार वन गये और वे खत्री जी के साथ-साथ तिलस्मी इमारतों में घूमने लगे। इनकी वर्णन-शैली रेनाल्ड से मिलती-जुलती है, क्योंकि दोनो ही कथाओं का सूत्रपात इतिहास से मिलाते हैं और उसमें कुछ विचित्रता पैदा कर देते हैं। इनके उपन्यासों का उद्देश्य यद्यपि चरित्र-चित्रण नहीं है, फिर भी इनमें इसका नितांत अभाव नहीं पाया जाता।

सूनी तिलस्मों और ऐसे क्षेत्रों का कोना-कोना इन्होंने देख डाला था। तिलस्मी उपन्यासों में राजकुमारों की प्रेम कहानी कही गयी है। एक राजकुमारी के अनेक प्रेमी तथा एक राजकुमार के अनेक प्रेमिकाएँ होती थीं, परन्तु उनमें वास्तविक प्रेम किसी एक से ही होता था। ऐय्यारों के द्वारा एक दूसरे को प्राप्त करने में बाधा पहुँचती थी। यहीं पर लेखक को अपना चमत्कार दिखलाने का अवसर मिल जाता था। अन्त में ऐयार लोग प्रेमी और प्रेमिकाओं के विवाह कराने में सफलता प्राप्त करते थे।

खत्रीजी के उपन्यासों से पाठक प्राय उसके काल्पनिक पक्षों से ही परिचित हो सके हैं, परन्तु उसका दूसरा वास्तविक पक्ष भी है। डाक्टर श्रीकृष्ण लाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में तिलस्मी उपन्यासो से आये प्रेमाख्यानकों की तुलना हिन्दी के 'वीर काव्यों से की है।' चन्द्रकान्ता की तुलना सबसे अधिक लोकप्रिय चारण काव्य आल्हा से की जा सकती है। दोनों के मूल में वही स्वच्छन्दवादी प्रेम है। 'चन्द्रकान्ता' के ऐय्यार बहुत कुछ उस अर्द्धपौराणिक वीर काव्य के नायकों के समान हैं, केवल उपन्यास की परिस्थिति ने उन्हें थोड़ा परिवर्तित कर दिया है। उदाहरण के लिए जब चुनार का अधि-

पति आल्हा और ऊदल को युद्ध में परास्त न कर सका तब उसने अपने मित्र से सहायता माँगी और उसके मित्र ने नृत्य और संगीत का जाल बिछा कर सरल-हृदय आल्हा को बन्दी बना लिया। उस समय ऊदल और उसके मित्रों ने काबुली घोड़े बेचने वालों का वेष बना कर चतुरता से आल्हा को बन्दीगृह से मुक्त किया। यह चाल तिलस्मी उपन्यासों के ढंग की है। लेखक ने जिस दृष्टि को अपनाया है उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कर डाला है।

गोपालराम गहमरी

गहमरीजी ने घटना प्रधान जासूसी उपन्यास लिखे। इनके जाजूसी उपन्यासों मे घटनाओं का एक क्रम पाया जाता है। इनके उपन्यासों मे भाव की अपेक्षा बुद्धि का चमत्कार अधिक पाया जाया है। इन्होंने चालिस वर्षों में डेढ़ सौ उपन्यास लिख डाले। ये जासूसी उपन्यास पूर्ण रूप से यूरोप, विशेषतः इंग्लैंड की देन हैं। स्काटलैंड की पुलिस और जासूसों के साहस और निर्भीकता तथा बुद्धि चातुरी को लेकर ही इंग्लैंड में जासूसी उपन्यासों की भरमार हुई थी। इन उपन्यासों के अन्दर एक छोटे-से रहस्य बीज को लेकर बड़ी से बड़ी घटनाओं का पता लगाते देखकर जासूसों की समर्थता पर हमें थोड़ी देर के लिये आश्चर्य भले हो जाय, परन्तु भारतीय क्रान्तिकारियों के पीछे ऐसी-ऐसी घटनाएँ घटीं है जिन्हें जान लेने पर और भी आश्चर्य हो सकता है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर 'आजाद' के साथ दो खुफिया पुलिस अधिक दिनों तक उसके साथ रहे और उनके साथियों को ज्ञात तक भी न हो सका। इन उपन्यासों के अन्दर कल्पना से उतना ही काम लिया गया है जितना कि आधुनिक विज्ञान अवकाश देता है।

किशोरीलालजी गोस्वामी

गोस्वामीजी के उपन्यास कल्पना प्रधान है। केवल कथन मात्र के लिए उन्हें सामाजिक कहा जा सकता से। इनमें प्रेम-प्रवंचना का आधिक्य है जो कहीं-कहीं अश्लील भी हो गया है। ये डायरी के पन्नों को उद्धृत करने के इतने चक्कर में पड़ गये कि कौतूहल भी समाप्त हो गया है। इनके प्रेमाख्यानक उपन्यासों में 'अंगठी का नगीना' 'स्वर्गीय कुसुम' या 'कुसुम कुमारी' आदि के प्रेमी और प्रेमीकाएँ रेल के डिब्बो में, नावों में अथवा पानी बरसते समय भाग कर खड़े हुए बरामदों में मिल जाया करते थे और वहीं एक दूसरे के प्रेम सूत्र में आबद्ध हो जाता था जैसा कि आज की फिल्मी दुनियाँ में प्रायः

१—डाक्टर श्रीकृष्णलाल—"आ० हि० सा० वि०, पृ० २७६–२७७।"

दिखलाया जाता है। परन्तु इतना तो अवश्य है कि ये अपने उपन्यासों के द्वारा अन्य की अपेक्षा समाज के अधिक निकट आये।

उपदेशात्मक

उपन्यासों की लोकप्रियता देखकर कुछ धर्मप्राण लोगों ने भी इसे प्रचार एवं उपदेश का उचित माध्यम समझ कर अपनाया। उपदेश की प्रवृत्ति हमें किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों से ही मिलने लग जाती है जो उनके वैष्णव महावलम्बी होने का परिचायक है। कुछ पौराणिक उपन्यासों की भी रचना हुई जिनका प्रधान लक्ष्य भारतीयो को प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति से परिचित कराना था क्योंकि अंग्रेजी सभ्यता का प्रचार बड़ी शीघ्रता से होता जा रहा था। इनके अन्दर स्त्री-शिक्षा-प्रसार, आदर्शनायक और नायिकाओं के सुन्दर चित्रण नमूने के लिए चित्रित करने की भावना वर्तमान थी। स्त्रियों के आदर्श के लिए अनुसूया, सुभद्रा, चन्द्रलेखा, सती सीमतिन, मदालसा और सीता—सावित्री जैसी और पुरुषो के लिये वीर कर्ण, एकलव्य तथा परशुराम आदि महावीरों के चरित्रों का चित्रण किया गया। व्रजनन्दन सहाय कृत 'राधाकांत', 'सौन्दर्योपासक' तथा ईश्वरी प्रसाद शर्मा के 'सूर्यमयी', 'किरणमयी' आदि उपन्यास और मन्नन द्विवेदी की कृतियाँ इसी श्रेणी में आती हैं।

यथार्थवाद का वास्तविक आरम्भ

पूर्व प्रेमचन्द-युग की प्रवृत्तियो से हम केवल इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि उपन्यासकारों का झुकाव मानव के जीवन सम्बन्धी समस्याओं की ओर तो हो चला था, परन्तु 'यथार्थवादी' विचार-धारा को कोई भी निश्चित रूप तत्कालीन उपन्यासकार नहीं दे पाये थे। उपन्यास साहित्य में यथार्थ को वास्तविक स्वरूप प्रेमचन्दजी के आगमन से ही मिला।

१९३६ के प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन मे प्रेमचन्दजी ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने प्रेम की बढ़ती हुई व्यंजना की तीव्र आलोचना की। उन्होने उसे वर्तमान विपन्नावस्था के प्रतिबिम्ब रूप में चाहा। प्रगतिवादी काव्य का आरम्भ १९३८ में पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त और नरेन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व में निकलने वाले कालाकांकर के मासिक पत्रिका 'रूपाभ' से मिलता है। १९४१ में सबल रूप में काशी की 'हंस' नामक पत्रिका में, जिसका सम्पादन शिवदान सिंह चौहान करते थे, यह शब्द दुहराया गया।

विकास

हिन्दी में मुख्यतः यथार्थवाद का विकास प्रेमचन्दजी से मानना चाहिये, परन्तु उसके बहुत कुछ लक्षण हमें भारतेन्दु काल से दिखलायी पड़ने लग जाते हैं। भारतेन्दुजी की मूल प्रेरणा राष्ट्रीय थी, परन्तु राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ उन्होंने जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। आगे चलकर धीरे-धीरे वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप और भी स्पष्ट हो गया।

देवताओं की ओर से मानवीय भावनाओं के चित्रण की जो परम्परा चली आ रही थी उसके स्थान पर सीधे-सीधे मनुष्य के अभावों और उसकी परिस्थितियों का चित्रण भी हिन्दी साहित्य में उसी समय आरम्भ हो गया। परिणामस्वरूप पिछले काल के सुधारक कृष्ण तथा राधा और रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल होने लगा। "धार्मिक अंधविश्वासों तथा साम्प्रदायिक रूढ़ियों के स्तर जो आवरण स्वरूप बन गये थे, उन्हें हटा कर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा होने लगी।'. फलत. "आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही सम्बद्ध होती थीं—मनुष्य के वास्तविक जीवन का चित्रण आरम्भ होता है[1]।"

भारत में उस समय दो वर्ग उपस्थित थे (१) जन-साधारण दरिद्र (२) और महाशक्तिशाली नरपति। भारत के शक्तिशाली नरपति भारत के साम्राज्य की रक्षा करने में असफल हो चुके थे जिससे उनकी वास्तविक सत्ता पर से विश्वास डिगने लगा था, और अब वही साधारण मनुष्य, जो पहले अकिंचन समझे जाते थे अपनी वास्तविकता में विराट दिखलायी पड़ने लगे। इस समय के यथार्थवाद में अभाव, वेदना और पतन के अंश प्रभूत मात्रा में विद्यमान थे।

प्रेमचन्दजी के समय में केवल अपने तथा अपने समाज की दुर्बलताओं एवं दोषों को देखना ही इष्ट नहीं रहा, बल्कि, उसके अन्दर सुधार की प्रेरणा थी। देश के अन्दर जन-जागरण की प्रेरणा देने का कार्य वहाँ का मध्य वर्ग करता है, परन्तु, वास्तविक शक्ति जनता के अन्दर ही निहित रहती है। जिस प्रकार जड़ों को सीचने से वृक्ष के समस्त अंगों में हरियाली आ जाती है, उसी प्रकार जनता के अन्दर जागरण आने से सारे समाज पर उसका प्रभाव पड़ता है। हिन्दी साहित्य के अन्दर मध्यवर्ग को सीमित करके अधिक दिन तक चलने वाला संघर्ष नहीं आ सका है। इसका एक मात्र कारण यह है कि गाधीजी के प्रभाव से जागरण जनता के अन्दर सीधे आया। उन्होने सात लाख गावों को अपनी शक्ति का स्रोत माना और किसानो के अन्दर जागरण फूंका।

१—जयशंकर प्रसाद—'काव्य कला तथा अन्य निबंध'।

प्रेमचन्दजी ने लगभग तीस वर्षों तक हमारे साहित्य तथा समाज को प्रेरणा प्रदान की। जिस काल से उन्होंने अपनी रचना आरम्भ की, सम्पूर्ण देश के अन्दर एक विषमता की लहर व्याप्त हो रही थी। मानव मन के भीतर सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक दुर्व्यवस्थाओं के प्रति घोर घृणा तथा विद्रोह की अग्नि सुलग रही थी। एक-एक दिन के अन्दर नयी-नयी व्यवस्थाएँ बनती बिगड़ती जा रही थीं। सुधारक संस्थाओं की बाढ़ आ गयी थी और कांग्रेस के साथ अन्य कई राजनैतिक दल भी अपना अलग राग अलाप रहे थे। इन सभी परिस्थितियों का सम्यक प्रभाव प्रेमचन्द के ऊपर पड़ा और उनका सहज सम्वेदनशील हृदय मर्माहत होकर उपन्यासों के रूप में निकल पड़ा। यदि तीस वर्षों का इतिहास दुर्भाग्य से लुप्त हो जाय तो हम प्रेमचन्द के उपन्यासों के द्वारा, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक गतिविधियों के इतिहास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मूलतः सुधारवादी दृष्टि रखने के कारण प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों में स्वाभाविक रूप से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की प्रतिष्ठापना की।

'प्रेमचन्दजी ने समाज और व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर तो देख लिया था, परन्तु, समाज से अलग व्यक्ति की सम्पूर्ण विवेचना उनके साहित्य में नहीं हो पायी थी। प्रेमचन्दजी ने उपन्यासों में यथार्थवाद की जिस सीमा तक अभिव्यक्ति की थी, उनके बाद की पीढ़ी ने उसे और भी आगे बढ़ाया है। आधुनिक उपन्यासों में मानव परिस्थितियों एवं मनोभावों के विभिन्न रूपों को लेकर बड़े ही कलात्मक ढंग से मानव की वास्तविकता को सामने लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

रूसी राज्य क्रान्ति के बाद साहित्य को मार्क्सवादी संकेतों पर चलने के लिए बाध्य किया गया। नये समाज के निर्माण हो जाने पर रूसी विचार के प्रचारक और समर्थकों ने एक नये वाद का नाम गढ़ा। वह था 'समाजवादी यथार्थवाद' (सोशलिस्टिक रियलिज्म) जिसकी व्याख्या साहित्य के अन्दर यथार्थवाद के भीतर ही की जाती है।

आरम्भ का यथार्थवाद आदर्शोन्मुख था। बाद को यह भी माना जाने लगा कि मनुष्य में दुर्बलता का होना अनिवार्य है जिसे दिखलाने के लिए मानव जीवन के विकृत अंश को भी साहित्य में स्थान मिलने लगा, जिसे 'प्रकृतवाद' के नाम से अभिहित किया गया। चित्र कलाओं के द्वारा लिये गये चित्रों के द्वारा अत्यन्त नग्न एवं गोप्य चित्रों को भी उभाड़ कर प्रकाश में लाया गया जिसे 'अति यथार्थवाद' का चोंगा पहनाया गया। मनोविज्ञान से साहित्य के

प्रभावित होने के कारण मनोविश्लेषण की शैली पर मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की भी अभिव्यक्ति की चेष्टा की जा रही है। कुछ उपन्यासकारों ने प्राचीन इतिहास को नये दृष्टि से भी देखना चाहा है और तत्कालीन वातावरण का यथातथ्य चित्र उतारना चाहा है जिन्हें हम ऐतिहासिक यथार्थ के अन्दर रख सकते हैं।



छठाँ अध्याय

प्रेमचन्द-युग

मूलदृष्टि

प्रेमचन्दजी के पूर्व के उपन्यासों में ही हम देखते हैं कि सामाजिक मगल की कामना आ चुकी थी। भारतेन्दु-युग में अपने दोषो के पहचानने तथा उसको प्रकट कर देने की प्रवृत्ति को साहित्यकारो ने अपना लिया था। व्यक्ति एवं समाज की बुराइयों को ढूँढ़कर भारतेन्दुजी ने तथा उनके समकालीन सहयोगी लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया। परन्तु एक आवश्यक अंग जिसकी पूर्ति उस समय न हो सकी थी, द्विवेदी युग में हुई। द्विवेदी युग परिष्कार एवं सुधार का युग था। पहली बार इस युग में विचार किया गया कि केवल दोषों को उसके वास्तविक रूप में चित्रित कर देने मात्र से न तो कोई सामाजिक कल्याण का कार्य होगा और न तो इससे हम कोई साहित्यिक कला विशेष का ही रूप निर्माण करेंगे।

द्विवेदीजी ने सुधारवादी आन्दोलन बड़े ही सशक्त रूप में चलाया। उनके व्यक्तित्व में इतना प्रभाव था तथा उनकी बातों में सत्य की इतनी शक्ति थी कि तत्कालीन समस्त लेखकों पर उनका प्रभाव पड़ा। इस सुधारवादी आन्दोलन को चलाने एव सफलता देने में प्रेमचन्दजी का स्थान सर्वप्रमुख है, और उनके व्यापक प्रभाव के कारण तत्कालीन लेखकों से उनका एक युग ही बन गया। प्रेमचन्दजी की दृष्टि मूलत सुधारवादी थी। इन्होंने 'चन्द्रकाता सतति' तथा तिलस्मी, ऐयारी उपन्यासों के पाठकों को 'सेवासदन' तक पहुँचाया। प्रेमचन्दजी से ही उपन्यास साहित्य में वास्तविक यथार्थ की अभिव्यक्ति आरम्भ हुई। परन्तु प्रेमचन्दजी कोरे यथार्थवादी ही नहीं थे, उनका यथार्थ वह कठोर धरातल है जिस पर उनके आदर्शमहल की दृढ़ दीवार खड़ी होती है। उन्हीं आदर्शों को लेकर तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक एव नैतिक परिस्थियों से उद्भूत युग-जागरण का सजीव चित्र इनके उपन्यासो मे उतर आया है।

उपन्यासों में प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्दजी युग प्रवर्तक के रूप में आये। हिन्दी साहित्य के अन्दर द्विवेदी युग में जो आशाएँ जग रही थीं, उन्हें

शक्तिशाली बनाने में प्रेमचन्दजी सदैव तल्लीन रहे। उपन्यास साहित्य की परम्परा में उन्हें युग-स्रष्टा के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि उनके पूर्व कुछ ही उपन्यासकार ऐसे थे जिन्हें हम साहित्यिक उपन्यासकार कह सकते हैं। उन दिनों साहित्यिक उपन्यास लिखने का कोई महत्त्व समझा ही नहीं जाता था और न उनकी रचना समाजहित की दृष्टि से की ही जाती थी। अधिक से अधिक समाजका मनोरंजन करना ही उपन्यासों का अन्तिम लक्ष्य माना जाता था। यथार्थ नाम की किसी वस्तु का मिलना उन उपन्यासों में असम्भव था जिसके द्वारा समाज के लिए जागृत चेतना की एक झलक मिलती। पूर्ववर्ती उपन्यास-कार झोपड़ियों में भी रहकर गगनचुम्बी प्रासादों का ही स्वप्न देखते थे। उन्हें प्रायः मखमली फर्श पर लगे हुए सोफों पर बैठने वाली नायिका ही स्मरण आती थी और वे ही उनके उपन्यासों की पात्र थीं।

प्रेमचन्दजी उन उपन्यासकारों में सर्व प्रथम रहे जिनकी दृष्टि महलों की ओर न जाकर सबसे पहले झोपड़ियों की ओर गयी, जिन्होंने टूटी-फूटी झोपड़ियों में पुआलों पर पड़ी तड़पती हुई भारतीय आत्माएँ देखीं। फटे चीथड़ों में सरल और स्वाभाविक यौवन के सौष्ठव का अनुभव किया और दरिद्रता की चक्की में पिसनेवाले दीन-जनों में भी महलों-सी प्रेम की पीर पायी। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्दजी ने अपने जीवन से एक दीक्षा ली थी जो उनके उपन्यासों में सचित्र उतर आया है।

युग की परिस्थियों ने प्रेमचन्दजी को उत्पन्न किया था। वे परिस्थितयों की ही देन थे। देश के अन्दर बढ़ती हुई सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक और नैतिक विषमताओं की मार को प्रेमचन्दजी का सहिष्णु हृदय सह नहीं पाया और वह अति आकुल होकर सहानुभूति के स्वरों में बोल उठा जिससे तत्कालीन जीवन और युग का यथार्थ चित्र उनकी रचनाओं में उतर आया है। वर्तमान परिस्थिति से समाज को निकालना उन्होंने अपना पवित्र कर्त्तव्य समझा।

प्रेमचन्दजी का अनुभव इतना विशाल था कि उसके अन्दर मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष सिमट कर आ गया है। मानव जीवन के प्रति उनका अपना एक अलग दृष्टिकोण था। मानवता के पक्के हिमायती होते हुए भी उन्होंने अपने उपन्यासों में मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को खुल कर चित्रित किया है। परन्तु इतना अवश्य था कि वे मानवता की विजय की कामना करने वाले महापुरुषों में से एक थे। उन्होंने किसी वाद-विवाद के पचड़े में अधिक न पड़कर, अपने लिए एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपना लिया था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि विना यथार्थ की कठोर भूमि का सहारा लिये कला का

भव्य-भवन निर्मित ही नहीं हो सकता और जब तक उसमें आदर्श का समुचित योग न होगा तब तक उसमें सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना भी नहीं की जा सकती। उनकी दृष्टि में उच्च कोटि के उपन्यास के लिए यथार्थ और आदर्श दोनो अनिवार्य तत्त्व हैं जिनमें से एक के अभाव में भी कला में दोष का आ जाना स्वाभाविक है। प्रेमचन्दजी मर्यादावादी थे जिससे उन्होंने अपनी कृतियो में अधिक से अधिक मर्य्यादा की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। कर्म-फल पर आस्था रखने के कारण अधिकतर उन्होने अच्छे पात्रो का अच्छा और बुरे पात्रों का बुरा अन्त दिखलाया है और जहाँ कहीं हो सका है बुरे पात्रों का सुधार भी कर लिया है।

इनके उपन्यासो के विषय का विकास एवं विस्तार मानवजीवन के विकास एवं विस्तार से किसी कदर कम नहीं। उनके चरित्रों के कर्म और विचार, उनके देवत्व और पशुत्व तथा उत्कर्ष और अपकर्ष में मानव जीवन का विकास और विस्तार निहित है। उसी व्यापक दृष्टिकोण के कारण इनके उपन्यासों में इतिहास, राजनीति, दर्शन तथा अन्य मानव कर्मों के विभिन्न पहलुओं का सम्यक विवेचन आ गया है। इन्होने अपने उपन्यासों के कथानक ही ऐसे गढ़े हैं जिससे उनके अन्दर तत्कालीन सामाजिक प्रश्न तथा सामाजिक कुरीतियाँ, विवाह समस्याएँ सामाजिक तथा आर्थिक मान्यताएँ, जनवादी आन्दोलन तथा उदारपंथी समाज सुधार आदि आ गये हैं। उन्होंने मानव जीवन की सीमा को समाज के शीर्षस्थ कुछ चुने चुनाये धनीमानी व्यक्तियो के सीमित दायरे तक ही सीमित नहीं रखा है, बल्कि उसके प्रति उनका एक व्यापक दृष्टिकोण रहा है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ उन्होंने अपनी आत्मीयता का परिचय दिया है। किस प्रकार के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व समाज के तिरस्कृत एव नगण्य व्यक्तियों के अन्तर्मन में भी चला करते हैं, लेखक ने उनका सजीव चित्र खींचने का सफल प्रयास किया है। प्रेमचन्दजी पहले हिन्दी उपन्यासकार थे जिन्हें हम यदि छोटी टूटी-फूटी झोपड़ियों मे ग्रामीणों के साथ अलावों के समीप बैठे बातें करते हुए पाते हैं तो गगनचुम्बी प्रासादो में पहुँचकर हेय जीवन पर घृणा प्रकट करते हुए भी।

प्रेमचन्द्रजी के उपन्यासों का साधारणत वर्गीकरण कर देना कठिन होगा। न तो हम उन्हें पूर्णत घटना प्रधान कह सकते हैं और न तो चरित्र प्रधान ही। घटनाएँ कभी तो पात्रों को चक्कर में फँसाये रहती हैं और पात्र कभी स्वय घटनाओं का निर्माण करते हैं। इनके पात्र दृढ़ चरित्र वाले तो चित्रित किये गये हैं, फिर भी वे परिस्थितियों के दास हैं और उन्हीं उलझनों

में पड़कर उनका विकास भी होता है। प्रेमचन्दजी ने राजनीति और सामाज-नीति के सुधार का जो जिम्मा अपने सर उठाया और उन दोनों की जो खिचड़ी उन्होंने अपने उपन्यासों में पकायी, उससे वे यद्यपि अपने किसी निश्चित लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सके, फिर भी इतना तो उन्होने अवश्य किया कि समाज के सच्चे और यथार्थ चित्र को पाठकों के सम्मुख ला रखा। उनके उपन्यास मानव एवं मानवता के अमर संगीत हैं। उनमें सच्चे रूपो में भारत का यथार्थ सामाजिक जीवन चित्रित हुआ है।

प्रेमचन्दजी ने प्रकारान्तर से पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी समस्याओ को उठाया और उनका हल भी प्रस्तुत करना चाहा है। कौटुम्बिक भूमि तो इन्हें इतनी प्यारी थी कि इनका एक भी ऐसा उपन्यास हमें नहीं मिलता जिसमें कि पारिवारिक समस्याओ को न उठाया गया हो। 'प्रेमाश्रम' में जागीरदारी प्रथा के टूटने के फलस्वरूप और नयी शिक्षा के कारण सम्मिलित कुटुम्ब पर गहरी चोट पड़ती है और बाद में 'गोदान' में होरी के अथक प्रयत्नों पर भी परिवार बिखर जाता है। एक छत के नीचे कुटुम्ब के सभी प्राणियों का रहना आज की शिक्षा-दीक्षा और आर्थिक व्यवस्था के रहते हुए असम्भव है, यह अनेक रचनाओं से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त सौतेली माँ, सास-बहू, देवरानी-जेठानी आदि भी अनेक उपन्यासो की केन्द्र हैं[1]।" इसके अतिरिक्त उन्होने समाज की व्यापक भूमि का भी परिवेक्षण करना चाहा है जिसमें भारत में रहने वाली विभिन्न जातियाँ और वर्ग हैं। 'रंगभूमि' के अन्दर हमें हिन्दू, ईसाई और मुसलमान पात्र-पात्रियों का अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण चित्रण मिलता है। ये ही विभिन्न धरातल हैं जिनपर प्रेमचन्दजी का सामाजिक यथार्थ चित्रित हुआ है।

इन्होंने भारत एवं भारतीय समस्याओं की गुत्थियों को समझा तो अवश्य है और उसका यथार्थ चित्रण भी किया है परन्तु उन समस्याओ और गुत्थियों की मूल प्रेरक वस्तु क्या है तथा वे समाज के समाने आती क्यो है, इसे जानने की उतनी कोशिश नहीं की जितनी की उनसे आशा की जा सकती है। समस्याओं के मूल बिन्दु पर चोट करने की अपेक्षा उन्हें समझौते का सिद्धान्त अधिक पसंद आया है। उन्होंने उसके हल की प्रेरणा देनी चाही है। इस प्रकार प्रेमचन्दजी की दृष्टि जीवन की यथार्थता पर तो रही, उन्होंने एक तटस्थ पर्यवेक्षक की भाँति सबलताओ एवं दुर्बलताओं से पूर्ण जीवन को हमारे

१—आलोचना-उपन्यास अंक, पृष्ठ ८५।

सामने ला कर रखा तो है, परन्तु वे उसका निर्माण उसी प्रकार करना चाहते थे, जैसी की कल्पना उन्होंने कर ली थी। उनके मन में आदर्श मानव और मानवता का एक चित्र था जिसको वे साकार देखना चाहते थे। यही कारण है कि उनके समस्त उपन्यासों में एक चेतनादायिनी शक्ति तथा अपार ओज और साहस का सदोपदेश एवं सन्देश है। उन्होंने पूर्णरूपेण इसका अनुभव किया कि हम परिस्थितियों को तभी बदल सकते हैं जब कि उसके लिये एक ऐसी क्रान्ति लायी जाय जो बहुमुखी हो। अपने उपन्यासों के द्वारा प्रेमचन्दजी ने इसी प्रकार क्रान्ति लानी चाही, जिसमें उन्हें अत्यधिक सफलता मिली। अपने उपन्यासों में जिस प्रकार की क्रान्तिकारी भावनाओं को प्रेमचन्दजी ने स्थान दिया, वे एकमात्र विनाशकारी ही नहीं, वल्कि उनके अन्दर सर्जन की अपार शक्ति भी विद्यमान है।

प्रेमचन्दजी की दृष्टि, भाषा, भाव, पात्र, वर्ण्य वस्तु, वातावरण तथा कथोपकथन आदि सभी दिशाओं की ओर यथार्थवादी रही। परन्तु प्रेमचन्दजी का यथार्थ निष्प्राण यथार्थ नहीं, वल्कि जीवन्त यथार्थ है जिसके अन्दर उद्भव, विकास एवं नूतन सृष्टि की सशक्त प्रेरणा है। उन्होंने जिन-जिन अवस्थाओं एव मनोदशा को देखा अथवा अनुभव किया है, उससे केवल विज्ञ पाठक को परिचित ही नहीं कराना चाहते वल्कि उसके द्वारा उत्पन्न समस्याओं का हल भी प्रस्तुत करते चलते हैं। प्रेमचन्द के अन्दर एक नव निर्माण की जो ललक थी, उसने कहीं-कहीं उन्हें अति आदर्शवादी बना दिया है। इसका कारण यही है कि उनके हृदय के अन्दर वर्तमान, जो कि अति हेय, दीन तथा घृणित है, के प्रति विरोधी भाव अत्यन्त उग्र रूप में वर्तमान थे।

प्रेमचन्दजी का सेवासदन नामक उपन्यास हमारे सामाजिक कुप्रथाओं के परिणाम की एक करुण कहानी है। प्रेमचन्दजी ही एक ऐसे उपन्यासकार थे जिन्होंने जन तथा युग जागरण की आवश्यकताओं के साथ-साथ अपने साहित्य का सृजन किया। प्रेमचन्दजी स्वभाव से ही आदर्शवादी तथा उपदेशक थे, परन्तु वे जो कुछ भी थे अथवा उन्होंने जो कुछ भी कहा है उसका मूलाधार कठोर यथार्थवादी है।

सेवासदन

यदि हम प्रेमचन्दजी को सुधारवादी भी कह दें तो अत्युक्ति न होगी। उनकी इस प्रवृत्ति का 'सेवासदन' सर्वोत्कृष्ट उदारण है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में चल कर स्पष्ट हो जाता है कि लेखक किस प्रकार के समाज का स्वप्न देख रहा है। उसके अतिरिक्त जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई वह हमारे

सामाजिक इतिहास में एक क्रान्ति का युग था, जो प्रत्येक दिशा की ओर उन्मुख थी। सारे समाज में फैली हुई कुप्रथाओं की भर्त्सना की जा रही थी और साथ ही सुधारकों की पुकार वेश्याओं के सुधार की ओर सारे समाज को आकर्षित कर रही थी। इन्हीं सभी परिस्थितियों का परिणाम सेवासदन है।

भले ही प्रेमचन्दजी ने सौ चूहे खाकर भक्तिन बनने वाली वेश्याओं को हज करने के लिए भेज दिया हो, भोली ऐसी अनेक वेश्याओं से दालमंडी खाली कर दी हो, सदन ऐसे व्यक्तियों का सुधार कर के आदर्श पुरुष बना दिया हो, परन्तु उपन्यास के पूर्वार्द्ध को पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि समाज के वास्तविक चित्र की छाया लेखक के हृदय पटल पर अंकित थी।

मनुष्य की परिस्थितियाँ किस प्रकार उसे अनैतिक कार्य करने के लिए बाध्य कर देती है, इसे हम कृष्णचन्द्र दारोगा के जीवन से भलीभाँति जान सकते हैं। दारोगाजी स्वभाव से घूसखोर नहीं थे, परन्तु उन्हे किसी न किसी प्रकार रुपया प्राप्त करना है। यदि रुपया नहीं प्राप्त करते तो वे अपनी सामाजिक मर्यादा की रक्षा करने में असमर्थ है। रूपए के अभाव में सुमन का ब्याह असम्भव है। समाज ही ऐसा है कि जिसके लिए वाह्य उपचार आवश्य है, चाहे आन्तरिक पोल कितना ही क्यों न हो, उससे उसका कोई सरोकार नहीं है। यदि समाज बुरे तथा अनैतिक कार्यों को प्रश्रय न दे तो किसी भी व्यक्ति को अपनी वास्तविक हीनता कष्टकर ही न हो और न तो लोगो को सत्कार्यों के प्रति अश्रद्धा ही हो। 'सुमन' ने अपने दीन पति की गृहस्थी में यातनाओं का तब अनुभव किया जब उसके सामने अन्य लोगों की गृहस्थी का चित्र आया। उसने देखा कि भोली वेश्या का सम्मान समाज में कितना ऊँचा है। प्रत्येक लक्ष्मी-पतियो के घरो से लेकर देवालयों तक उसकी प्रतिष्ठा है, जबकी उस स्थान तक उसके लिए प्रवेश पाना भी दूभर है। सुमन से जब वह सुमन बाई हो जाती है तो उस समय के उसके वाक्य, उसके जीवन के सच्चे अनुभव तथा वे परिस्थितियाँ है जिन्होने उसे वेश्या बना दिया। 'एक बार मैं चिम्मन लाल के ठाकुरद्वारे मे झूला देखने गयी थी, सारी रात बाहर खड़ी भींगती रही किसी ने भी भीतर नहीं जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुर द्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे चरणों से मन्दिर पवित्र हो गया। 'यदि समाज के अन्दर इस प्रकार की कुवृत्तियाँ मानव स्वभाव में न होतीं तो हमारी ही माताएँ और बहनें कभी भी रूप का बाजार लगाकर न बैठतीं।" यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ

हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण कर लिया है। यह दालमंडी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिविम्ब, हमारे ही पाशविक अधर्म का साक्षात स्वरूप है।"

प्रेमचन्दजी ने जहाँ पर इस उपन्यास के अन्दर समाज की सामूहिक समस्याओं का वर्णन किया है, वे तो यथार्थवादी हैं ही, उसके अतिरिक्त विभिन्न श्रेणी एवं समुदाय के व्यक्तियों का भी उन्होंने सजीव चित्र खींचा है। सैकड़ों गरीबों का गला घोट कर चींटी के विलों पर आटा छिड़कने वाले उन सेठ-साहूकारों का भी यथातथ्य चित्रण किया है जिनके नाम पर अनेक सुधारवादी संस्थाएँ कार्य कर रही हैं, जिनके चन्दे के रूपये धार्मिक कार्यों में लगे हैं और जिनकी आड़ में उनकी पाप लीला चला करती है। वेश्या सुधार संस्था के प्रमुख कार्यकर्ता होने पर भी जो वेश्यागमन से जरा भी नहीं हिचकते और जिनके प्रत्येक कार्य समाज को दिखला कर यश कमाने के लिए ही हैं। समाज के अन्दर विठ्ठलनाथ ऐसे एकाध व्यक्तियों का हो जाना असम्भव नहीं है परन्तु मानव के वाह्य स्वरूप से उसका अन्तर कितना भिन्न है इसको प्रेमचन्द जी ने खूब परखा है। विठ्ठलनाथजी को भले विश्वास हो जाय कि एक उच्च कुलीन हिन्दू नारी के वेश्या होने से समस्त हिन्दू समाज का मस्तक झुकता है। 'विठठलनाथजी के समझाने पर 'सुमन बाई' कहती हैं 'अभी कई सज्जन यहाँ से मुजरा सुनकर गये हैं, सभी हिन्दू थे, लेकिन किसी का सिर नीचा नहीं मालूम होता था। वह मेरे यहाँ आने से बहुत प्रसन्न थे। फिर इस मंडी में मैं ही एक ब्राह्मणी नहीं हूँ। दो-चार का नाम तो मैं आपसे अभी बता सकती हूँ जो बहुत ऊँचे कुल की हैं।' मनुष्यों के व्यक्तिगत गुणों को लेकर भी प्रेमचन्द जी ने अत्यन्त ही यथार्थ मनोवैज्ञानिक चित्रों को उपस्थित करने का भी यत्र-तत्र अवसर निकाला है।

प्रेमाश्रम

पहले ही संकेत किया जा चुका है कि प्रेमचन्दजी की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि उन्होंने अपने साहित्य की रचना युग के साथ-साथ की। १९१८ में देश की जो स्थिति थी, जब उनका सेवासदन प्रकाशित हुआ था, वह १९२१ तक आते-आते बहुत कुछ बदल चुकी थी, जब उनका 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। 'प्रेमाश्रम' के लिए प्रेमचन्दजी ने ऐसा क्षेत्र चुना जो उनका भलीभाँति जाना पहचाना था। 'सेवासदन' की भाँति सामाजिक चित्रों को सामने रखकर ही लेखक निर्णय के लिए पाठकों का मुँह नहीं ताकता बल्कि प्रेमाश्रम में उसकी भावनाएं अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आ सकी है। उसने समय की आवश्यकताओं को समझा है, कठिनाइयों का उसे पूर्ण

ज्ञात है, क्योंकि वह स्वयं उसी वर्ग का एक व्यक्ति है जो करीब सौ वर्षों से विदेशी शासकों की कूटनीति का शिकार अपने ही अन्न से पले कुत्तों द्वारा बनाया जा रहा है।

१९२० के आसपास जब देश के अन्दर पूज्य बापू के नेतृत्व में राष्ट्रीयता की एक लहर फैल रही थी, सबके अन्दर यह भाव उत्पन्न हो चले थे कि किसी न किसी प्रकार इस अंग्रेजी सरकार और अंग्रेजियत से पीछा छुड़ाना है। देश के अन्दर असहयोग आन्दोलन को सफल बनाने की तैयारी की जा रही थी। उसके पूर्व 'प्रेमाश्रम' की कल्पना ही क्यों न रही हो, परन्तु हम देखते हैं कि आगे चलकर उसी प्रकार राष्ट्रीय संग्राम छिड़ा जिस प्रकार लेखक ने इच्छा प्रकट की थी और आज भी उस कथा का यथार्थ, ऐतिहासिक महत्व अवश्य है।

जमीदारों, उनके कारिन्दो तथा प्यादों के द्वारा निरीह कृषकों पर अत्याचार होते देखकर प्रेमचन्द की आत्मा तड़प उठी थी। 'प्रेमाश्रम' में किसानों की दुर्दशा, जमींदारों के अत्याचार, पुलिस के हथकंडे, अफसरों और उनके मातहतों की धाँधली, वकीलों की नमकहरामी, न्यायाधीशों का अंधापन आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। इस उपन्यास के अन्दर जमीदारों तथा किसान, दो वर्गों के अधिकारों का संघर्ष दिखलाया गया है। किस प्रकार गौस खां 'ज्ञानशंकर' की जमींदारी में किसानों को परेशान करता है, किस प्रकार सिपाही और प्यादों के द्वारा बेगारी ली जाती है तथा उन्हें बेइज्जत किया जाता है। एक मरीज़ का निदान चाहे हो सके अथवा वह मर जाय पर गाड़ी को बेगार में ले जाने से कोई रोक नहीं सकता। किसानों की स्वतन्त्र भावनाओं को किस प्रकार कानून के झूठे हथकंडों द्वारा निर्मूल किया जाता था, किस प्रकार बिसेसरसाहु के यहाँ से २००) का सामान ले जाकर ७५) ही दिया जाता था और पुलिस की झूठी गवाहियों के आजदिन भी कितने निरीह शिकार होते रहते हैं।

किसानों का घर जलाना, चौपायों को चारागाहों में न चरने देना, भूखे तथा दीन किसानों के ऊपर बेदखली तथा इजाफा के मुकद्में चलाना, हाकिमों को दावतों तथा डालियों से खुश करके नाजायज फैसला करवा लेना, आदि जमीदारों के दाँये-बाँये हाथ का खेल था। कादिर मियां के नेतृत्व में किसानों का जागरण बतलाता है कि राष्ट्रीय चेतना भारतवासियों के अन्दर व्यापक रूप से जग रही थी, चाहे वे हिन्दू हों अथवा मुसलमान। 'प्रेमाश्रम' के अन्दर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की यथार्थ रूपरेखा हमें देखने को मिल जाती है।

रंगभूमि

समय के साथ-साथ समाज और उसकी परिस्थितियों मे अन्तर पड़ता रहता है और समाज के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य और उसके मानदंड भी बदलते जाते हैं। आज जो वास्तविक है कल वही अवास्तविक हो सकता है। इसलिए किसी भी साहित्यकार का ठीक-ठीक मूल्याकन करने के लिए हमको उसके युग एव परिस्थितियों में जाना होगा जिसमे और जिसके लिए साहित्यकार ने अपने साहित्य की सृष्टि की थी।

रगभूमि प्रेमचन्दजी का पहला उपन्यास है जिसके अन्दर भारत में ही रहने वाले दो समाज, जिनके पारस्परिक रीति रिवाज, संस्कार एवं धार्मिक आचार-विचार एक दूसरे से भिन्न हैं, चित्रित किये गये है। इसमें सन्देह नहीं कि इस सर्जन में साहित्यकार को कोई न कोई बहुत बड़ी समस्या का समाधान ढूँढ़ना इष्ट रहा होगा और निश्चित ही इसमें हमें उसका समाधान ही मिलता है। इस उपन्यास के अन्दर तीन चार वर्गों का समावेश हो पाया है और लेखक अपनी कला के द्वारा उनके वास्तविक चित्र को उभाड़ने में सफल भी हो सका है। एक तो है उन ईसाइयो का वर्ग, जो भारत का अन्न-जल तो खाता है, परन्तु अंग्रेजियत की नींद सोता है और विलायत का ही स्वप्न देखता है। एक विदुषी ईसाई कन्या सोफी के विचार स्वातन्त्र्यों को चित्रित करके प्रेमचन्द ने ऐसे ही ईसाई समाज के आडम्बरों का भंडाफोड़ कराया है।

अन्धा 'सूरदास' ग्राम्य जीवन का प्रतीक और महात्मा गाधी के विचारो का सच्चा प्रतिनिधि है। महात्मा गाधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह की प्रणाली का प्रभाव प्रेमचन्दजी के ऊपर पड़ा था जिसकी प्रेरणा ने उनके अमर चरित्र सूरदास का निर्माण किया। पंडा नायकराम, बजरगी अहिर, भैरो पासी आदि नागरिकों का चरित्र, उन ग्रामवासियों का चरित्र है जो देश को आगे बढ़ने से रोक ही नहीं रहे बल्कि उसे पीछे की ओर खींच भी रहे हैं। लेखक ने एक ओर तो सुभागी का सच्चा स्त्री-भाव तथा दूसरी ओर ताहिर की विमाताओं की कुटिलताओं का दिग्दर्शन कराया है। ताहिर का जीवन उस समय के ही नहीं आज के भी मध्यवर्ग के नागरिक की एक करुण कहानी है।

सबसे बड़ा जो व्यग प्रेमचन्दजी ने किया है, वह यह जिसे स्वायत्त शासन (Local Self Government,) कहते हैं, जो भारतवासियों के लिए बहुत बड़े पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुआ था। राजा महेन्द्र सिंह नगर पालिका के प्रधान होते हुए भी किस प्रकार शासक वर्ग से दबे हुए रहते हैं तथा अंग्रेजों की कुटिल नीति किस प्रकार कार्य करती रहती थी, आदि का

सजीव चित्रण किया गया है। शासन-नीति का वाह्य रूप कुछ और तथा व्यौहार में कुछ और था। मि० क्लार्क को कमिश्नर का सुझाव तथा दण्ड के रूप में उसकी तरक्की इस कुटिल नीति का सजीव प्रमाण है। इसके अन्दर राजनीतिक जीवन का भी बड़ा मनोवैज्ञानिक यथार्थ चित्रण मिलता है। पुरुषों से अधिक साहस और उत्साह दिखाने वाली स्त्रियों का समर-क्षेत्र में उतरना हमारी राष्ट्रीय जाग्रति का पुनीत परिचय है। देश के सत्याग्रह संग्राम में महिला स्वयंसेविकाओं के सदुत्साह को देखकर ही सम्भवतः प्रेमचन्द ने सोफिया, इंदु और रानी जान्हवी की अवतारणा की थी।

'प्रेमाश्रम' को लेकर आलोचकों ने प्रेमचन्द के ऊपर उनके स्वप्नदर्शी होने का जो आरोप किया था उसे लेखक ने रंगभूमि में अत्यधिक बचाया है। लेखक ने इसके अन्दर भावनागत रामराज्य का निर्माण नहीं कराया है और उसने किसी भी स्थान पर यथार्थ की ओर से अपनी आँखें बन्द नहीं की हैं।

कायाकल्प

कायाकल्प जैसे आध्यात्मिक एवं काल्पनिक उपन्यास के अन्दर भी प्रेमचन्द जी ने तत्कालीन समस्याओं का समावेश कर ही दिया है। जिस समय लेखक ने 'कायाकल्प' की सृष्टि की, उस समय भारत का राजनैतिक वातावरण हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के कारण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था और उसका हल ढूँढ निकालने तथा सुलझाने में बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ नेताओं की बुद्धि चकरा रही थी। जबतक हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों में ख्वाजा 'महमूद' और 'यशोदानन्द' जैसे उदार दृष्टि वाले नहीं पैदा होंगे तबतक संकुचित धर्मान्धता का नंगा नाच होता ही रहेगा, ऐसा प्रेमचन्दजी का अडिग विश्वास था। बेगार में पकड़े जाने वाले मजदूर और किसानों की अवस्था का यथार्थ चित्रण करना प्रेमचन्दजी के लिये कोई नवीन वस्तु नहीं है, उनके तो वे वकील ही थे और उनका सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य इस प्रकार के वर्णनों से भरा है।

गबन, प्रतिज्ञा, और निर्मला

कायाकल्प के पश्चात् प्रकाशित प्रेमचन्द का 'गबन' नामक उपन्यास उनके अन्य पूर्व के उपन्यासों से बहुत कुछ भिन्न है। इसके अन्दर लेखक की मनोवैज्ञानिक प्रतिभा का चमत्कार अत्यधिक दिखलायी पड़ता है। परिस्थितियों में पड़कर किस प्रकार व्यक्ति का निर्माण अपने आप ही परिस्थितियों के अनुसार हो जाता है, 'रमानाथ' के जीवन में आये अनेक परिवर्तन इसके उदाहरण हैं। परन्तु पात्रों के चरित्रों का लेखक ने जो विकास दिखलाया है वह अत्यन्त ही

यथार्थ एवं वास्तविक है। यों तो उन्होंने प्रायः अपने सभी उपन्यासों में समाज के किसी न किसी अत्याचारी वर्ग की धाँधलियों को अनावृत करने का प्रयत्न किया है, परन्तु भारतीय पुलिस की कार्यवाहियों का खोखलापन जितने वास्तविक रूप में 'गबन' में दिखलाया गया है उतना अन्य किसी में नहीं। १९२९ और १९३० में मेरठ कासपिरेसी केस और लाहौर दिल्ली का बमकाँड हुआ था जिसमें एक मुखबिर पकड़ा गया था। मुखबिर को पुलिस वालों ने ऐसा बयान रटाया था कि उसकी लपेट में 'जवाहरलाल' जी भी आ गये थे। पुलिस के उन तिकड़मों का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से 'गबन' लिखते समय लेखक के ऊपर था।

'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' आदि के समान 'निर्मला,' 'प्रतिज्ञा', और 'गबन' में किसी सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलन का व्यापक चित्रण नहीं किया गया है, फिर भी लेखक समसामयिक समस्याओं की माँग को ठुकरा नहीं सका है। उनके अन्दर भी समाज और शासन व्यवस्था के किसी न किसी दुर्बल पक्ष का चित्रण अवश्य ही मिलता है। जहाँ कहीं भी प्रेमचन्द जी अवसर निकाल सके हैं, उन्होंने समाज के चित्रों को उभाड़ कर रखने का प्रयास किया है। समाज के ऐसे लोगों से प्रेमचन्द को अत्यन्त घृणा थी जो थोड़े से कम्बलों का दान कर हरिश्चन्द्र बनना चाहते हैं और उसकी आड़ में सैकड़ों दीन किसानों और मजदूरों का गला घोंट देने में जरा भी नहीं हिचकते। उनके अनुसार "उसे पापी कहना चाहिये, महापापी। दया तो उसके पास से होकर भी नहीं निकली। उसकी जूट की मिल है। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता इसके मिल में होती है और कहीं-नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है चरबी मिला घी बेचकर इसने लाखों कमा लिये। यदि साल में दो-चार हजार दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे।" 'निर्मला' ऐसा समाज को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करने वाला उपन्यास हिन्दी साहित्य से दूसरा लिखा ही नहीं गया। इसके अन्दर अनमेल विवाह तथा विमाता की समस्या का सजीव चित्रण है।

कर्मभूमि

१९३२ में एक बार जब पुन देश ने 'प्राणों की बाजी' लगायी और सविनय अवज्ञा का और दौर-दौरा बढ़ा तो इस स्वतंत्रता संग्राम में पुलिस ने विभिन्न प्रान्तों में अनेक अमानुषीय अत्याचार किये। बात-बात पर गोलियाँ चलीं और लगान अदा करने की सामर्थ्य न रखने वाले किसानों को बागी कह कर दंडित किया गया। पुरुषों के अलावा पर्दे में रहने वाली हिन्दू तथा मुस्लिम स्त्रियों के

मानवता के समस्त नियमों के विरुद्ध दिन दहाड़े अत्याचार किये गये। परिस्थितियों को देखकर प्रेमचन्दजी का हृदय आहत हो उठा और नागरिको कर्म करने की प्रेरणा देने के लिए उन्होंने 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास का र्माण किया। 'कर्मभूमि' भी 'रंगभूमि' तथा 'प्रेमाश्रम' की भाँति दीन कृषको वं श्रमिको की मौन वाणी का स्वर है। 'इसमें शिक्षा संस्थाओं की अर्थ व्यवसायी नीति, म्यूनिसपल कर्मचारियों की स्वार्थपरता, सेठ-साहूकारों के नार्जन के घृणित उपाय, मठाधीश—महंत तथा जमींदारों की विलासिता एवं क्रूरता तथा राज्य कर्मचारियों के आत्मपतन तथा स्वेच्छाचार आदि की बड़ी ही यथार्थ और कलात्मक व्याख्या हुई है। 'मुन्नी' रेणुका देवी, नैना, सकीना, तथा पठानिन, आदि महिलाओ को सत्याग्रह संग्राम में जो सक्रिय दिखलाया गया है, उससे पता चलता है कि उस समय तक महिला समाज के अन्दर भी राष्ट्रीय चेतना का जागरण आ चुका था। जेल में आयी हुई नायिकाओं को जब सेठ 'समरकाँत' गवर्नर की आज्ञा सुनाता है कि 'सारे कैदी छोड़ दिये जाँय और कमेटी करके निश्चय कर लिया जाय कि हमें क्या करना है तो हमें १९३१ में हुए गाँधी-इरविन समझौते का स्मरण हो उठता है।

गोदान

प्रेमचन्दजी के उपन्यासों को लेकर आलोचकों ने जितने प्रश्न उठाये थे, उन सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए तथा उपन्यास साहित्य के इतिहास में अन्य नवीन प्रश्नों की उद्भावना करते हुए 'गोदान' नामक उनका अन्तिम उपन्यास प्रकाशित हुआ। एक ही उपन्यास 'गोदान' के अन्दर जन-जीवन तथा समाज अथवा देश की धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियो के जितने विविध चित्र लेखक ने समेट कर यथार्थ रूप में चित्रित किये हैं, उतने चित्र सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य मे ढूँढ़ने पर ही मिलेंगे, और एक स्थान पर मिलना तो असम्भव ही है। 'गोदान' ग्रामीण जीवन के वास्तविक पक्ष का गद्यात्मक महाकाव्य है। सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य के अन्दर समाज एवं मानव भावनाओं के अधिक से अधिक जितने चित्र खींचे जा सकते हैं, उतने चित्र अकेले हमें गोदान में ही प्राप्त हो जाते हैं। जीवन दर्शन के प्रत्येक मोड़ों तथा समाज में होने वाले अनेक परिवर्तनों का चित्रण हमें 'गोदान' में एक साथ मिल जाता है। हमारे देश के अन्दर नागरिकों के दो प्रमुख जीवन स्तर हैं। उनमें एक तो वह जो नगरों में रहता और भारतीय होकर भी अपने को भारतीय कहने में शरमाता है, तथा दूसरा वह है जिसके अन्दर गाँवों अथवा देहातों के सबसे बड़े भारतीय जनसमूह का जीवन है, जहाँ पर ही सच्चा भारत निवास करता

दायित्वों के प्रति अधिक सतर्क है, पर साथ ही साथ हमें उसके बोझिल जीवन का भी हल्का सा संकेत मिल जाता है। एक दीन किसान के हृदय में अपनी गृहस्थी बनाने की कितनी प्रबल उत्कंठा रहती है, वह अपने परिवार को किस प्रकार सुखी देखना चाहता है, आदि सभी बातों का ज्वलंत चित्र होरी के चरित्र-विकास के साथ-साथ देखने को मिल जाता है। दीनता ही मनुष्यों के परख की कसौटी है। दीनों का अलग एक व्यक्तित्व होता है। होरी दीन है, निराशाओं का अथाह सागर उसके सामने लहरें ले रहा है, परन्तु उत्सवों में वह जनक के माली का भी अभिनय कर सकता है।

दीन बहुधा समाज के लिए अभिशाप से लगते हैं जिसका अनुभव हम अपने दैनिक जीवन में भी कर सकते हैं। यदि समाज अपनी सहयोगी भावनाओं को बल देता रहे तो एक बार बड़ी से बड़ी विपदाएँ आसानी के साथ टाली जा सकती हैं। वास्तविकता यह है कि साधारणतः यह समाज कभी डूबते हुए को तिनके का सहारा देने के लिये तैयार नहीं होता। एक दूसरे का शोषण करने की जो भावना समाज में वर्तमान है, उसके द्वारा व्यक्ति विशेष का ही नहीं, बल्कि समय-समय पर समाज के प्रत्येक व्यक्ति का शोषण होता रहता है। हम देखते हैं कि किस प्रकार 'होरी' को धर्म और अंत में समाज की आज्ञाएँ माननी पड़ीं जिसमें पंडित मातादीन और पटेश्वरी का विशेष हाथ रहा। परन्तु ये दोनों भी अपने पाप कर्मों के परिणाम से बच न सके। यदि मातादीन को दातादीन के प्रायश्चित में रुपये खर्च करने पड़े तो पटेश्वरी से राय साहब ने ही वसूल किया। इन दो चरित्रों को चित्रित कर मुंशी प्रेमचन्द ने देहाती दलालों का एक खासा चित्र उपस्थित कर दिया है।

'गोदान' के अन्दर लेखक ने समाज के विविध पक्षों का अध्ययन किया है। सम्पत्ति का लोभ एक ऐसा लोभ होता है जिसके सामने आते ही कम ऐसे लोग मिलते हैं जिनका सिद्धान्त कार्य रूप में परिणित हो पाता है। इसमें शक नहीं कि राय साहब हृदय से समाज के हित में विश्वास रखते हैं, परन्तु जहाँ भी उनकी रियासत का प्रश्न आ जाता है उनका कठोर लोभी पक्ष उग्र रूप धारण कर लेता है। सम्पत्ति में कितनी कामुकता, कितनी लोकप्रियता, कितनी व्यवहार कुशलता तथा हृदय की कितनी अस्पष्टता होती है इसका हम एक मात्र अवलोकन 'गोदान' में मिस्टर खन्ना के जीवन के अध्ययन से ही कर सकते हैं। वैभवशाली व्यक्तियों की मित्रता किस परिधि तक सीमित रहती है इसका एकमात्र निरूपण हमें प्रेमचन्दजी के उन पात्रों से मिल जाता है जिनका जमघट मिस्टर खन्ना और रायसाहब के आसपास होता था।

इस उपन्यास में लेखक ने यदि एक ओर सामाजिक एवं पारिवारिक कुरीतियों का चित्रण किया है तो दूसरी ओर एक आदर्श जीवन की ओर संकेत भी किया है। उनका यह दृढ़ निश्चय था कि सामाजिक सत्ता स्त्री और पुरुष दोनों पर समान रूप से निर्भर करती है। स्त्री और पुरुष समाज रूपी रथ के दो पहिये हैं जिसमें एक की भी दुर्बलता पर समाज का बढ़ना असम्भव है। समाज में एक दूसरे का पारस्परिक संबंध कैसा है और कैसी परम्परा चली आ रही है आदि का सजीव चित्र उन्होंने 'गोदान' में खींचा है। मेहता की विद्वता का सारा समाज लोहा मानता है, परन्तु उसकी भी दृष्टि स्त्रियों की ओर रूढ़िवादी ही है। उसका कारण यही है कि आरम्भ में उसने स्त्री समाज को निकट से जाकर समझने का प्रयत्न नहीं किया। वह शिक्षित कही जाने वाली स्त्रियों को तितलियों के रूप में ही ग्रहण करता रहा। उसे 'मालती' की विद्धता में भी स्त्री चरित्र की माया ही झलकती है, क्योंकि वह ऐसे ही समाज से घिरा हुआ है जिसकी यह धारणा ही है। उसके व्यवहार लोगों को प्रपंच जान पड़ते हैं। जिस ओर वह अपनी कृपा-दृष्टि डालती है, लोग उसे आकर्षण समझने लग जाते हैं। अधिकांश लोगों ने उसके प्रेम को बाजारू ही समझा था। मेहता के ये वाक्य और भी इसकी पुष्टि कर देते हैं—'क्या आप सारी दुनियाँ को बेवकूफ समझती हैं········मैं उन्हें दोष नहीं दे सकता।"

खन्ना को तो पूरा विश्वास ही है कि जब वह उनसे बराबर रुपये उधार लेती है और हजम कर जाती है तो अवश्य ही उन्हें दिल से चाहती है। साधारण स्त्री समाज में भी उसका आदर नहीं। श्रीमती खन्ना तो उसे वेश्याओं से भी गयी बीती समझती है—'मेरी समझ में वह वेश्याओं से भी गयी बीती है क्योंकि वह परदे की आड़ में शिकार खेलती है।" मालती क्या है? वह समाज की रूढ़िवादी दृष्टियों से नहीं परखी जा सकती। जब तक समाज अपने रूढ़िवादी पारम्परिक आवरण को हटा नहीं देगा तब तक उसके चरित्र का मूल्यांकन करना उसके लिए सम्भव नहीं। 'मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। उसके जीवन में हँसी हँसी नहीं, केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है और जीये भी तो वह कोई सुखी जीवन न होगा। वह हँसती है इसलिए कि उसे हँसने के भी दाम मिलते हैं। उसका चहकना और चमकना इसलिए नहीं कि वह चमकने और चहकने को ही जीवन समझती है। या उसने निजत्व को अपनी आँखों में इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे अपने ही लिए करे नहीं वह इसलिए चहकती है और विनोद करती है कि इससे उसके कर्तव्य का भार कुछ हलका हो जाता है।' परन्तु अन्त में हम देखते हैं कि मालती और

मेहता को हमने जो समझा था उससे दोनों भिन्न निकले। हमें कभी विश्वास नहीं हो सकता था कि मालती को भी वह हृदय मिला है जिसके अन्दर केवल एक ही व्यक्ति आयेगा जो मेहता होंगे और मेहता ऐसे व्यक्ति को भी अपने सिद्धान्तों में हार खानी पड़ेगी। अगर होरी का जीवन यथार्थ का सच्चा चित्र है तो निसन्देह 'मालती' एक आदर्श नारी की समाज में कल्पना।

हम प्रेमचन्दजी की मालती को इसलिए यथावत ग्रहण करने में सकुचते हैं कि समाज में ऐसे नमूने प्राय: कम देखने को मिलते हैं जिसके लिए प्रेमचन्द नहीं, बल्कि भारत की रूढ़िवादी परम्परा उत्तरदायी है। हम इस समय ऐसे वातावरण में उपस्थित हैं कि सत्य और असत्य का निर्णय करना हमारे लिए अत्यन्त कठिन हो गया है। हममें न तो यही साहस है कि प्राचीन परम्परा को निर्मूल तथा निराधार सिद्ध कर दें और न तो उसका पूर्णरूपेण समर्थन करने को ही हम प्रस्तुत है। परन्तु इतना तो हम कह ही सकते है कि कोई भी परम्परा तभी तक मान्य है जब तक कि उससे समाज की उन्नति में अवरोध नहीं उपस्थित होता। यदि प्रेमचन्द जी ने एक समुन्नत समाज के लिए मालती ऐसी नारी की कल्पना की तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मालती के चरित्र को लेकर वे साधारण समाज के पास नहीं आये, बल्कि वे एक उन्नत समाज के शिखर पर बैठ कर साधारण समाज को चोटी पर बैठने के लिए आमन्त्रित करते हुए दिखलायी पड़ते हैं। इसे हम प्रेमचन्द जी की आदर्शवादी प्रवृत्ति का आग्रह ही कह सकते हैं।

'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द जी बदल अवश्य गये थे, इतना स्वीकार करना पड़ेगा। उन्होंने जीवन भर कठिनाइयों और संघर्षों से जूझ कर जो मान्यताएँ मानव जीवन के प्रति स्थापित की थीं, वे सब उन्हें ही असत्य जान पड़ने लगीं। मानवता की अन्तिम विजय के प्रति भी उनका विश्वास डिगने लगा था। सभी समस्यायो, कठिनाइयों, विपत्तियों तथा बुराइयों से लोहा लेने पर भी प्रेमचन्द होरी के रूप में पिसते ही गये। ऐसा लगता है कि समाज और ससार की सारी शक्तियाँ उन्हें ही पीसने को दौड़ी चली जा रही हैं। यह भले ही है कि उन्होंने हार को जीवन की जय-यात्रा मान ली परन्तु वह उनकी वास्तविक हार ही थी। जीवन संग्राम मे होरी की सदा हार हुई जिसे वह विजय पर्व ही मानता रहा। इतना अवश्य है कि प्रेमचन्द जी ने संघर्ष से कभी भी मुख नहीं मोड़ा। होरी अपनी पराजय के बावजूद भी निरन्तर संघर्ष करता ही गया। उसकी यही सबसे बड़ी महानता है। इस सघर्ष के क्रम में उसकी स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताएँ भी उभरीं अवश्य, परन्तु उसके सामान्य

व्यक्तित्व में भी महानता है। प्राकृतिक जीवन में भी श्रेष्ठता के चिन्ह होते हैं, इनके दर्शन हमें होरी के जीवन में मिल जाते हैं।

यदि गोदान के चरित्रों की सूची तैयार की जाय तो जितने व्यक्ति या वर्ग हो सकते हैं, सबका प्रतिनिधित्व इस उपन्यास में मिल जायगा, इसमें सन्देह नहीं। इस उपन्यास में लेखक ने तत्कालीन सामूहिक भारत का एक वास्तविक चित्र खींचना चाहा है और वह यथार्थ के लिए जितना निष्पक्ष अपनी इस कृति में हो सका है, उतना अन्य में नहीं।



सातवाँ अध्याय

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

यथार्थ और आदर्श का संघर्ष

उपन्यास साहित्य न तो पूर्णत यथार्थवादी हो सकता है और न वह एक मात्र आदर्शवादी होकर ही अपनी उपादेयता अधिक समय तक स्थायी रख सकता है। जब कि उपन्यास साहित्य का आविर्भाव ही मानव जीवन के यथार्थ चित्रण के लिए हुआ है, वह फिर भी पूर्णत यथार्थवादी नहीं हो सका है। इसका एक मात्र कारण यह है कि मानव जीवन संसार के अन्य प्राणियो तथा जड पदार्थों की अपेक्षा अधिक गतिशील है, वह अधिक से अधिक परिवर्तन चाहता है जिससे साहित्य के लिए यह सर्वथा कठिन है कि वह उसकी कोई एक निश्चित व्याख्या कर सके। साहित्य का यथार्थ अन्य वाह्य जगत के यथार्थों से बिल्कुल भिन्न है। साहित्यिक यथार्थ के ऊपर कल्पना और आदर्श का गहरा रग रहता है, जिससे हम उसे यथातथ्य फोटोग्रैफिक चित्र नहीं कह सकते। साहित्य मे आदर्श जब तक यथार्थ के साथ सहायक रूप में आता है अथवा आदर्श के साथ यथार्थ का सामजस्य हो जाता है तो उसका मानव जीवन में कुछ मूल्य ठहरता है, अन्यथा वह लेखक और पाठक के मानसिक व्यायाम से अधिक अपना कुछ अर्थ नहीं रखता। साहित्य और साहित्यकार के बीच यह आदर्श और यथार्थ का संघर्ष निरतर चलता रहता है और वही साहित्यकार महान एव यशस्वी हो पाता है जो इन विरोधी दो प्रवृत्तियो में सामंजस्य स्थापित कर के एक तीसरा अनुभवजन्य रसायन तैयार करता है।

प्रेमचन्दजी हिन्दी साहित्य के सर्व प्रथम प्रमुख उपन्यासकार कहे जा सकते है जिन्होने भारतीय जीवन की वास्तविकता को उसके निकट से से झाँक कर देखने का प्रयत्न किया और उनका देखा हुआ, दीन, दुखी, दुर्बल, प्राचीन रूढ़ियो एवं परम्पराओं से जर्जरित तथा नव युग के जन जागरण से अपरिचित समाज ही भारत का वास्तविक समाज था। परन्तु प्रेमचन्दजी ने जिस समय, साहित्य में अपने प्रौढ़ रूप मे प्रवेश किया, उस समय तक देश के अन्दर नव जागरण की हलकी सी लहर फैलनी आरम्भ हो गयी थी, जिसका प्रभाव उनके उपन्यासो में स्पष्ट लक्षित होने लगा है। प्रेमचन्द जी ने भारतीय जीवन तथा उसके दलित समाज को देखकर, उसका यथातथ्य चित्रण मात्र ही

नहीं कर दिया है, बल्कि इस हीन स्थिति के मूल कारण को जानने के लिए गम्भीर चिन्तन को भी उन्होंने अपनी कृतियों में स्थान दिया। अपने साहित्य के द्वारा वे मानव समाज के सामने एक ऐसा हल प्रस्तुत करने के लिए दत्तचित रहे, जिससे समाज दम घुटने वाले वातावरण से किसी प्रकार हट कर पवित्र स्वच्छ वायु में स्वाँस ले सके। वे जीवन को उसके रूप में केवल देखना ही नहीं चाहते थे, बल्कि जीवन का एक रूप उनकी आँखों के सामने नाचता रहता था। जिस आदर्श रूप तक वर्तमान समाज को पहुँचा देने की प्रेरणा अपने साहित्य के द्वारा वे प्रदान करना चाहते थे। उनके सामने जीवन कैसा है, यह समस्या उतनी बड़ी नही थी जितनी थी कि जीवन कैसा होना चाहिये। यही कारण है कि प्रेमचन्दजी की दृष्टि यथार्थवादी होते हुए भी आदर्श की ओर उन्मुख थी।

उपन्यास साहित्य का विकास जिन परिस्थितियों की देन है, उसके मूल में जो प्रेरणा कार्य करती रही उसने साहित्य की इस आदर्शोन्मुखता को बड़ा जबरदस्त धक्का दिया जिससे इसकी दीवार बिल्कुल गिर तो नही गयी, परन्तु हिल अवश्य गयी। मुद्रण यन्त्र के आविष्कार ने एक ओर साहित्य के प्रचार में जितना योग दिया, उतना ही उसने दूसरी ओर उसके नियामको की प्रवृत्ति में अन्तर भी उपस्थित कर दिया। साहित्यकार के सामने समाज के कल्याण की कामना, तथा कला कला के लिए है की भावना, उतनी प्रधान नहीं रह गयी जितनी कि उसकी वणिक वृत्ति प्रधान हो उठी। जब साहित्यकार के सामने साहित्य के द्वारा अर्थोपार्जन की समस्या रहती है तो उसे पाठको के लिए अपनी कृति का निर्माण करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में साहित्य पाठक का निर्माण नही करता बल्कि पाठको की रुचियाँ साहित्य तथा उसकी कथावस्तु का निर्माण करती हैं।

समाज के अन्दर ऐसे पाठकों की संख्या अत्यन्त ही न्यून है जिन्हें परिष्कृत रुचि का पाठक कहा जा सके, ऐसे ही व्यक्तियों की संख्या अधिक है जो विलासी तथा कुरुचिपूर्ण इच्छाओं के दास हैं। ऐसी स्थिति में लेखक अपनी अधिक से अधिक प्रतियाँ बिकवाने तथा अर्थोपार्जन करने के लिए ऐसे साहित्य का निर्माण करेगा जो बहुसंख्यक पाठकों की रुचियों का प्रतिनिधित्व कर सके। वह अपनी कृतियो को अधिक से अधिक वास्तविक बनाने के लिए साधारण से साधारण वस्तुओ तथा मनोवृत्तियों का चित्रण करेगा। जिससे वह पाठको का विश्वासी मित्र बन सके। ऐसी स्थिति में यथार्थ के नाम पर अवांछित वस्तुओं का साहित्य में प्रवेश पा जाना स्वाभाविक ही है।

किसी भी वाद की पराकाष्ठा साहित्य के लिए अक्षम्य है। यदि काल्पनिक आदर्शो तथा स्वप्निल तत्वों का ही एक मात्र प्रवेश साहित्य के अन्दर कर दिया जाय तो वह मानव सम्पर्क से इतनी दूर की वस्तु हो जायगी कि हम किसी भी प्रकार की प्रेरणा उससे न प्राप्त कर सकेंगे और न वह साहित्य ही अधिक दिन तक टिकाऊ हो सकता है। कोई भी साहित्य तभी स्थायी होगा जब कि उसका सम्पर्क मनुष्य के यथार्थ जीवन से होगा। आडम्बर, चमत्कार तथा बड़े-बड़े आदर्शों की कल्पना समय पाकर मुरझा जाती है, परन्तु वास्तविकता पर समय का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। हम नित्य ऊँचे-ऊँचे आदर्शों को सुन तथा अध्ययन कर अपने जीवन मे उसे उतारने में इसलिए असफल रहते हैं कि वह सत्य नहीं है। वास्तविकता की एक हल्की सी लहर कल्पनाओं के पहाड़ से बढ़ कर है।

शिक्षा संस्थाओ तथा बड़ी बड़ी सभाओ मे हम उच्च कोटि के व्याख्यान, चोटी के विद्वानो तथा महापुरुषों द्वारा सुनते हैं, परन्तु जब वहाँ से चलने लगते हैं तो उसे वहीं छोड़ आते हैं। परन्तु जीवन में कभी ऐसे भी अवसर आ जाते हैं जब किसी की एक मृदु मुस्कान जीवन पर्यन्त के लिए हृदय पटल पर एक अमिट रेख छोड़ जाती है। इसका क्या कारण है? वह मुस्कान की वास्तविकता है जिसे समय नहीं छीन सकता। एक असुन्दर युवती का प्रेम जीवन को सार्थक बना सकता है, परन्तु परी की कल्पना से हमें प्रेम का वैसा आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि उसमें वास्तविकता नहीं है, वह अयथार्थ है। यथार्थ वह शक्तिशाली प्रयत्न है जो सहस्रो कोरी कामनाओं से बढ़कर है। एक छँटाक यथार्थ की तुला पर मन भर का आदर्श नहीं तौला जा सकता।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की व्याख्या

आदर्शोन्मुख 'यथार्थवाद' मानव की दयनीय एवं कुरूपताओं से भरी हुई विषम परिस्थितियों की वास्तविक कठोरता में चमक जाने वाला वह काल्पनिक आलोक है जिसके द्वारा जीवन से निराश, परिस्थितियों की मार से घबड़ाये हुए तथा रास्ते में हताश मानव के अन्दर आशा और विश्वास का संचार हो जाता है। इसके द्वारा ही मानव समाज अपने जीवन की अनेक असफलताओं के बीच निरन्तर संघर्ष करते रहने पर भी निराश नहीं होता और भविष्य में जीवन की सफलता की बराबर कामना करता रहता है। आशा ही मानव जीवन में एक ऐसा तत्व है जो उसे गतिशील रखता है, नहीं तो वह कभी भी अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करने का नाम भी न लेता। साहित्यकार कुछ ऐसे चरित्रो का निर्माण करता है जो आरम्भ में हमारे ऐसे ही रहते हैं, परन्तु जीवन के

संघर्षों में रत रहने के कारण अन्त में समाज के एक ऐसे प्रतिष्ठित स्थान को प्राप्त कर लेते हैं जिसकी कल्पना हम अपने दयनीय जीवन में किया करते हैं। ऐसे ही पात्रों के द्वारा साहित्य में आशा के भावात्मक स्वरूप की साकार अभिव्यक्ति की जाती है।

सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य के भीतर प्रेमचन्दजी इस प्रकार के चरित्रो के निर्माण में सर्वोच्च कलाकार के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। अतः आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के सम्बन्ध में उनके मत को जान लेना हमारे लिए परम आवश्यक है। उनके अनुसार 'यह मानव स्वभाव है कि वह जिन छल-छद्मों तथा कुरुचिपूर्ण परिस्थितियों से स्वयं घिरा रहता है, उसका बार-बार विवरण नहीं सुनना चाहता, वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार मे उड़कर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओ के बंधन से पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय उदार प्राणियो के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो[१]।' किसी एक संकीर्ण क्षेत्र के अन्दर जब हम घिर जाते हैं और अथक परिश्रम के पश्चात् शिथिल हो जाते हैं तो इच्छा होती है कि मुक्त आकाश के अन्दर निकल कर किसी एक निकुंज में निर्मल स्वच्छ पवन का आनन्द लें, इसी आनन्द की पूर्ति आदर्शवाद करता है। 'वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिसके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित है, जो साधु प्रकृति के होते हैं।

अपनी वास्तविक स्थिति के आधार पर ही हम अपने भावी जीवन में एक आदर्श जीवन की कल्पना करते हैं। "यथार्थवाद यदि आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठा कर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।" परन्तु यथार्थवाद के अन्दर सदैव यह भाप बना रहता है कि साहित्यकार कहीं ऐसे चरित्रों का निर्माण न कर बैठे जो एकमात्र सिद्धान्तों की मूर्ति ही हो। 'किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं, 'लेकिन उस देवता में प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।' इसलिए उच्च कोटि का साहित्य वही कहा जा सकता है जिसके अन्दर यथार्थ और आदर्श दोनों का समावेश हो जाय। दूसरे शब्दों में में यही प्रेमचन्दजी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है जिसके अनुसार आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिये।

किसी भी चरित्र के श्रेष्ठ होने का अर्थ नहीं कि वह बिल्कुल दोषमुक्त हो। दुर्बलताओं का मनुष्य के अन्दर होना स्वाभाविक है और वही उसे

१—प्रेमचन्द—'उपन्यास' शीर्षक लेख से।

मनुष्य बनाती है, नहीं तो वह उठकर देवताओ की श्रेणी मे आ जाय जिसका परिणाम यह होगा कि ऐसे चरित्रों से न तो हमारा विश्वास ही दृढ हो सकेगा और न तो उनसे हमें प्रेरणा ही प्राप्त हो सकती है।

हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरजन के लिए नहीं था। बल्कि उसका मुख्य उद्देश्य मनोरजन के साथ-साथ आत्म परिष्कार भी था। जिन चरित्रो का हम निर्माण करें वे यथार्थ हो और "उनके चरित्र दृढ हों, जो प्रलोभनो के सामने सिर न झुकाये बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओ के पजे मे न फँसें बल्कि उनका दमन करे, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओ का सहार कर के विजय नाद करते हुए निकलें[१]।"

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और प्रेमचन्द

गोदान को छोड़कर प्रेमचन्दजी के सभी उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की श्रेणी में रखे जा सकते है। हम उनके उपन्यासो के पूर्वार्द्ध में जीवन और जगत तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो का यथार्थ चित्र अवश्य पाते हैं, परन्तु उत्तरार्द्ध तक पहुँचते-पहुँचते लेखक अपने आदर्शों की ओर उन्मुख हो उठता है। किसी भी रचना के विषय में निर्णय उसके अंगों को लेकर ही नहीं दिया जा सकता, बल्कि निर्णय देने के लिए कृति के अन्दर निहित व्यापक भावना को परखना आवश्यक है, तथा यह जान लेना भी आवश्यक है कि कृतिकार ने किस उद्देश्य से अपनी रचना की है। प्रेमचन्दजी ने अपने साहित्य के द्वारा एक सन्देश देना चाहा है। उनकी दृष्टि सुधारवादी रही है और वे वर्तमान समाज एव, परिस्थितियों को बदलना चाहते थे जो अत्यन्त लक्ष्य-हीन एवं पतित है और जिनमें मानव जीवन दूभर हो गया है। डाक्टर श्रीकृष्ण लाल के शब्दो मे "उन्होंने ही पहले पहल अपने चरित्रों की शारीरिक और नैतिक विशेषताओ की ओर ध्यान दिया, उनकी व्यक्तिगत रुचि आदर्श भावना तथा उनकी कमजोरियो का चित्र पाठकों के सामने उपस्थित किया। उदाहरण के लिए 'सेवासदन' से पद्मसिंह को ले लीजिये[२] जो पद्मसिंह अपने नाम पर धव्वा लगने से बचने के लिए अपने घर से सुमन को निकाल देते हैं, तथा वेश्या होने पर उससे पार्क में अकेले बातें करने में भी सकोच करते हैं, वही आगे चलकर अपनी गाड़ी बेचकर पैदल ही कचहरी जाकर तथा अपने अन्य आवश्यक खर्चों में कमी करके सुमन को पचास रुपये महीने देने को तैयार हो जाते हैं।"

१—प्रेमचन्द 'उपन्यास नामक लेख से।

२—डाक्टर श्रीकृष्णलाल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास।

"प्रेमचन्द ने ही पहले पहल दिखलाया कि मानव चरित्र कोई स्थिर वस्तु नहीं और न वह केवल श्वेत ही वरन् उसमें श्वेत और श्याम का मिश्रण है[1] ।" स्वयं प्रेमचन्दजी ने लिखा है कि "मानव चरित्र न बिल्कुल श्याम होता है, न बिल्कुल श्वेत । उसमें दोनों ही रंग का विचित्र सम्मिश्रण होता है । किन्तु स्थिति अनुकूल हुई तो वह ऋषि तुल्य हो जाता है । प्रतिकूल हुई तो नराधम । यही परिस्थिति बदलने की प्रवृत्ति हमें इनके उपन्यासों में मिलती है ।" परिस्थितियों ने ही 'सुमन' को सुमन बाई बनाया और उन्हीं परिस्थितियों के अनुकूल होने तथा सत्पुरुषों के सम्पर्क में आने के कारण वह 'सेवा-सदन' की स्थापना भी करती है । इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने देशव्यापी वेश्या समस्या का अत्यन्त सुन्दर हल प्रस्तुत किया है जो आदर्शवादी ही है ।

प्रेमचन्दजी के प्रत्येक उपन्यासों में कोई न कोई तत्कालीन समस्या और उसका हल हमें अवश्य मिल जायगा । 'रंगभूमि' के अन्दर भारतीय ग्रामीणों के दैनिक संघर्षों की गाथा है 'सूरदास' जिसके प्रतिनिधि स्वरूप चित्रित किया गया है । इस उपन्यास के अन्दर जितने धीरोदात्त पात्रों की सृष्टि लेखक ने की है, उतने उसके अन्य उपन्यासो में नहीं मिलते । 'सूरदास' के समान चरित्र तो सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास साहित्य में दुर्लभ ही है । इसके अन्दर 'सोफिया' के समान कई आदर्शवादी पात्र भरे पड़े हैं जो सदैव आनन्द के ही स्वप्न देखा करते हैं ।

'प्रेमाश्रम' के अन्दर तो लेखक ने अपने आदर्श समाज की स्थापना भी कर दी है । अनेक ऐसे व्यक्ति जो भारतीय जीवन से बहुत दूर थे, अपने विलासी जीवन का परित्याग करके, प्रेमशंकर के साथ 'प्रेमाश्रम' में सेवाकार्य करने लग जाते हैं । डिप्टी ज्वालासिंह का पदत्याग करके 'प्रेमाश्रम' में आ जाना कुछ अस्वाभाविक अवश्य लगता है, परन्तु 'बापू' की वाणी में वह शक्ति थी कि एक 'ज्वाला सिंह' ने ही नहीं, अनेक ज्वाला सिंह ने अपने वैभव-विलास पर ठोकर मारी यहाँ तक कि स्वयं लेखक ने अपनी सरकारी नौकरी छोड़ दी थी । परन्तु समाज में ऐसे लोगो की संख्या गौण ही है और वे समाज के लिए आदर्श ही कहे जायँगे ।

'कायाकल्प' के अन्दर हिन्दू मुस्लिम-वैमनस्य को सुलझाने की ओर लेखक की दृष्टि गयी है । समय की महानतम आवश्यकता को समझने के लिए महान् होना आवश्यक है, जो महानता 'प्रेमचन्द' को प्राप्त थी । 'निर्मला' के अन्दर

१—वही ।

अनमेल ब्याह तथा विधुर परिणय के परित्याग का सन्देश है। 'गबन' जिसका अत्यधिक उद्देश्य मनोरंजन है, फिर भी प्रेमचन्दजी ने एकाध ऐसे पात्र निर्मित कर ही दिये हैं, देश भक्ति जिनकी नस-नस में प्रवाहित है। विदेशी वस्त्र की दूकानों पर धरना देते समय दो-दो जवान बेटों को गोली से उड़ा देने पर भी जो कहने का दावा रखते हैं। "उस वक्त ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गयी, पाँव जमीन पर न पड़ते थे, यही उमंग आती थी कि भगवान ने औरों को पहले न उठा लिया होता तो उन्हें भी भेज देता।" 'कर्मभूमि' में राष्ट्रीय संग्राम में लड़ने वाले वीर स्त्रियों और पुरुषों की आदर्श कहानी है। 'गोदान' के अन्दर 'मालती' का जीवन आधुनिक शिक्षित आदर्श नारी का जीवन है, जिस पर पाश्चात्य संस्कृति की छाप है। परन्तु अन्त तक जाते-जाते लेखक ने उसे तितली से देवी बना ही दिया। 'मालती के द्वारा प्रेमचन्द ने आदर्श की स्थापना नहीं करनी चाही है। उन्होंने केवल समाज में मिलने वाली उस प्रकार की स्त्रियों का भी चित्र लगेहाथ खींच लिया है, क्योंकि अपनी अन्तिम कृति को वे सभी प्रकार के चित्रों से सजाना चाहते थे।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और जयशंकर प्रसाद

बाबू जयशंकर प्रसाद का उपन्यास साहित्य में प्रवेश एक बहुत बड़ी घटना है। उन्होंने अपने उपन्यास 'कंकाल' के द्वारा उपन्यास साहित्य में एक मोड़ उपस्थित किया। कंकाल दो प्रकार की प्रवृत्तियों का संधि-स्थल है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की जो धारा अप्रतिहत वेग से बहती चली आ रही थी, 'कंकाल' ने उसे विभाजित कर दो धाराओं में परिवर्तित कर दिया। 'कंकाल' के अन्दर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद तथा 'प्रकृतवादी' विचार-धारा का सामंजस्य मिलता है। सम्भवत इसी उपन्यास के द्वारा हिन्दी साहित्य में 'प्रकृतवादी' उपन्यासों का इतिहास आरम्भ हो जाता है। लेखक ने इसके अन्दर सामाजिक कुरूपताओं को दिखलाकर एक आदर्श समाज की कल्पना की है। उसमें प्राय सभी पतित पात्रों का अन्त में चलकर सुधार कर लिया है। 'विजय' ने जीवन में पिसना, दाने-दाने को तड़पना, भीख माँगना तथा अपनी समस्त पैतृक सम्पति को लात मार देना, आदि सभी स्वीकार किया परन्तु उसने साहसपूर्वक समाज से विद्रोह किया। यमुना का नौकरी के बल पर 'विजय' के पिता से रुपये प्राप्त कर उसके 'कंकाल' की अन्त्येष्टि क्रिया करना एक अत्यन्त ही आदर्श करुण घटना है।

'तितली' की कथा वस्तु तथा उसका विषय विस्तार हमारे अधिक समीप है। 'कंकाल' की भाँति उसकी कथा महन्तों के अखाड़ों और नगर के गली

वालों घर तक ही नहीं सीमित है, बल्कि वह उड़कर खेतों और खलिहानों में आयी। 'प्रसाद' जी मानवतावादी लेखक थे, अतः उनका पूर्ण विश्वास है कि मानव के अच्छे संस्कार कभी मिटते नहीं और वे अवसर पाकर अवश्य ही प्रकट हो जाते हैं। इसकी कथा बिल्कुल काल्पनिक है। परन्तु लेखक ने उसे अत्य-धिक यथार्थवादी बनाने का प्रयत्न किया है, नहीं तो वेश्या 'मैना' का सुधार उन्होंने अवश्य कर लिया होता। परन्तु फिर भी वह प्रणय के सामने रुपयों को हेय समझती है और उसे मधुवन के आग्रह पर ही रख लेती है। भले ही वह बाद की परिस्थितियों में बदल जाती है और उसे कारावास का दंड दिलवाती है।

इसके अन्दर अंग्रेजी और भारतीय सभ्यता का चित्र है। तितली के चरित्र को दिखलाकर 'प्रसाद' ने राष्ट्रीय सीमाओं को अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं में मिला दिया है। 'वाट्सन' का शैला के वैवाहिक सम्बन्धों का समर्थन करना एक आदर्श सभ्यता का प्रतीक है। यही रचनाकार की असली नीयत जान पड़ती है और उसने प्रासंगिक कथानकों के द्वारा ग्राम सुधार की योजना, रामधारी व रहीम की गोल जो गिरहकटी करवाती थी, 'अनवरी' की कुटिलता, महन्त की पाप-लीला, विहारीजी के नाम पर सूद खाना तथा वेश्या नचाने के साथ-साथ ठाकुरजी की पूजा भी करना, आदि सामाजिक प्रसंगों का यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। 'तितली' संसार के अंधड़ के झकोरों से छिन्न-भिन्न होकर खो नहीं जाती, बल्कि उस 'मधुवन' और अतीत की उन थोड़ी सी मधुमय घड़ियों की स्मृति को हृदय में छिपाये हुए कर्म-संग्राम में जुटी रही और उस दिन की प्रतीक्षा करती रही जब कि उसका देवता आया और उसकी तपस्या को वरदान से भर दिया। 'प्रसाद' जी के हृदय की नारी-भावना 'तितली' के रूप अवतीर्ण हुई है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और 'कौशिक'

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के दो प्रसिद्ध उपन्यास 'माँ' और 'भिखा-रिणी' उपन्यास सम्राट 'प्रेमचन्द' के ही चरण चिन्हों पर चलकर लिखे जान पड़ते हैं। जहाँ पर कौशिकजी ने, 'गोकुल' और 'विश्वनाथ' के साथ 'श्यामू' को वेश्यालय में ले जाकर उस स्थान का यथार्थ वातावरण उपस्थित किया है तथा 'सावित्री' ऐसी मूर्ख माताओं के दुष्परिणाम का फल दिखलाया है, वहाँ पर 'सुलोचना' ऐसी आदर्श माता की भी कल्पना की है।

'भिखारिणी' के पात्र प्रेमचन्दजी के पात्रों की भाँति ही वर्ग प्रधान हैं। एक-एक पात्रों के चरित्र को चित्रित करके कौशिक जी

ने उस प्रकार के पाये जाने वाले पात्रो के समाज को चित्रित कर दिया है। 'रामनाथ' आजकल के उन प्रेमी हृदयधारियों का प्रतीक है जो कहीं भी रूप और यौवन देखकर मचल पड़ते हैं, परन्तु परीक्षा के समय दृश्य से दूर हट कर तटस्थ हो जाते हैं। समाज की आँख बचाकर यदि उनकी कामनाएँ पूरी हो सकें, तो बराबर प्रेम सागर में वे बेदिल बने रहें। आज भी ऐसे रोमैन्टिक युवको के चगुल मे फँसकर कितनी ही सुकुमार कलियाँ समय से पहले ही मसल दी जाती हैं। जस्सो पर सब कुछ न्योछावर करने वाला रामनाथ अपने पिता के सामने कभी अपनी इच्छा तक भी नहीं प्रकट कर पाता। इससे लगता है कि सम्पूर्ण दानशीलता केवल उसकी रूपलिप्सा का आधार लेकर खड़ी हुई थी। उसने भोजन और साड़ी मिखनने की दीनता पर नहीं, बल्कि भिखारिणी के उभड़ते हुए यौवन और रूप के सामने पराजित होकर दिया था। वह अपनी दयालुता के बोझ से रूप का सौदा पटाना चाहता था।

यह उपन्यास कथावस्तु प्रधान नहीं, वरिक चरित्र प्रधान है। केवल शिकार खेलते समय हमें यथार्थ का एक खड चित्र मिला जाता है। लेखक को अभीष्ट था, भिखारिणी का चरित्र-चित्रण करना जिसमें लेखक आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर स्पष्ट रूप से प्रवृत्त जान पड़ता है। 'भिखारिणी' आरम्भ से ही हमारे सामने एक आदर्श मूर्ति के समान आती है। वह अन्त तक, चाहे भिखारिणी रही हो, चाहे 'रामनाथ' के यहाँ दासी का कार्य करती रही हो, अथवा अपने बाबा की सम्पत्ति की रानी रही हो, और यहाँ तक कि समाज ने जब उसे पुन भिखारिणी बनने के लिए बाध्य किया, जिसे उसने सहर्ष स्वीकार भी कर लिया, अपने विचारों और सस्कारो में समान रही, कहीं भी किसी प्रकार के विकार उसके मन में उठने ही नहीं पाये हैं। सुहाग रात के समय नव वधू का शृंगार करते समय, उसका स्त्रीजनोचित गुण अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है, क्योंकि वह अपना 'प्राण' दे रही थी। ऐसी भिखारिणी समाज में अधिक नहीं एकाध ही मिलती हैं। इस उपन्यास के चरित्रों में यथार्थता है, परन्तु वस्तु विषय में नहीं। इसमें 'भिखारिणी' के अनुपम अनुराग और त्याग की करुण कहानी है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और वृन्दावनलाल 'वर्मा'

वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूपमें अत्यधिक विख्यात हैं। परन्तु उन्होंने अपने ऐतिहासिक पात्रों का जो निर्माण किया है, वे शुद्ध

आदर्शवादी है। उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि ऐतिहासिक तथ्यों के साथ रोमैन्टिक तत्वों का उन्होंने मणि-कांचन योग कराया है।

हृदय के अन्दर प्रेम की अपार वेदना लिये रहने पर भी इनके नायक और नायिकाएँ अवसर पाने पर भी शारीरिक सम्बन्धों से वंचित ही रह जाती हैं। 'वर्मा' जी ने जो सिद्धान्त की खाईं प्रेम की धारा में डाल दी है, वह सरस-पाठकों को बिना अखरे नहीं रहती। इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'झांसी की रानी' मे चलने वाली प्रासंगिक प्रेम कथाओं में भरे पड़े हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासो के अतिरिक्त वर्माजी के उपन्यासो में सामाजिक समस्याओ के चित्र एवं उनके हल भी आये हैं। उन्होने 'लगन' नामक उपन्यास में दहेज प्रथा के प्रति विद्रोह करने का सन्देश दिया है। सौ भैंस की शर्त जो दहेज में की गयी थी, अधूरी रहने पर दो विवाहितो को विद्रोह करना पड़ता है और 'देवसिंह' ससुराल में जाकर मारपीट करता है तथा 'रामा' वेतवा नदी पार कर ससुराल 'वरौल' चली आती है। 'संगम' में जाति-मोह, जो समाज के विकास में बाधक स्वरूप खड़ा है कि भर्त्सना की गयी है। 'गंगा' के साथ रामचरण का पाणिग्रहण कराकर वर्माजी ने समाज में नयी मान्यताओ की आवश्यकता की ओर संकेत किया है। 'कुंडलीचक्र, में एक ओर जहां पर 'भुजबल' ऐसे स्वार्थी विश्वासघाती तथा कामी पुरुष, जैसे कि आज भी साधारणतः देखने को मिल ही जाते हैं, का यथार्थ चित्रण है, वहीं पर दूसरी ओर 'अजीतकुमार' मास्टर तथा 'रतन' का चरित्र आदर्श की ओर उन्मुख है।

अश्क

देश के स्वतंत्रता संग्राम के समाप्त हो जाने तथा भारत स्वतंत्र होने के पश्चात्, राष्ट्र एवं समाज की समस्याओ में भी परिवर्तन उपस्थित हो गया है। देश के विभाजन तथा जाति-पाँति के अहम मसलो ने नयी-नयी समस्याएँ उपस्थित कर दीं हैं जिससे इस समस्या को लेकर अनेक नये आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास लेखक क्षेत्र में आ गये हैं। देश के अन्दर महिला जागरण ने समाज के अन्दर नये आदर्शों की माँग अति आवश्यक बना दी है। जाति-पाँति के भेद भाव को तोडकर, प्रेम परिणय तथा विधवा-विवाह कर लेना आज का सबसे बड़ा सामाजिक आदर्श है। अपने 'अति मौलिक सामाजिक उपन्यास 'नयी इमारत' के पूर्वार्द्ध में राजनैतिक आन्दोलनों का अति सजीव चित्र उपस्थित किया है, जो अहिंसावादी और क्रान्तिवादी दो भावनाओं में

विभक्त है। इसके अन्दर 'महमूद' को नायक बनाकर तथा 'आरती' नामक राजपूतानी को उसकी प्रेमिका बना देना निश्चित् ही लेखक की मौलिक उद्भावना है। आरती का पिता से विद्रोह करना, पुलिस कप्तान से शादी करने से इन्कार कर देना तथा महमूद के लिए घर से निकलने के लिए सहर्ष तैयार हो जाना, निश्चित् ही समाज के प्रति खुला विद्रोह है जिसकी आवश्यकता लेखक ने समझी है और पाठकों की सहानुभूति निश्चय ही उनके साथ होगी। 'महमूद' और 'आरती' का रोमाँस 'प्रकृतवाद' के अधिक निकट है। जेल से लौट आने पर 'महमूद' और 'आरती' के रात्रि-मिलन का प्रसंग तो मानव दुर्बलताओं का नग्न चित्र सा ही जान पड़ता है। परन्तु एकाएक 'महमूद', जो कि पहले एक कामुक प्रेमी के रूप में था, जिसने पिता के समान पालने वाले व्यक्ति की बहन के समान, कन्या 'आरती' से असामाजिक होते हुए प्रेम किया, देवता से भी कुछ अधिक श्रेष्ठ हो जाता है, और 'आरती' का मदोन्मत्त आलिंगन अस्वीकार कर देता है, जिससे अंत में दोनो का शारीरिक सम्बन्ध नहीं ही होने पाता। अस्वाभाविक भले ही हो परन्तु यहाँ पर लेखक ने यथार्थ का गला घोंट कर आदर्श की प्रतिष्ठापना की है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर आग्रह तथा खान-पान के भेद के प्रति घृणा का दृष्टिकोण है।



आठवाँ अध्याय

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद

प्रेमचन्दजी के बाद लिखे जाने वाले सामाजिक उपन्यासों में उनके साहित्य कीभाँति हमें आदर्शवदी चित्रो के दर्शन नहीं होते, वल्कि समाज की वास्तविकता को अधिक से अधिक उसके प्रकृत रूप से सामने लाने का ही प्रयत्न किया गया है। उपन्यासों के अन्दर चित्रण की इस वास्तविक शैली को सामाजिक यथार्थवाद के नाम से अभिहित किया जा सकता है जिसे अंग्रेजी साहित्य में 'क्रिटिकल यथार्थवाद' कहते है।

सामाजिक यथार्थवाद

सामाजिक यथार्थवाद का अर्थ होता है समाज की वास्तविक अवस्था का यथार्थ चित्रण। परन्तु साहित्य के अन्दर किसी भी वस्तु का तद्वत् चित्र उतार कर रख देना कठिन होता है क्योंकि साहित्यिक चित्र कैमरे द्वारा लिया गया चित्र नहीं होता, वल्कि वह साहित्यकार की कूची के द्वारा चित्रित किया गया ऐसा चित्र होता है जिसमें साहित्यकार के अनुभव एवं कल्पना के सुन्दर रंग ढले होते हैं। सामाजिक विपमताओं, भ्रष्टाचारो तथा वैयक्तिक स्वार्थों से आक्रान्त, पीडित समाज की दयनीय परिस्थितियो को उसके वास्तविक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है। सामाजिक यथार्थवादी साहित्यकार समाज और व्यक्ति के पारिस्परिक सम्बन्धों, उसके प्रत्येक आचार-विचारो तथा उसकी राष्ट्रीय, आर्थिक एवं नैतिक अवस्थाओं का मूल्यॉकन तत्कालीन परिस्थितियो के आधार पर करता है। वह केवल, समाज जैसा है, वैसा ही उसका वर्णन मात्र नहीं कर देता, वल्कि उसको इस रूप में प्रस्तुत करता है जिससे पाठक युग के सत्य एवं समाज में होने वाले कार्य व्यापारों के औचित्य तथा अनौचित्य को सरलता से परख कर सके और उन मर्यादाओ का अनुसरण कर सकें जिन पर चलकर एक आदर्श समाज की स्थापना हो सके।

आदर्श समाज के मानदंड तथा उस तक पहुँचने के साधक कालानुसार बदलते रहते हैं। यही कारण है कि इनके सम्बन्ध में साहित्य के अन्दर किसी एक निश्चित् मानदंड की स्थापना नहीं की जा सकी है। समाज के विकासशील

होने तथा उसके अन्य सामयिक समाजो से प्रभाव ग्रहण करने के कारण उसके विविध रूपों में परिवर्तन उपस्थित होना आवश्यक ही है। यदि हम सम्पूर्ण सामाजिक उपन्यासों को एक ऐतिहासिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें तो सरलता से हमें समाज के बदलते हुए मानदंडो की गतिविधि का पूर्ण ज्ञान हो जायगा। इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण की आवश्यकताओ ने ही साहित्य मे उपन्यास को जन्म दिया जिससे आरम्भ में सामाजिकता से परे उपन्यास की कोई अन्य कल्पना ही नहीं की जाती थी। परन्तु विज्ञान की बढती हुई शक्तियो ने मनुष्य के सोचने के ढंगों में जो नवीनता ला दी, उसने उसे बुद्धिवादी बना दिया जिसके कारण, कला एवं 'वादो' के नाम से अनेक असामाजिक वस्तुएँ भी उपन्यासों में प्रवेश पा गयी हैं।

यों तो उपन्यासों के भीतर मानव-जीवन के प्रत्येक पहलुओ पर सविस्तार विचार किया गया है, परन्तु आदि से लेकर अन्त तक उसकी कथा में प्रेम तत्व की ओर विशेष आग्रह दिखलायी पड़ता है। इस प्रकार के सम्पूर्ण सामाजिक उपन्यासों को हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं, जब कि समाज के आदर्शों में हमें परिवर्तन दिखलायी पड़ते हैं—(१) पहला तो है पूर्व प्रेमचन्द युग, जिसका आरम्भ लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास से होता है और जिसके अन्दर देवकीनन्दन खत्री तथा गोपाल राम 'गहमरी' आदि के जासूसी एवं तिलस्मी उपन्यास लिखे गये। (२) दूसरा है प्रेमचन्द-युग जो उनके 'सेवासदन' नामक उपन्यास से आरम्भ होता है और जिसके अन्दर 'जयशकर प्रसाद' तथा पडित विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' आदि की अधिकांश रचनाएँ आती हैं। (३) और तीसरे को हम प्रेमचन्दोत्तर युग के नाम से पुकार सकते हैं जिसके अन्दर जैनेन्द्रकुमार, सियाराम शरण गुप्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमण सिंह, श्रीनाथ सिंह, यशपाल, भगवती प्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ अश्क, रागेय राघव तथा 'अञ्चल' आदि की अधिकाश रचनाएँ आतीं है। इस तीसरे खेवे के उपन्यासों के अन्दर समाज के नवीनतम मानदडो को स्थापित करने तथा प्राचीन आदर्शों एव परम्पराओं को निर्मूल करने की होड़-सी लगी है। मानदंडो के सम्बन्ध में नवीनतम प्रयोग किये जा रहे हैं, कोई भी निश्चित सिद्धात नहीं रह गया है जैसा कि पूर्व के दो खेवे के उपन्यासों मे मिलता है।

पहले और दूसरे खेवे के उपन्यासों मे अलग-अलग उनकी एक निश्चित परम्पराओं तथा आदर्शों का पालन किया गया है। अधिकाश उपन्यासकार

ऐसे ही थे। भले ही एकाध घोड़ों में से गधे अथवा नककटों में नकलोल निकल आये। 'परीक्षा गुरु' के अन्दर हमें प्रेम के परिचित दायरे के बाहर जीवन के अन्य पक्षों की एक झलक मिलती है। 'चन्द्रकान्ता' के अन्दर स्वच्छन्द वादी प्रेम का वर्णन है। तिलस्मी उपन्यासों में राजकुमारों एवं राजकुमारियों की प्रेम कहानियों की कथा कही जाती थी।

पौराणिक कथानकों को लेकर जिन उपन्यासों की रचना होती थी उनका एकमात्र उद्देश्य प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति से लोगों को परिचित कराना था। उनके द्वारा स्त्री-शिक्षा का प्रसार, आदर्श नायक और नायिकाओं का निर्माण नमूने के लिए किया गया।

प्रेमचन्दजी का हिन्दी साहित्य में प्रवेश उपन्यास साहित्य के इतिहास में एक घटना है। इन्होंने समाज के व्यापक स्वरूप को अपनाया और विविध रूपों में उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की। प्रेमचन्दजी स्वभाव से आदर्शवादी रहे। उन्होंने तत्कालीन समाज की समस्याओं को सामने रखा और अपने ढंग से उपन्यासों के द्वारा उनका हल भी प्रस्तुत करना चाहा है। 'सेवासदन' की स्थापना तथा 'प्रेमाश्रम' का निर्माण इसी प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित होकर समाज में प्रस्तुत वेश्याओं की समस्यातथा ग्रामीण जीवन के उद्धार को लेकर किया गया था।

प्रेमचन्दजी ने स्त्री-पुरुष में प्रेम का हो जाना स्वाभाविक माना है, परन्तु उनकी दृष्टि में वास्तविक प्रेम वही है जिसका अन्त विवाह हो। इसके अतिरिक्त प्रेम प्रेम नहीं है, बल्कि वह वासना से कलुषित है जिसकी संसार में निन्दा होती है। ऐसा करने से समाज में विवाह की मर्यादा भंग हो जायगी। इस प्रकार प्रेमचन्दजी मर्यादावादी उपन्यासकार थे। वे समाज को उसके आदर्शों से अवगत कराकर उसे उसी ओर ले जाना चाहते थे। समाज के प्रति इनकी जो आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टि रही, जिसका पालन जयशंकर प्रसाद की 'तितली' तथा 'कौशिक' आदि अन्य उपन्यासकारों की रचनाओं में प्रभूत मात्रा में हुआ है, उसकी व्याख्या में इससे अधिक विस्तृत रूप में 'आदर्शोन्मुख' यथार्थवाद नामक शीर्षक में कर दी गयी है।

सामाजिक यथार्थवाद और 'कंकाल'

प्रेमचन्दजी के पश्चात् सामाजिक उपन्यासों की वर्णन शैली में महान परिवर्तन उपस्थित हुआ और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से हटकर उपन्यासों में वास्तविक यथार्थ का चित्रण आरम्भ हुआ। 'प्रसाद' जी का कंकाल नामक उपन्यास इस वर्णन शैली का अग्रदूत बनकर आया और वह इस दिशा में हिन्दी

साहित्य में अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। 'कंकाल में मनुष्य को अनावृत्त करके देखने का प्रयास किया गया है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई ये सब भेद मनुष्य कृत हैं। धार्मिकता के आडम्बर एवं उच्च कुलोद्भवता के अहंकार आदि के नीचे मनुष्य की पशुप्रवृत्ति सजग रहती है।' इसके अन्दर समाज के दलित दुखी और कलंकित पक्षों को चित्रित करके समाज को चुनौती दी गयी है। 'देखो समाज के इस पतित दलित अंग की ओर भी देखो। तुम्हारी अवहेलना से कितनी महत्ता नष्ट हुई जा रही है। जिनको तुम पतित कहकर ठुकराते हो, उनको सहानुभूति की दृष्टि से देखो तो मालूम होगा कि वे उनसे भी महान हैं जिन्हें तुम महान समझते हो। जिन्हे तुम पतित समझते हो उनमें जीवनोत्थान की आकांक्षा भी है, परन्तु तुम्हारे अत्याचार ने उनकी उन्नति के सब अवसर छीन लिये।"

हिन्दी उपन्यासों के भीतर वास्तविक यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति का आरम्भ मुख्यतया सर्व प्रथम हमें बाबू जयशंकर प्रसाद के कंकाल नामक उपन्यास से मिलता है। साहित्यकार अपने समय के सभी वातावरणों से प्रभावित होता है। प्रेमचन्दजी के समकालीन होने के नाते आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की छाया का एक हल्का सा स्पर्श 'कंकाल' पर भी अवश्य मिल जाता है, परन्तु उपन्यास के व्यापक प्रभाव से यही जान पड़ता है कि कृतिकार की मूल प्रेरणा यथार्थ-वादी ही थी। आवरण के भीतर चलने वाली पाप लीला का नग्न तांडव लेखक को सह्य नहीं था जिससे वह वास्तविकता को उसके नग्न रूप में उभार कर समाज के सामने रखकर उसकी आँखें खोल देना चहता है। 'कंकाल' की कथावस्तु को देखकर ऐसा जान पडता है कि इसमें समाज को देखने की जो दृष्टि रही है, वह एकांगी है। लेखक ने मानव की दुर्बलताओं और सामाजिक भ्रष्टाचारों का ही सजीव चित्र खींचना चाहा है। यही कारण है कि उसे अपने चित्रों को ढूँढ़ने के लिए देश के कोने-कोने में भटकना पड़ा है जिससे उपन्यास कुछ अप्राकृतिक भी हो गया है। परन्तु लेखक यदि ऐसा न करता तो उसका लक्ष्य ही अधूरा रह जाता।

'कंकाल' यथातथ्यवादी उपन्यास का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस रचना का कोई सामाजिक मूल्य है ही नहीं। प्रत्येक साहित्य के अन्दर किसी न किसी प्रकार का सामाजिक हित अवश्य ही वर्तमान रहता है। साहित्य के द्वारा समाज के सामने एक काल्पनिक सुखी समाज के सुखमय जीवन का चित्र उपस्थित करके यथावत् जीवन प्राप्ति की एक ललक पैदा की जा सकती है, परन्तु असहाय मानव कभी-कभी अपने को नियति के

हाथ समर्पित कर अपने को अपात्र समझ बैठता है और उस सुखमय जीवन को कोरी कल्पना ही मान बैठता है। कभी-कभी लेखक समाज के ऐसे कुरूप एवं भ्रष्ट चित्रों को उद्‌घाटित करता है, जिसके ऊपर रंगीन पर्दे डाल दिये गये हैं और जिसके भीतर लोभी, स्वार्थी और कामी मानव जीवन की नर पिशाच लीला चला करती है जो नावदान के कीड़ों की भांति बिलबिला रहे हैं ऊपर केवल रंगीनियाँ है। इसी आवरण के हट जाने पर लोगों की आँखे खुल सकती है और तब निश्चित है कि स्वभाव से ही मानव की घृणा उत्पन्न होगी क्योंकि बुरे से बुरा व्यक्ति भी अपने को समाज के सामने बुरा नहीं देखना चाहता। इस प्रकार अपनी बुराइयों तथा कमजोरियों को जान कर ही हम उससे अपने को बचा सकते है।

धर्म के नाम पर कितने अत्याचार होते हैं, मठों के अन्दर महंथों की कैसी रासलीला चलती है, धर्म के नाम पर कितने अत्याचार किये जाते हैं, समाज के अन्दर कितने ऐसे बगुला भगत है जिनके द्वारा भोले मनुष्य छल लिये जाते है। देव निरंजन जो कुम्भ के अन्दर सबसे बड़ा महात्मा है, किस प्रकार किशोरी, जो उसकी बाल सखा थी, तथा 'रामा' जो 'तारा' और बाद में 'यमुना' की माँ थी, के साथ अपनी काम-क्रीडा कर चलता है और समाज के सामने उनके सम्मान में भी किसी प्रकार की ठेस नहीं लगने पाती। इतना ही नहीं, उसे आत्म ग्लानि भी नहीं होती बल्कि अपने कुकृत्यों तथा पापों को पुण्य तथा औचित्य का रूप देने के लिए दर्शन के सिद्धान्तों तथा 'विश्वामित्र' आदि ऋषियों की कथा का स्मरण कर लेता है।

हम देखते हैं कि किस प्रकार जो हम करते है, वही दूसरे में देखकर उसे बुरा कहते हैं। हम जो करते वह उचित और ग्राह्य है तथा वही जब दूसरे करने लगते है तो हमें अनुचित लगने लगता है। 'श्रीचन्द' 'किशोरी' को इसलिए छोड़ देता है कि उसे गर्भ हो गया है जो दूसरे का है, परन्तु वह स्वयं एक विधवा से प्रेम क्रीड़ा करने में जरा भी नहीं हिचकता और समाज की आँखो में नेक बने रहने के लिए उसकी पुत्री का ब्याह अपने बेटे 'विजय' से करके उसकी आड़ में मजे उड़ाना चाहता है। 'मंगलदेव' 'यमुना' को इसीलिए गर्भवती करके छोड़ देता है और ब्याह नहीं करता, कि वह अकुलीना है, जब कि 'मंगलदेव' के कुल का भी कोई निश्चित पता नहीं, तथा एक अधार्मिक संतति 'गाला' से वह आगे चलकर ब्याह भी कर लेता है जो मुसलमान 'माँ' की पुत्री थी और वही अधर्मी होते हुए भी धर्म का नेता बन कर ध्वज धारी बनकर चलता है।

'विजय' ने चूँकि समाज से विद्रोह किया इसलिए पिसता गया, दाने-दाने को तड़पा, भीख माँगता फिरा, उसके रहते हुए भी उसके माता तथा पिता ने दत्तक लिये और उसके 'कंकाल' की अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए 'यमुना' को उधार के रूप में लेने पड़े। 'वाथम पादरी' ने 'लतिका' को भ्रष्ट किया और 'घण्टी' पर भी हाथ फेरना चाहता था। 'घण्टी' की माँ ने भी 'घण्टी' को साधुओं तथा सतो से ही पाया था। परन्तु वही जब यह जान जाती है कि यमुना गर्भवती है तो वह उससे घृणा करने लग जाती है। प्रयाग, काशी, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों मे होने वाली पाप लीला तथा समाज सेवा दल 'भारत-संघ' आदि संस्थाओं के कारनामों का लेखा इस उपन्यास में लिया गया है। एक आवरण के भीतर कितनी कुरीतियाँ फैली हुई है तथा उसके "भीतर जो पुण्य के नाम पर धर्म के नाम गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, उनमे वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तों के लुटने का दृश्य बता रहा है।" प्रसादजी ने जो चित्र उपस्थित किये हैं उनके उच्चकोटि के कवि तथा 'वाणी' के वरद पुत्र होने के कारण, कहीं-कहीं भावुकता के कारण काल्पनिक अवश्य हो गये हैं।

जैनेन्द्रकुमार और सामाजिक यथार्थवाद

प्रेमचन्दयुगीन प्रभाव के समाप्त होने पर उपन्यासकारो के सामने इतनी समस्याएँ एक साथ आ गयीं कि उनके लिए यह अत्यन्त कठिन हो गया कि वे सरलता के साथ किसी एक निश्चित सिद्धान्त अथवा आदर्श का निर्माण कर सकें। इसका कारण यह था, कि प्रेमचन्दजी के समय की परिस्थियाँ बिल्कुल बदल चुकीं थीं, उनके समय में जो राजनैतिक, धार्मिक एव सामाजिक अव-स्थाएँ थीं, उनमें बहुत कुछ सुधार किया जा चुका था। यह युग जागरण के कारण नवीन दिशाओं की ओर मोड़ ले रहा था। प्राचीन रूढ़िगत परम्पराओं एव सामाजिक आदर्शों की निस्सारता प्रकट हो जाने तथा उनके निराकरण के उपयुक्त समाधानो के अभाव में नवीन प्रतिभाएँ नूतन मार्ग ढूढने लग गयीं। देश-काल में परिवर्तन आने के कारण पीछे छूटी हुई सामाजिक मान्यताओं का केवल ऐतिहासिक मूल्य ही रह जाता है। सभ्यता की दौड़ में जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अपने लिए नये बंधन भी बिछाता जाता है। अन्तिम खेवे के उपन्यासों में नवीन मान्यताओं के प्रति केवल आग्रह ही नहीं मिलता, बल्कि रूढ़िगत सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोह तथा उनको समूल नष्ट करने की आकांक्षा भी पायी जाती है।

जैनेन्द्रकुमार की दृष्टि यद्यपि उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव-नाओं के चित्रण करने की ओर अत्यधिक रही है, फिर भी उन्होंने सामाजिक

सिद्धान्तों की चहारदीवारी के बाहर झाँका है। वे सिद्धान्तों और विचारों की भुलभुलैया में फँसना उचित नहीं समझते थे और न तो उन्होंने उपन्यासों के द्वारा उपदेशक बनना ही उचित समझा है। जैनेन्द्र जी ने हिन्दू नारी के चार चित्रों का निर्माण किया है। 'कट्टो', 'सुनीता', 'मृणाल', और 'कल्याणी' उनके नारी पात्र हैं जिनके अतिरिक्त उन्होंने कुछ पुरुष पात्रों का भी निर्माण किया है। हिन्दू गृहस्थ के घर का पर्दा उठाकर अपने अन्दर झाँकने का प्रयत्न किया है। इनके अन्दर पाठको को सामयिक सामाजिक, नव निर्माण की ओर भरपूर झुकाव दिखलायी पड़ेगा। 'परख' की बाल विधवा, और अन्तिम अंश 'सुनीता' की पतिसमर्पित ब्याहता, जो पति की इच्छा के लिए ही एक गुमराह था 'सेक्स' के प्रति कुंठित व्यक्ति को मानवीय बनाना चाहता है तब आकर नारी की एक पति-निष्ठा की भावना में आमूल परिवर्तन हो जाता है। 'सुमन' और 'निर्मला' की भाँति 'सुनीता' पति द्वारा शंकालु दृष्टियों से नहीं देखी जाती। जहाँ कि 'निर्मला' तथा 'सुमन' पर पुरुष के सम्पर्क मात्र से ही समाज में निन्दा की पात्रा बन जाती हैं और उनकी नैतिक पवित्रता की उपेक्षा ही की जाती है, वहीं पर 'सुनीता' अपने पति 'श्रीकान्त' के द्वारा 'हरि प्रसन्न', जब कि वह पर पुरुष है, को नारी आकर्षण के प्रति जागरूक बनाने के लिए, उसके साथ एकान्त में रहने के लिए एक प्रकार से विवश की जाती है। नारी का अस्तित्व पति की बाहों तथा घर की चहारदीवारी से निकल कर समाज में मुक्त रूप से विकसित होने के लिए, रूढ़िग्रस्त मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने के लिए उन्मुख हो उठा।

'त्यागपत्र' की मृणाल बुआ पति के यहाँ आश्रय न पाकर पीहर से भी ठुकरायी जाती है, जिसका यह परिणाम होता है कि वह एक बनिये के साथ भाग जाने के लिए बाध्य हो जाती है और फिर भी उसकी आत्मा अव्यभिचरित ही रहती है। इस प्रकार बाह्य सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा आन्तरिक सदाचारों को अधिक मूल्य प्रदान किया गया। 'कल्याणी' में नायिका पति द्वारा प्रताड़ित होने पर उससे सम्बन्ध विच्छेद करना चाहती है फिर भी नहीं छोड़ पाती। जैनेन्द्र जी के चारों नारी चरित्र वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट हैं और उनके अन्दर सामाजिक मान्यता के प्रति विद्रोही भाव उग्र रूप में विद्यमान है।

जैनेन्द्रजी ने अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा को—मानसिक ग्रन्थि से उद्भूत कुंठा को जो अपने पूर्वलिखित उपन्यासों में, अस्पष्ट दार्शनिकता के आवरण से ढक गया था, मनोविश्लेषणात्मक आच्छादन में छिपाया था, वह भी 'सुखदा' 'विवर्त' और 'व्यतीत में' आकर अनावृत कर दिया है। इनके सभी

उपन्यासों में प्रायः एक ही प्रकार की टेक है। इनके पुरुष पात्र नारी के प्रति उदासीन ही रहते हैं। वे पुरुष सुलभ आकर्षण से वंचित रखे गये हैं, परन्तु नारी बार-बार आकर उनसे टकराती है। वह अपनी भावुकतापूर्ण निरीह आत्म-समर्पण करती है। 'परख' में यह आत्मसमर्पण अव्यवहारिक होते हुए भी असामाजिक नहीं हो पाया है, किन्तु उसके परवर्ती उपन्यासों में उसकी नग्नता बढ़ गयी है। 'व्यतीत' में आकर तो यह नग्नता अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। लेखक ने 'अनीता' और 'चन्द्रकला' का जैसा आत्मसमर्पण 'जयंत' के सामने कराया है, वैसे चित्रण कला की दृष्टि से भले ही श्रेष्ठ हो परन्तु नैतिक दृष्टि से अवाँछित है। ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र की नारी दूसरों को शरीर देने के लिए ही बनी है। ऐसा करने में उन्हें किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता। उनकी नायिकाएँ व्यक्तित्वहीन और चेतनाशून्य हैं। वे केवल वस्तु हैं जिनका उपभोग कोई भी कर सकता है। एक ओर तो इनकी नारियों में प्रेम करने और शरीर देने का कोई आधार नहीं है और दूसरी ओर पुरुष उन्हें अपने गले पड़ी वस्तु समझता है। वह उनसे छुटकारा पाना चाहता है। 'अनीता' के ऊपर उसके पति मिस्टर 'पुरी' का जैसे उसके ऊपर कोई अधिकार ही नहीं और न वे इसके इच्छुक ही जान पड़ते हैं। 'अनीता बहन रूप में रहकर भी अन्त तक जयंत को रतिदान देने के लिए उत्सुक है जिसे वह स्वीकार भी कर लेता है। स्त्रियों का प्रेम प्राप्त कर लेना अत्यन्त साधारण वस्तु नहीं है। वे पुरुष की अपेक्षा दृढ़ होती हैं, यह भले ही है कि जब गिरती हैं तो उठना नहीं जानतीं। परन्तु जयंत को देख कर सभी स्त्रियाँ बेदिल हो जाती हैं और उसकी अवस्था, रूप, गुण आदि का कुछ भी ख्याल नहीं करतीं। जयंत में इसे छोड़ कर कि वह कवि है, ऐसा कोई आकर्षण नहीं दिखलायी पड़ता जिसे असाधारण कहा जा सके। कवि होना ही स्त्रियों के लिए सबसे बड़े आकर्षण की बात है, इसे अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जयंत जिन-जिन स्त्रियों के सम्पर्क में आता है वे सभी उससे प्रेम करने लग जाती हैं। अनीता का वासनात्मक प्रेम अन्त तक रहा, उसके मालिक की लड़की 'सुनीता' किताबों के माध्यम से प्रेम निवेदन करती रही, बेचारी बुधिया ने तो उसे देवता ही मान लिया और चन्द्रकला का तो क्या पूछना, वह तो बेचारी अपने जवानी का गट्ठर बिना जयंत के सिर पटके जी ही नहीं सकती, परन्तु भोला-भाला जयंत विवश होकर सेवा कार्य ही स्वीकार करता है। (पुरुष की इतनी बड़ी अहमन्यता, इतना बड़ा अहंकार और नारी का इतना महान्

शोषण जैसा कि जैनेन्द्र ने दिखलाया, व्यक्तिवादी विचार-धारा का वह जनाजा है जिसके सामने लोग शीश न झुका कर थूक देंगे।

जहाँ तक चन्द्रा का दूसरा विवाह कर लेना है, वह आपत्तिजनक नहीं, आपत्तिजनक तो यह है कि किस प्रकार उसने उसी कुमार को पुनः वरण किया जिसने उसे जयंत को सौंप कर अपना पीछा छुड़ाया था और उसने उसे स्वीकार भी कर लिया। श्रीमती कपिला के आकर्षण का उत्तर दिये बिना ही बेचारे जयंत को अन्त में अपने गुमराह पापों का प्रायश्चित करने के लिए सन्यास ले लेना पड़ा।

समाज के अन्दर बहुत सी ऐसी बातें पायी जाती हैं जिनका चित्रण साहित्य में श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। कितने ही ऐसे समाज में पतित मिल जायेंगे जो अनैतिक व्यापारों से रोटी कमाते हैं। पर सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते समय साहित्यकार को सदैव इसका ध्यान रखना चाहिये कि कहीं कोई ऐसा चित्र न आ जाय जो अवाँछित हो। लेखक के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह बुधिया से कहलवाये ही कि 'दादा हर किसी से पैसा ले लेते हैं और जा के ताड़ी में फूँक देते हैं। माँ गयी तब से यही हाल है। मैं अपने बस किसी को नहीं लौटाती ....मैं शिकायत नहीं करती लेकिन तन कभी बहुत पीर दे आता है।' निर्लज्ज से भी निर्लज्ज स्त्री क्यों न हो पुरुष के सामने ऐसे प्रसंगो की चर्चा इस प्रकार नही कर सकती। हमें ऐसा लगता है कि जैनेन्द्रजी अपनी लोकप्रियता का अनुचित लाभ उठाना चाह रहे हैं। जिस प्रकार के समाज की ये कल्पना कर रहे हैं उसमें सम्भवतः वे ही रहने के अधिकारी होंगे और सर्व साधारण लोगों की वहाँ कभी भी गुंजाइश नहीं हो सकती।

प्रेमचन्द और उनके युग से प्रभावित सामाजिक उपन्यासों और जैनेन्द्र कुमार के सामाजिक उपन्यासों में मौलिक भेद है। प्रेमचन्द के पात्रों के सम्मुख समाज की समस्या है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है। उन समस्याओं को हलकर लेने से सम्पूर्ण समाज की समस्या हल हो जाती है। जिन सामाजिक दोषों के सुधार की प्रेरणा हमें इन उपन्यासों द्वारा प्राप्त होती है, उनका व्यापक प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसके विपरीत जैनेन्द्र की सामाजिक समस्याएँ विशेषतः व्यक्ति की समस्याएँ हैं। वह विद्रोह करता है परन्तु उसके विद्रोह का प्रभाव सामाजिक न होकर व्यक्तिगत ही रह जाता है।

इस प्रकार इन समस्याओं को व्यापक सहनुभूति नही मिल सकी, भले ही इनके अन्दर व्यक्ति को रुला देने की अपार शक्ति भरी हो। 'निर्मला' तथा 'सुमन' के साथ समाज जितना हाय-हाय करता है उतनी 'सुनीता' तथा

'मृणाल' बुआ के साथ नहीं। इनके विद्रोही पात्रों का प्रभाव एक सीमित क्षेत्र के अन्दर संबन्धित व्यक्तियों पर ही पड़ता है, समाज पर नहीं।

सामाजिक यथार्थवाद और कुछ अन्य उपन्यास

सियारामशरण गुप्त के तीन प्रमुख सामाजिक उपन्यास हैं, गोद 'अन्तिमआकाक्षा' तथा 'नारी'। इन उपन्यासों को देखने से लगता है कि गुप्तजी की प्रेरणा यथार्थ, अकृत्रिम और निष्कपट है। गोद में एक मार्ग के आदर्श वात्सल्य स्नेह का वर्णन है तथा गाँव के एक पक्ष का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया किया गया है। गुप्तजी की धारणा है कि मनुष्य जन्मजात महान नहीं होता, बल्कि, साधारण से साधारण स्थिति के आदमी में भी महत्ता के दर्शन किये जा सकते हैं। अंतिमआकाक्षा के नायक एक घरेलू नौकर रामलाल ऐसे उपेक्षित व्यक्ति को लेकर गुप्तजी ने जो महत्ता का दिग्दर्शन कराना चाहा है, उससे हमें देश के अन्दर बढ़ती हुई जनतांत्रिक भावनाओं का संकेत मिल जाता है। अपने सर्व श्रेष्ठ उपन्यास 'नारी' में गुप्तजी ने युग की उमड़ती हुई नवीनतम नारी भावनाओं को अंगीकार किया है। "'जमुना' आदर्श पत्नी होते हुए भी, अजीत के प्रति आकर्षित हो जाती है। 'अजीत' के उपकारों के भार से दबकर वह उससे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार हो जाती है और अपने को पति अनुरक्ति में किसी भी प्रकार पीछे इसलिए नहीं मानती क्योंकि उसने जो कुछ भी किया है, वह सब कुछ भी अपने पति को पुनः प्राप्त करने के लिए ही। इससे स्पष्ट हो जाता है की नारी की पवित्रता की माप केवल उसके योनि सम्बन्धी पवित्रता पर ही नही आधारित है, बल्कि उसके हृदय की ही पवित्रता उसकी वास्तवितक पवित्रता है।"

यों तो प्रतापनारायण श्रीवास्तव के प्रमुख पाँच उपन्यास, 'विदा', 'विजय', विकास', 'आशीर्वाद' तथा 'पाप' की ओर हैं परन्तु 'विदा' और 'विजय' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीवास्तवजी पहले उपन्यासकार है जिन्होंने गावों और शहरों की दुनिया छोड़कर 'सिविल' लाइन्स के बंगलों', क्लब की पार्टियों, टेनिस के मैदानों, हरे-भरे पार्कों तथा सिनेमा घरों में होनेवाले जीवन के घातों-प्रतिघातों का यथार्थ चित्र खींचा है। 'विदा' श्रीवास्तवजी का आदर्शवादी उपन्यास है। इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह कि इसके अन्दर 'भारतीय कुटुम्ब की धर्म व्यवस्था के सौन्दर्य की स्थापना करके प्राचीन और नवीन का बड़ा ही सुन्दर योग दिखाया है।' यद्यपि आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने इसे 'मिस्टर-मिसेज, मिस,

ड्राइंग रूपम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी सिनेमा[1] आदि का ही वर्णन करने वाला कहा है ।

'विजय' नामक उपन्यास में उपन्यासकार ने विधवा विवाह की समस्या साधारण समाज के सामने नहीं, वल्कि शिक्षित एवं धनवान समाज के सामने रखी है ।

उन उपन्यासकारों के अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारों ने भी सामाजिक समस्याओं को लेकर अपने उपन्यास साहित्य की सृष्टि की । प्रस्तुत समाज की अनेकानेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने के लक्ष्य से प्रेमचन्दजी के पश्चात् एक भी उपन्यास नहीं लिखे गये और ऐसा करना लेखकों के लिए सम्भव भी नहीं था । वर्तमान समाज की समस्याएँ इतनी विषम हो गयी हैं कि सबको एक कृति के अन्दर समेटने में लेखक को निराश होना पड़ेगा । आधुनिकतम उपन्यासों के अन्दर समाज की नवीनतम प्रमुख समस्याओं को लेकर लेखक समाधान उपस्थित करने में प्रयत्नशील हैं ।

यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमण सिंह, श्रीनाथ सिंह, रांगेय राघव, तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और 'अंचल' अदि के सामाजिक उपन्यासों में आधुनिक समस्याओं का बड़ा ही मार्मिक एवं यथार्थ चित्रण हुआ है, परन्तु इन लोगों के देखने की सामाजिक दृष्टि अपनी है, तथा उन्हें प्रस्तुत करने की इन लोगों की अपनी अलग अलग शैलियाँ है जिससे इनका वर्णन प्रसंगानुकूल आगे करना ही उचित होगा ।

१. इन्दौर के चौबीसवें [illegible]

नवाँ अध्याय

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य में सामाजिक समस्याएँ

प्रेमचन्दोत्तर युग में देश की सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ बदल चुकी हैं। समाज के अन्दर अनेक विभिन्नताओं ने प्रवेश पा लिया है। पाश्चात्य संस्कृति के अधिक सम्पर्क में आने के कारण प्राचीन रूढ़ियों के बंधन भी बहुत कुछ ढीले पड़ चले हैं। कितनी प्राचीन मान्यताएँ टूटती जा रही हैं और अनेक नवीन मान्याताएँ उनका स्थान ग्रहण करती जा रही हैं। विषमताओं के कारण सामाजिक धारा छिन्न भिन्न होकर अनेक मार्ग बनाने लग गयी है। इस प्राचीनता और नवीनता के संधि-स्थल पर आज का उपन्यास साहित्य खड़ा है, जिसे समस्याओं के औचित्य और अनौचित्य का लेखा जोखा, वर्तमान परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए, लेना है। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक युग के उपन्यासों में इस प्रकार की समस्याओं को उभाड़ कर रखने का प्रयत्न मिलता है।

वेश्या-समस्या

विधवा विवाह और समाज में वेश्या की समस्या, उपन्यासों के लिए कोई नवीन समस्या नहीं है, बल्कि यह उसका चिर परिचित विषय है। इन समस्याओं को लेकर हिन्दी साहित्य के अन्दर दर्जनों उपन्यास लिखे गये। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द से लेकर साधारण कोटि के उपन्यासकारों तक ने इसे अपनी रचना का वर्ण्य विषय बनाया है, परन्तु समाज के सामने कोई सर्वग्राह्यसमाधान, अबतक प्रस्तुत नहीं हो सका है। प्रेमचन्दजी की सुधार वादी दृष्टियों ने तो 'सेवासदन' की स्थापना करके एक ठोस हल समाज के सामने उपस्थित अवश्य कर दिया, परन्तु यह उनकी ही कल्पना की शक्ति एवं उसकी अद्भुत करामात थी जो समर्थ हो सकी है। व्यावहारिक जगत मे उसे छोड़कर न तो दूसरे 'सेवासदनो' की स्थापना की जा सकी और न तो व्यापक रूप से वेश्यालय ही खाली कराये जा सके। इससे समाज को प्रेरणा अवश्य मिली, परन्तु मनुष्य अपनी कुत्साओं का इतना दास है कि उससे घृणा करते हुए भी उसे छोड़ नहीं पाता। 'रांगेय राघव' के 'घरौंदे' नामक उपन्यास में 'कामेश्वर' तथा 'नादानी' के प्रसंग को लेकर भी वेश्या की मूल

स्थिति पर प्रकाश डाला गया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के अन्दर अपने और पराये का भाव ही उसे बुरे कार्य करने में सहयोग प्रदान करता है।

यदि हम वेश्याओं के प्रति भी यह भाव रख सकें कि वे अपनी ही भूलों के कारण पतित हुई हमारी ही माताएँ और बहने हैं जो वेश्या बन गयी हैं तो किसी भी समाज का यह कोढ़ जिन्दा रह ही नहीं सकता। 'कामेश्वर' 'नादानी' को सच्चे हृदय से प्यार करता है, परन्तु जब उसे अपनाने का अवसर आता है तो विचलित हो उठता है, जबकि वह उसी के पापों के कारण माँ बनने वाली है। और जब नादानी यह कहती है कि जाओ और पंद्रह वर्ष के बाद फिर आना, मेरे स्थान पर तुम्हारी ही लड़की मिलेगी, और तब तुम उसके यौवन का आनन्द लूटना, तब कामेश्वर बौखला उठता है। परन्तु भगवतीचरण वर्मा ने अपने 'तीन वर्ष' नामक उपन्यास के अन्दर इस समस्या को और भी उदार दृष्टियों के द्वारा उपस्थित किया है जिसके अन्दर उन्होंने कल्पना का समावेश बहुत कम किया है, जिससे बात औरों की अपेक्षा अधिक जमती है। 'रमेश' 'सरोज' के स्वाभाविक सच्चे प्रेम को समाज के भय से ठुकरा कर भाग अवश्य जाता है, परन्तु सच्चे हृदय की पीर एवं वास्तविक प्रणय की पुकार उसे खींच ही लाती है। वह विज्ञापन में 'सरोज' की चिन्ता-जनक अवस्था का विवरण पढ़कर, सब कुछ छोड़कर उसके पास दौड़ जाता है, और उसके अन्तिम क्षणों में अपना करुण चुम्बन उसे देकर उसे अपनी बना लेता है तथा 'सरोज' सदैव के लिए उसकी हो जाती है। इस प्रकार हम जिसे वेश्या कहते हैं, वह वेश्या नहीं है, बल्कि वेश्या न कहलाने वाली वह सभ्य नारी 'प्रभा' वेश्या है और रमेश सहसा अवसर आने पर उससे कह उठता है—'तुम पुरुष का धन लेती हो, पुरुष को अपना शरीर देने के बदले में—है न ऐसी बात और यह वेश्यावृत्ति है।' वास्तव में वेश्याएँ जन्म से वेश्या नहीं होतीं बल्कि वे परिस्थितियों द्वारा बनायी जाती हैं तथा अपनी कुत्सित वृत्तियों के कारण हो जाती हैं।

विधवा समस्या

समाज में हिन्दू विधवा के प्रश्न को लेकर अनेक सुधार संस्थाओं का जन्म हुआ। बंगला उपन्यासों से भी हिन्दी के उपन्यासों ने विशेष प्रेरणा प्राप्त की। बंगला उपन्यासकारों ने सामाजिक समस्याओं को लेकर अत्यन्त सुन्दर उपन्यास लिखे थे जिसकी प्रेरणा उन्हें बंगाल में स्थापित ब्रह्म समाज से मिली थी जिसके अन्दर दहेज प्रथा और विधवा विवाह की समस्या उग्र

रूप में विद्यमान थी। हिन्दी उपन्यासों के अन्दर यह प्रेरणा आर्य समाज के द्वारा आयी। प्रेमचन्द तथा प्रसाद के उपन्यासों में हमें इन प्रथाओं के कुपरिणाम का कारुणिक चित्र प्रभूत मात्रा में मिल जाता है। परन्तु जैनेन्द्र कुमार जी ने अपने 'परख' नामक उपन्यास में विधवा 'कट्टो' के पुनर्विवाह का समर्थन पूर्णरूपेण किया है। 'सत्यधन' जिसे 'कट्टो' मास्टर साहब कहती थी, उस बाल विधवा से पूर्णरूपेण ब्याह करने के लिए तैयार है और उसके इस विचार को लेकर हमें उसके आस-पास रहने वाले समाज में भी कोई ऊहापोह मचता नहीं दिखलायी पड़ता, कुछ परिस्थितियाँ ही ऐसी आ पड़ती हैं जिनके ही कारण वह विवाह नहीं कर पाता, परन्तु जैनेन्द्रजी ने उसके मित्र बिहारी से उसका परिणय करा ही दिया। यद्यपि दोनो का विवाह सामाजिक रूप से न होकर आध्यात्मिक रूप से ही होता है फिर भी पुरुष वर्ग की ओर से सामाजिक विवाह करने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठायी गयी है, जो भी संकोच उपस्थित हुआ है वह स्त्री पक्ष की ओर से ही। विधवा यदि अपने जीवन को पवित्र रख सके तो हिन्दू विधवा का जीवन स्वयं एक बहुत बड़ी तपस्या है और यदि उसे अपने उत्तेजक क्षणों में आने वाले उन्मादों पर विश्वास नहीं है तो अवश्य ही उसे विवाह करने की पूर्ण स्वतंत्रता समाज से मिलनी चाहिये। प्रतापनरायण जी श्रीवास्तव ने अपने 'विजय' नामक उपन्यास में स्वीकार किया है कि विधवाओं का विवाह होना उचित है।

इस उपन्यास में श्रीवास्तवजी ने विधवाओं को विधवा नहीं माना है 'क्योंकि हिन्दू विधवा ईश्वर का तपरूप है। उसकी तपस्या 'निर्गुण उपासना' है। परन्तु लेखक चित्र के दूसरे पक्ष से अपरिचित नहीं है। सभी विधवाएँ इस विराट तप की साधना नहीं कर सकतीं। उनके लिए उसने वैवाहिक जीवन ही श्रेयस्कर निश्चित किया है'[1]। पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास में विधवा एक ओर तो रूढ़िवाद से अत्यन्त प्रताड़ित है और दूसरी ओर आदर्शवाद की चक्की में बुरी तरह पिस रही है जिससे जीवन के प्रथम उभार में ही विधवा हो जाने के कारण उसका स्वाभाविक नारीत्व हुकार उठता है। राधिकारमण सिंह ने भी अपने उपन्यास के अन्दर विधवा के प्रश्न पर दृष्टि डाली है। 'राम रहीम' की 'बेला' विधवा होने पर वेश्या हो जाती है और श्रीधर के सम्पर्क में आने के कारण वह उससे प्रेम करने लग जाती है। श्रीधर उससे ब्याह करना चाहता था, परन्तु जयदेव के भड़काने के कारण वह विवाह से मुकर जाता है। सुरेशकुमार नामक व्यक्ति की हत्या करने पर जब

१—हिन्दी उपन्यास २८१।

उसे कारावास मिलता है तो उसकी पूर्व भक्ति प्रेरणा और भी मुखर हो जाती और वह रामभक्ति में सच्चे हृदय से रत हो जाती है तथा अन्त में कारावास से छूटने पर हम उसे गंगा तट पर भगवत भजन करते हुए पाते हैं।

नारी रूप

महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन से भारतीय समाज में नारियों को सम्मानित स्थान मिलना आरम्भ हुआ। भारतीय नारी समाज एक दीर्घकाल तक अत्यन्त ही उपेक्षित और असम्मानित रहा। महात्मा गांधी ने इस मानवीय अत्याचार का सर्व प्रथम सशक्त आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होने देश की जनता से अपील की कि वे अपनी माताओ एवं बहनो को भी कार्य करने का अवसर दें, उन्हें भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक सेवा-संस्थाओं में सहयोग प्रदान करने की पूरी स्वतंत्रता दें जिससे उनके भी मानवीय धर्मों को विकसित होने का पूर्ण अवसर मिले। उन्होने स्वयं अपने आश्रम में स्त्रियों को अत्यन्त सम्मानित स्थान दिया और सरोजिनी नायडू ऐसी पढ़ी लिखी महिलाएँ तो पुरुषो के समान खुलकर राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगीं। यह गांधीजी की ही विभूति थी कि इतने ही थोड़े काल में नारियों के अन्दर इतना जागरण आ गया कि उसमें से विजयलक्ष्मी जैसी पुरुषों को भी मात देने वाली महिलाएँ निकलने लगीं जो विश्व संघ की अध्यक्षा तक होने की क्षमता रखती हैं।

हिन्दी उपन्यास नारी-समाज के महत्वपूर्ण प्रश्न को लेकर ही क्षेत्र में आया, समाज सुधार की भावना जिसका मेरुदंड थी। वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, दहेज, वेश्यागमन तथा अनमेल विवाह आदि कुरीतियाँ हिन्दी उपन्यासकारों के मुख्य विषय बन गये। प्रेमचन्द के उपन्यासों में अनमेल विवाह के अनेक प्रसंग आते हैं तथा 'निर्मला' का तो मूल विन्दु ही अनमेल विवाह और दहेज का भयंकर कुपरिणाम है। प्रेमचन्द युग का उपन्यास मध्यवित्तीय भावना का श्रेष्ठ प्रतिविम्व है जो क्रांति का दावा करके भी सुधार पर अटक जाता है। सन् १९३०–१९३२ के आन्दोलन ने नारी को जीवन के खुले प्रांगण में ला खड़ा किया और वह पथ की दावेदार बन कर सामने आयी। 'घर और वाहर की समस्या उठ खड़ी हुई और कौटुम्बिक शान्ति तथा देश-सेवा का संघर्ष सामने आया। यहाँ से वैवाहिक थोथी मर्य्यादाओं के प्रति विद्रोह का भी आभास मिलने लग जाता है और यहीं से लगभग नयी नारी का उदय होता है। नयी नारी के उदय के साथ ही उपन्यास जगत में भी नयी समस्याओ का समावेश हुआ। इन नये प्रश्नों के साथ एक मूल प्रश्न स्वच्छन्द प्रेम की समस्या का भी था और यह प्रश्न जाति-वर्ण-व्यवस्था पर सीधा प्रहार करता

है। उपन्यासकारो ने इस प्रश्न को भी उठाया और जिसका समाधान आत्मघात और हत्या में नहीं। बल्कि समस्त सामाजिक रूढ़ियों को लात मारना था।

नवीनतम आदर्शों को लेकर लिखे जानेवाले उपन्यासो में भी कहीं-कहीं 'विधवा' जैसे शब्दो का प्रयोग कर दिया गया है। परन्तु हम देखते हैं कि 'नारी' के प्रति समाज का दृष्टिकोण ही बिल्कुल बदल गया है जिससे इस प्रकार की समस्याओं का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। अब नारी उपन्यासो की दुनिया में केवल स्त्री रह गयी है, उसके जननी एवं बहन सदृश्य अन्य सामाजिक रूप प्राय लुप्त से हो गये हैं। आज के समाज में स्त्री की भी जो कल्पना की जा रही है वह भी पहले की पत्नी से बहुत कुछ भिन्न है। 'समय परिवर्तन के साथ-साथ वस्तुओ के मूल्य में भी परिवर्तन हो जाता है। युगों से हमने जिन मान्यताओं की स्थापना की थी, वर्तमान भौतिक युगीन विचार धाराओं से टकराकर वे बिखरती जा रही हैं। कलतक जो सत्य था, हित था वही आज असत्य और अहित सिद्ध हो रहा है। प्राचीन धार्मिक, नैतिक, आर्थिक भित्तियाँ गिरती जा रही हैं, और नवीन की नींव पड़ रही है[१]।' स्त्री का जो मूल्य अबतक उसकी यौन पवित्रता पर आँका जा रहा था, धीरे-धीरे शिथिल होने लगा और स्त्री के सामाजिक मूल्यो को निर्धारित करने के लिए उसके अन्य आन्तरिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक गुणों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा और स्थिति उपन्यासों की दुनिया में यहाँ तक पहुँच गयी है कि 'पूत योनि रह गयी आज नारी केवल' के लिए पं० सुमित्रानन्दन पंत को दुखी नहीं होना पड़ेगा। नारी सम्बन्धी 'यौन' प्रतिबन्ध के कड़े बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं, और इस प्रकार वह प्राचीन सामाजिक मान्यताओ के प्रति विद्रोह करके नवीन मान्यताओं को स्थापित करना चाहती है जिसमें पति के कठोर बन्धनों से वह उन्मुक्त हो।

जैनेन्द्र जी के 'सुनीता' नामक उपन्यास में ही हमें 'श्रीकान्त' ऐसे उदार पुरुष के दर्शन हो जाते हैं जो अपनी पत्नी 'सुनीता' को अपने मित्र के सम्पर्क में जाने के लिए प्रेरित करते हैं। मृणाल बुआ परपुरुष-गमन करने पर भी आत्मा से पवित्र ही बनी रहती है। 'श्रीनाथ सिंह' के उपन्यास 'उलझन' में विवाह की समस्या है। इसमें तीन दम्पति आये हैं, जगतनारायण और मानवती, अमर और चम्पा, तथा सेठ धनदास और शीला, और सभी थोडे बहुत अंशों में परायी पत्तल का भात अच्छा समझते हैं। 'मानवती' को पर पुरुष सेठ के यहाँ जाने में, 'जगत नारायण' को कुछ

१ हिन्दी उपन्यास पृ० ३३५

आपत्ति नहीं होती। ठाकुर साहब किसी की पत्नी को अन्य किसी के साथ रहने में कोई हानि नहीं समझते।

'यशपाल' की दृष्टि मे तो नारी वह रूमाल है जिससे जितने आदमी अपना मुँह पोंछ सकें, पोछ सकते है। उससे कालिख छूटेगा ही, लगेगा नहीं। स्त्री एक नहीं अनेक पुरुषो के साथ रमण करने पर भी पवित्र रह सकती है, यदि उसका मन पवित्र है। उनके 'दादा कामरेड' नामक उपन्यास में हम देखते हैं कि 'शैला' सरकारी अफसर के लड़के से प्रेम करने तथा दवा के प्रयोग से गर्भ गिराने और ईसाई युवक राबर्टसन को भी निःसंकोच चुम्बन देकर 'हरीश' के लिए आदरणीया ही नहीं बनी रहती, बल्कि आधुनिक समाज, जिस पर यूरोपीय सभ्यता प्रभाव है, की रानी भी है। 'शैला' के पिता के रूप मे समाज की प्राचीन रूढ़ियाँ तथा मान्यताएँ छटपटाती रह जाती हैं, और वह हर्ष के साथ 'हरीश' का गर्भ लेकर 'दादा कामरेड' के साथ चली जाती है और उसके चेहरे पर जरा भी शिकन भी नहीं पड़ती। अपने नवीनतम उपन्यास 'मनुष्य के रूप में' विधवा 'सोमा तथा मनोरमा' को भी इसी प्रकार स्वच्छन्द प्रेम को ग्रहण करते हुए उन्होंने चित्रित किया है।

'सोमा' ससुराल वालों के द्वारा सतायी जाने पर एक मोटर ड्राइवर धनसिंह के साथ भाग निकलती है। धनसिंह स्त्री भगाने के अभियोग से जब छः माह के कारावास का दण्ड पाता है तो सोमा एक सम्पन्न परिवार में आश्रय ग्रहण करती है जहाँ धनसिंह छूटने पर पुनः ड्राइवर हो जाता है। परन्तु धनसिंह के पुनः हत्या करके भाग जाने के कारण, अपनी आश्रयदात्री मनोरमा के भाई की रखेली बनकर वह 'सोमा' घर की स्वामिनी सी रहने लगती है, यद्यपि एक दिन वहाँ से भी उसे निकलना ही पड़ता है। इस कारण वह फिर 'बरकत' नामक मोटर ड्राइवर के साथ बम्बई पहुँच कर अभिनेत्री हो जाती है, और वह वहाँ अपने रूप और कला की ख्याति से लाखों की स्वामिनी बन जाती है। इसी प्रकार 'मनोरमा' अपने कम्युनिष्ट प्रेमी 'भूषण' से प्रोत्साहन न पाकर उत्तेजना में एक फिल्म एजेन्ट सुतलीवाला से विवाह कर लेती है, किन्तु कुछ ही दिनों बाद इस पुंसत्वहीन पति से सम्बन्ध विच्छेद कर वह फिर पार्टी के काम में 'भूषण' के निकट पहुँच जाती है। यही 'यशपाल' जी की नारी सम्बन्धी सामाजिक मान्यता है। यशपालजी की सभी कृतियों में नारी अत्यन्त दुर्बल, कामुक और वासना की मूर्ति के रूप में चित्रित की गयी है। 'क्या नर्गिस, क्या गुलशन, क्या चन्दा और

क्या राज और यमुना सभी जैसे आत्मदान को, नारीत्व को समर्पित करने के लिए व्यग्र और आतुर है। नारीत्व का बोझ जैसे उनके लिए असह्य है। अवसर-अनवसर यशपाल के जिस किसी पात्र से उनकी भेंट हो जाय इस दुर्वह भार को उतार फेंकती है [1]। यही यशपाल की नारी सम्बन्धी मान्यता है।

इसके पश्चात् हमें कुछ ऐसे उपन्यासों के दर्शन होते हैं जिनके क्षेत्र यूनिवर्सिटी के छात्रावासों की दुनिया है, जिसमें रोमांस का प्रमुख स्थान है, जहाँ प्रेम और विवाह का कोई सम्बन्ध ही नहीं माना जाता। इतना ही नहीं, बल्कि एक दूसरे के विरोधी भी माने जाते हैं और विवाह आदि सम्बन्धों के लिए जाति-पाँति का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता तथा प्रेम करने के लिए जहाँ की दुनिया सबके लिये खुली है। कोई भी वहाँ जाकर प्रतियोगिता में बिना नाम दर्ज कराये ही खड़ा हो सकता है। इन सभी औपन्यासिक अवस्थाओं का हम वर्णन आगे आनेवाले प्रसंग में करेंगे, परन्तु इन उपन्यासों में आये हुए स्त्री रूपों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ भी कर देना आवश्यक है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की गिरती दीवारें नामक उपन्यास में चेतन नामक युवक का हृदय जाति-पाँति की मर्यादा को तोड़कर 'प्रकाशो' नामक बालिका को पकड़ लेने के लिए दौड़ जाता है। 'अंचल' ने अपनी 'नई इमारत' को दृढ़ बनाने के लिऐ अन्तर-जातीय विवाह को आवश्यक अवश्य समझा है, परन्तु वह आलिंगन और चुम्बन तक ही करा पाये हैं। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि समाज में इस प्रकार की माँग धीरे-धीरे उभड़ रही है, और स्त्री तथा पुरुष, प्रणय के क्षेत्र में निर्बन्ध होना चाहते है। 'आरती' एक हिन्दू बालिका होते हुए भी अपने प्रेमी 'महमूद' के लिए माता तथा पिता आदि पारिवारिक प्राणियों से विद्रोह करके घर छोड़ कर चली आती है और 'महमूद' को अपनाने में अपनी ओर से वह कुछ भी उठा नहीं रखती। भले ही आलिंगन और चुम्बन के बाद 'महमूद' को शारीरिक सम्बन्धों से दूर भगा कर लेखक आदर्श की ओर उन्मुख हो गया हो।

'रांगेय राघव' ने अपने 'घरोंदे' नामक उपन्यास में अन्तर-जातीय प्रणय को वास्तविक परिणय के रूप में मान्यता दिलवा दी है। 'भगवती' की मां 'सुन्दर' का प्रेम 'राजेन्द्र' के पिता के साथ हो गया था जो एक बहुत बड़े जमींदार थे। जमींदार साहब सामाजिक मर्यादाओं के भय से 'सुन्दर' के

[1] मोनीसिंह (आलोचना-उपन्यास अंक, पृ० २०६)।

साथ वैध रूप से विवाह कर लेने में असमर्थ रहते हैं क्योंकि वह कायस्थ थी। 'भगवती' जमींदार साहब के रक्त से ही उत्पन्न हुआ था, जब कि समाज की आँखों में वह एक कायस्थ का पुत्र था। परन्तु हम देखते हैं कि 'राजेन्द्र' के मर जाने और अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में जब वे इस समाज से नाता तोड़ रहे थे, जिसने उनके प्रणय को परिणय के रूप में बदलने नहीं दिया था, तो उनका वास्तविक पिता पक्ष प्रबल होकर मुखर हो उठता है। जमींदार साहब मरते समय 'सुन्दर' को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, और मरते-मरते 'भगवती' को अपना पुत्र तथा उत्तराधिकारी घोषित कर जाते हैं। इस मरते हुए व्यक्ति द्वारा उपन्यासकार ने समाज की प्राचीन मान्यताओं की निस्सारता प्रकट की है और आगे चलने वाले समाज को नवीन संदेश दिलवाया है।

नारी के आधुनिकतम रूप हमें 'सर्वदानन्द' के 'नरमेध' और अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में मिलते हैं। सर्वदानन्द ने तो विमाता और सौतेले पुत्र तक के पारस्परिक प्रेम को स्वाभाविक रूप दिया है। हो सकता है कि अधेड़ पिता के पुनर्विवाह का कुपरिणाम दिखलाना लेखक का लक्ष्य हो, परन्तु ऐसे प्रेम-व्यापारों से अभी समाज हिचकता अवश्य है।

'नदी के द्वीप' के नारी चरित्रों से तो ऐसा लगता है कि विवाह और सम्भोग की दृष्टि से किये गये प्रेम का कोई सम्बन्ध ही नहीं। 'रेखा' पति के जीवित रहते भी 'भुवन' से प्रेम करती है। प्रेम को विवाह में परिवर्तित करने के पहले ही दोनो वैवाहिक जीवन का आनन्द उठाते हैं और इतना ही नहीं जब परिस्थितियों के कारण 'रेखा' और 'भुवन' का विवाह नहीं हो पाता और 'रेखा' अपना पुनर्विवाह कर लेती है, तब भी दोनों का प्रणय प्रसंग उसी प्रकार चलता रहता है। इस प्रकार विवाह एक धार्मिक संस्कार न रहकर एक आर्थिक समझौता होता जा रहा है। पता नहीं समाज में नारी की इस मान्यता से समाज को किस प्रकार का सुख मिलेगा?

प्रेम का स्वरूप

प्रेमसृष्टि की चिरंतन आदि शक्ति है। साधारणतः प्रेम से जो अर्थहम लेते हैं, वह है स्त्री और पुरुष का पारस्परिक प्रेम, जो रूपाकर्षण के माध्यम से उत्पन्न होता है तथा जिसके मूल में वासनाजन्य शारीरिक भूख विद्यमान रहती है। प्रेम मानव-मन की वह स्वाभाविक स्वच्छन्द वृत्ति है जो प्रकृतया सामाजिक बंधनों को स्वीकार करना नहीं चाहती, परन्तु समाज ने अपनी मर्य्यादा

की रक्षा के लिए देश-काल तथा परिस्थितियों के अनुसार उसपर नैतिक बंधन डाल रखे हैं। भारतीय संस्कृति ने समाज के सामने व्यक्ति के त्याग को अत्यधिक महत्व देने के कारण, प्रेम को व्यक्ति की वस्तु नहीं बल्कि समाज की वस्तु माना है जिसके आधार पर ही विवाह-व्यवहार शास्त्र की व्यवस्था की गयी है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्दर उन्हीं प्रेम प्रसगो की चर्चा की गयी है जिनका अन्त विवाह में हुआ है। परिणय से वंचित प्रणय को समाज के लिए सर्वथा अस्वीकार किया गया है। नैतिक प्रेम प्रसंगों के लिए भी समय, स्थिति तथा स्थान की एक निश्चित व्यवस्था पूर्ववर्ती आचार्यों ने स्वीकार की है। परन्तु जहाँ तक शुद्ध कला का संबंध है, वह सामाजिक मान्यताओं को उतना स्वीकार नहीं करती जितना कि वह स्वाभाविकता के निकट है। गोस्वामी तुलसीदास कवि एवं कलाकार के साथ साथ भारतीय आचार-शास्त्र के द्रष्टा भी थे, परन्तु कालिदास कवि एवं शुद्ध कला के स्रष्टा थे। यही कारण है कि तुलसीदासजी के साहित्य में जितने भी प्रेम-प्रसग आये हैं उनमें नैतिकता का सम्यक् निर्वाह हुआ है।

'राम' ने सीता को छोड़ कर अन्य किसी नारी के नैकट्य की कभी कामना ही नहीं की। वाटिका में सर्व प्रथम कुमारी सीता को देख कर अनुराग केवल 'राम' के मन में ही उत्पन्न होता है, लक्ष्मण के नहीं, क्योंकि विवाह के रूप में उसका अन्त तो राम के साथ, तुलसी को कराना है। सामाजिक मर्यादाओ का उन्होंने तो यहाँ तक पालन किया है कि कहीं भी उनके दाम्पत्य जीवन के प्रेम-व्यापारो में मासलता की गंध आने ही नहीं पायी है। यह गोस्वामीजी की अपनी सामाजिक मर्यादा नहीं थी, बल्कि उनके पीछे उनकी आदि परम्परा वर्तमान थी, जिसका उन्होंने निर्वाह मात्र किया है, परन्तु 'कालिदास' के साहित्य में स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है क्योंकि वे शुद्ध रूप से कलाकार थे। ऋषि-आश्रम में जाकर किसी भी व्यक्ति के लिए आश्रम-कन्या को कौन कहे, परिणीता पत्नी के साथ भी रति कर्म की व्यवस्था शास्त्रों ने नहीं की है, परन्तु यह कालिदास ऐसे कलाकार का ही काम था कि उसने उस समय भी जब सामाजिक बंधन आज से कहीं अधिक कड़े थे, दुष्यन्त और आश्रम-कुमारी शकुन्तला के प्रेम की चरम परिणति का चित्रण साहित्य में किया है। इतना ही नहीं 'कुमार सम्भव' में जगतपिता शंकर और जगतमाता पार्वती के प्रेम-प्रसग का चित्रण उन्होने अत्यन्त मानवीय ढग से अनावृत रूप मे किया है क्योंकि वे प्रेम को, जिसकी चरम परिणति रति है, सृष्टि का मूल और मानव का आवश्यक स्वस्थ लोक धर्म मानते हैं।

प्राचीन भारतीय-साहित्य में चाहे वह यथार्थवादी हो अथवा कला की अभिव्यक्ति के लिए लिखा गया हो, जितने प्रेम-व्यापार दिखलाये गये हैं, सब के मूल में पुत्र की एक कामना रही है। शारीरिक भूख को तृप्त करने के लिए उच्छृंखल यौन-व्यापारों का कहीं भी चित्रण नहीं हुआ है चाहे वह तुलसी का 'रामचरित-मानस' हो अथवा कालिदास का 'रघुवंश' तथा 'कुमार-सम्भव'। आज की सभ्य कहलाने वाली दुनिया में न तो वे प्रेमी और प्रेमिकाएँ हैं, न तो वह प्रेम का आधार और न वह स्त्री-पुरुष के बीच होने वाले प्रेम का रूप ही। आज की स्थिति पहले से बिल्कुल भिन्न हो गयी है। समाज में छोटे-बड़े की मर्यादाओं में भी अस्वाभाविक भेद दिखलायी देने लग गया है, जिसके चित्रण में साहित्यकार गर्व का अनुभव कर रहा है कि वह एक नूतन सामाजिक संघर्ष का चित्रण कर रहा है। हिन्दी-साहित्य के ऊपर बँगला साहित्य का भी प्रभाव पड़ा है। प्रेम-प्रसंगों के चित्रण में जो आज कहीं-कहीं अमर्यादित वाचालता दिखलाने में साहित्यकार अत्यधिक जागरूक दिखलायी पड़ते हैं, उसपर स्पष्ट रूप से 'द्विजेन्द्रलाल' के नाटकों का प्रभाव है। द्विजेन्द्रलाल के पात्र प्रेम की भावुकता में सामाजिक व्यवधानों की परवाह नहीं करते। 'लैला' 'नूरजहाँ' के सन्मुख इसलिए नहीं दबती कि उसके कारनामे उससे कहीं अधिक बुरे हैं। इसे स्वाभाविक अधिकारों के लिए सामाजिक विद्रोह भले ही मान लिया जाय, परन्तु ऐसे विद्रोहों की सम्भावना कम पायी जाती है। कोई भी पुत्री अपनी माता के उच्छृंखल रोमाँस की भर्त्सना उस प्रकार नहीं कर सकती जैसा कि 'लैला' से 'द्विजेन्द्रलाल' ने कराया है। 'नूरजहाँ' के समान समर्थ माता, भारत सम्राट जहाँगीर जिसका गुलाम बन चुका था, जिसके एक इशारे पर भारत का साम्राज्य उलट-पुलट सकता था और जिसकी एक कुटिल दृष्टि असंख्य नर-नारियों पर कहर ढा सकती थी, उसी 'नूरजहाँ' को नाचीज़ लड़की यह कह कर साफ बच जाय कि वह कुलटा है तथा पति के हत्यारे को पंकिल आलिंगन देने वाली है, यह किस सीमा तक तर्क-संगत है। इसे अनैतिकता को नैतिकता की चुनौती भले कह लें, माता की ओर से पुत्री के लिए दिया गया स्वाभाविक क्षमादान भले मान लें, किन्तु हम यह कैसे मान सकते हैं कि 'लैला' की धृष्टता सामाजिक मर्यादा के अनुकूल है? इस दृष्टि से द्विजेन्द्रलाल के नाटकों ने भारतीय संस्कृति की परम्परा को जितनी अधिक चोट पहुँचायी है, उतनी अन्य किसी साहित्यिक प्रभाव ने नहीं। हिन्दी साहित्य के उपन्यासों पर इस प्रकार की सामाजिक रीति-नीति का प्रभाव आगे चल कर खूब पड़ा।

हिन्दी साहित्य में उपन्यासों का इतिहास जहाँ से आरम्भ होता है, उस समय तक समाज में नैतिकता पर काफी बल दिया जाता था जिससे उन उन्पयासों में प्रेम की कहानियों के साथ लेखकों ने नीति-वाक्य चिपका कर रखना चाहा है। परन्तु इस खेवे के उपन्यासों में लेखकों ने अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा दिखलाते हुए अन्त में नायक-नायिका का विवाह सम्पन्न करा दिया है जो भारतीय साहित्य में परम्परागत नियम-सा हो गया था। जितने भी जासूसी और तिलस्मी आदि उपन्यास आरम्भ में लिखे गये, उन सब में उक्त परम्परा का निर्वाह हुआ है। परन्तु उसी समय से हम देखते हैं कि कहीं-कहीं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोही भाव भी उठ रहे थे। ठाकुर जगमोहन सिंह के 'श्यामा स्वप्न' नामक उपन्यास में स्वच्छन्द प्रेम की कहानी है, जिसमें स्वच्छन्द प्रेम, गन्धर्व-विवाह का औचित्य प्रतिपादन, क्षत्रिय-कुमार का ब्राह्मण कुमारी से प्रेम और विवाह का प्रस्ताव इन सब की जो योजना की गयी है वह ऐसे ढंग से है कि प्रेम और विवाह के संबन्ध मे कठोर सामाजिक रूढ़ियों के प्रति तत्कालीन शिक्षितों में व्याप्त असन्तोष भलीभाँति व्यक्त हो जाता है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द के आगमन तक स्वच्छन्द प्रेम की समस्या अन्य सामाजिक प्रश्नों के साथ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या बन गयी थी। प्रेमचन्द ने इस प्रश्न को उठाया तो अवश्य, पर उसको वे सामाजिक विद्रोह की भूमि तक नहीं पहुँचा सके। यही कारण है कि ऐसे प्रश्नों का समाधान उन्होंने हत्याओं और आत्मघातो द्वारा प्रस्तुत किया है। 'रंगभूमि' में उन्होंने 'सोफिया' का इसीलिए बलिदान करा दिया है और 'कर्मभूमि' में 'सकीना' के आकस्मिक परिवर्तन से उसके चरित्र को अत्यन्त गिरा दिया है। 'गढ़ कुंडार' की सारी संघर्ष-भूमि ही इस समस्या को ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर उभारती है और उसका दु:खान्त ही इस युग के उपन्यासों की दुर्बल मन:स्थिति का सूचक है, जो क्रान्ति के पथ पर बढ़ने से बार-बार हिचकती है। परन्तु बाद के कुछ वर्षों में ही, 'प्रसाद' तथा 'जैनेन्द्र' ऐसे उपन्यासकारों ने इस समस्या को नयी दृष्टि से देखना आरम्भ कर दिया। इस समय तक हम देखते हैं कि नारी इस स्थिति तक पहुँच गयी थी कि विवाह-बंधन के भीतर रह कर वह अपनी प्रेममयी मूल-प्रकृति को कुपित करने के लिए तैयार नहीं है। यहीं पर प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य के विचार-भूमि की वह सन्धि-रेखा है जहाँ से मनोविज्ञान की नयी उपलब्धियों का चकाचौंध फैलाने वाला प्रकाश दिखलायी पड़ने लग जाता है।

मनोविज्ञान का साहित्य और समाज पर ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा है कि जिसके कारण पहले की अपेक्षा व्यक्ति को समझने में अधिक कठिनाई पड़ रही है। प्रेम के नैतिक मूल्यों में भी इस विज्ञान के कारण परिवर्तन हुआ है क्योंकि व्यक्ति को देखने का दृष्टिकोण ही बदल गया है। मनोविश्लेषण और यथार्थवाद तथा स्वतंत्रता के नाम पर आजकल बहुत से उपन्यासकार नैतिकता की सर्वथा अवहेलना करते दिखलायी पड़ रहे है। 'उग्र', ऋषभचरण जैन और चतुरसेन शास्त्री आदि के उपन्यासों में वासना के नग्न रूप का चित्रण हुआ है। इनके द्वारा प्रेम का जो स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है, उसका आधार इन्द्रिय-लोलुप मनोवृत्ति की उत्तेजना तथा शारीरिक भूख की तुष्टि की कामना है। इस प्रकार यथार्थवाद के नाम पर विलास और वासनामय जीवन के अतिरजित चित्र अंकित किये जा रहे हैं। मनुष्य अधिक अंशों तक परिस्थितियों का दास अवश्य है, किन्तु परिस्थितियों से ऊँचा उठाने में ही तो उसकी मनुष्यता और पुरुषार्थ तथा मानवता की विजय है। यहाँ आकर मनुष्य और पशु में भेद उत्पन्न होता है अन्यथा दोनो समान हैं।

'प्रेम' के प्रति जैनेन्द्र जी का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। वे प्रेम को समाज की वस्तु नहीं बल्कि उसे एकमात्र वैयक्तिक वस्तु मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने जिन प्रश्नों को उठा कर छोड़ दिया था, जैनेन्द्र ने उसका समाधान ही नहीं प्रस्तुत किया, बल्कि उन्होंने उसकी सारी स्थिति ही बदल दी। परम्परा से चली आती सारी मान्यताओं को इनके उपन्यासों में ठुकरा दिया जाता है। 'परख' को छोड़कर इनके सारे उपन्यासों में वैयक्तिता की चरम अभिव्यक्ति है। 'सुनीता' की नारी तो पति द्वारा ही परपुरुष से प्रेम का स्वाँग करने के लिए प्रेरित की जाती है। यद्यपि लेखक ने उसे वैज्ञानिक प्रयोगों की पुत्तलिका के रूप में ही चित्रित करना चाहा है, किन्तु प्रयोग समाप्त हो जाने पर उसके अन्दर स्त्री-सुलभ स्वाभाविक प्रेम हरिप्रसन्न के प्रति फूट ही पड़ा, भले ही उपन्यासकार उसे आगे बढ़ाने से हिचक गया हो। परन्तु जैनेन्द्र सुनीता में जो करते-करते रुक गये, उसे उन्होने 'व्यतीत' में पूरा कर लिया जहाँ प्रेम और विवाह में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं दिखलायी पड़ता। जैनेन्द्र का पुरुष इतना आकर्षक है कि सभी लड़कियाँ उससे प्रेम करने लग जाती हैं। 'चन्द्रा' का विवाह 'जयन्त' के साथ तो एक निमित्त मात्र है, क्योंकि इसके अतिरिक्त भी अनैतिक प्रेम व्यापार चलता ही रहता है उनके अनुसार जिसे नैतिक ही मानना चाहिये। अनीता, सुमिता तथा कपिला आदि सभी जयंत से प्रेम करती हैं और कुछ तो अभिसार तक भी हो आती हैं, पर उनमें से एक भी

उसकी परिणीता नहीं है। 'अज्ञेय' का 'शेखर एक जीवनी' हिन्दी साहित्य में एक और नवीन 'थीम' लेकर आया। उनकी दृष्टि में स्त्री, नारी को छोड़ कर, माता, बहन आदि कुछ नहीं। वह केवल नारी है जो पुरुष की भोग्या है। 'शेखर' 'शशि' से प्रेम करता है जिसे सदा से बहन के रूप में सुनता आया है। नदी के द्वीप में आकर तो स्वच्छन्दता अपनी सीमा का भी अतिक्रमण कर जाती है और प्रेम, विवाह आदि से बिल्कुल हट 'रति' पर आ जाता है। 'रेखा' 'भुवन' को, पुनर्विवाह कर लेने पर भी 'रति-दान' देने में सम्भवतः संकोच नहीं करती। हिन्दी साहित्य की बात तो अलग रही भारतीय प्राचीन साहित्य में जिस स्वजातीय रति का कहीं नाम तक नहीं आने पाया है, उसे अज्ञेय ने प्रेम की भावुकता में दिखला दिया है। ऐसा लगता है कि इसी से प्रभावित हो कर वृन्दावनलाल वर्मा ने भी 'मृगनयनी' में गयासुद्दीन के हसीन लौंडे मटरू का नाम लिया है। पता नहीं 'यथार्थवाद' के नाम पर लेखकों को ऐसे जुगुप्सित चित्रों को प्रस्तुत करने में क्यों विशेष आनन्द आता है।

आजकल के अधिकांश उपन्यासों में प्रेम के नवीन नैतिक मूल्य को स्थापित करने की सशक्त अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित हो रही है। प्रेम के सम्बन्ध में समाज की दृष्टि अत्यन्त उदार होती जा रही है तथा उसके ऊपर से सामाजिक बन्धन उठते जा रहे हैं। जिन उपन्यासकारों ने अपने कथानक यूनीवर्सिटी की रंगीन दुनिया से लिये हैं, उन्होंने प्रेम और विवाह को दो तत्त्व ही नहीं माने हैं बल्कि उन्हें उन्होंने दो विरोधी तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार प्रेम विवाह का प्रथम सोपान न रह कर, व्यक्ति के दैनिक जीवन में मानसिक रोग बन कर रह गया है जिसके लिए स्वच्छन्द विलास ही विहित औषधि है। भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' और रांगेय राघव के 'घरौंदे' में हमें ऐसे चित्र मिल जाते हैं जिनमें प्रेम और विवाह को दो विभिन्न रूप माना गया है। इस प्रकार आज की आधुनिकतम प्रवृत्ति में जो भी नये मत आ रहे हैं, उनका अपना मार्ग है, उनकी अपनी अलग विचार गत धारणाएँ हैं और इस प्रकार हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में प्रेम का स्वरूप अपना एक नया मोड़ ले चुका है। आधुनिकतम विकसित रूपों में क्वाँरे और कुमारियों के आजन्म प्रेम व्यापारों को ही अधिक सामयिक होने की संज्ञा मिलती जान पड़ती है। ऐसी स्थिति में हम यही कह सकते हैं कि इस समस्या को लेकर विविध प्रयोग किये जा रहे हैं और ऐसा जान पड़ता है कि भौतिक सुख की कामना मानव जाति को उसके प्राकृत रूप में ला खड़ा करेगी, जहाँ वह पशुओं से अधिक भिन्न नहीं था।

दसवाँ अध्याय

व्यंग और मध्यवर्ग

व्यंग

साहित्य पर कला की विजय ने उपन्यासों की कथा कहने वाली सीधी-सादी शैली में अनोखा परिवर्तन ला दिया। परन्तु हिन्दी के कलात्मक उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वे समाज की समस्याओं तथा प्रस्तुत परिस्थितियों को अपने से दूर नहीं रख सके। यही कारण है कि ये उपन्यास 'कला के लिए कला' के रूप में नहीं हो सके हैं। बल्कि उनके ये गुण एक विशेष शैली के रूप में अपना लिये गये जिससे इन उपन्यासों का प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया है। ऐसे उपन्यासों में प्रायः राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं को वर्ण्य विषय बनाया गया है। कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गये हैं जिनमें एक प्रकार से देश में चलने वाले राष्ट्रीय आंदोलनों की कथा ही कही गयी है जिनका ऐतिहासिक न होते भी ऐतिहासिक महत्व रहेगा। परन्तु इस खेवे के उपन्यासकारों की सबसे बड़ी विशेषता, उनकी व्यंगात्मक शैली ही है। इतना तो अवश्य है कि इनमें मानव एवं समाज का व्यापक रूप नहीं उतर पाया है, परन्तु जिन पक्षों से प्रेरणा लेकर इन उपन्यासों की रचना हुई है, वे बड़े ही मार्मिक एवं यथार्थ हैं।

चित्रलेखा

भगवती चरण वर्मा का 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास समाज के सामने एक समस्या लेकर उपस्थित हुआ। इस उपन्यास के व्यापक प्रभाव से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि समाज अपनी चली आती मान्यताओं को ही जो अन्तिम सत्य मान बैठता है, वह नितान्त भ्रांति मूलक है क्योंकि परिस्थितियों के कारण मान्यताएँ बनती बिगड़ती रहती हैं। 'पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है ?'' यही इस उपन्यास की वास्तविक समस्या है। 'परिस्थितियों के आवर्त में कुमारगिरि का संयम स्खलित होता है, उसका गर्व-खर्व होता है। इधर परिस्थितियों के प्रभाव में ही भोगी बीजगुप्त एक महान त्यागी बन जाता है[1]।'' साधारणतः हम जिसे अच्छा समझते हैं वही बुरा ठहरता है

---

1. हिन्दी उपन्यास।

और बुरा अन्त में हमारे लिए अच्छा बन जाता है। जिस बीजगुप्त को हम एक विलासी तथा दुर्बलताओं का दास समझते हैं, वही देवता और त्याग की मूर्ति के रूप में प्रकट होता है तथा कुमारगिरि जिसे हमने योगी एवं महात्मा समझा था वह राक्षस और पशु बन जाता है। वर्माजी के उपन्यासों में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को छोड़कर प्रधान रूप से स्त्री-समस्याओं को ही अपनाया गया है। इस सम्बन्ध में जो खलने वाली बात है, वह यह कि नारी मुख्य रूप से 'स्त्री' जो पुरुष के भोग के लिये ही बनी है, के रूप में आती है। कहीं भी हम वर्माजी को अन्य स्त्री-पक्षों की ओर सहानुभूति दिखलाते नहीं पाते। यदि वर्माजी ने अन्य पक्षों को भी अपनाया होता तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारे सामने माँ-बहन, आदि नारी रूपों के व्यग चित्र आते, जिससे समाज का बड़ा कल्याण होता। इस प्रकार की उपेक्षा का मूल कारण है साहित्य में बढ़ती हुई 'प्रकृतवादी' (नेचुरलिस्टिक) अभिव्यंजना शैली की महत्ता। जिसके अन्दर नारी केवल 'स्त्री' को छोड़कर और कुछ नहीं है।

तीन वर्ष

'तीन वर्ष' में वर्माजी ने अन्य स्थलों को छोड़कर विश्वविद्यालय की अनोखी दुनिया अपनायी है। उन्होंने अन्य उपन्यासकारों की भाँति पाश्चात्य सभ्यता पर प्रहार करने में ही अपनी प्रतिभा का अपव्यय नहीं किया, बल्कि उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले एक सीधे-साधे ग्रामीण विद्यार्थी की वास्तविक परिस्थिति को तटस्थ रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। जितने भी चित्र वर्माजी ने इसमें उतारे हैं, उनमें उन्हें इसलिए आशातीत सफलता मिली है क्योंकि वह उनका स्वयं का देखा ही नहीं था, सम्भवत वे उसके प्रमुख पात्र भी रहे हों। उपन्यास की घटना के तीन वर्ष उनके स्वयं के प्रयाग विश्वविद्यालय में 'ला' के छात्र की हैसियत से बिताये, एवं एक वर्ष कानपुर में देखे, जहाँ पर वर्मा जी का घर ही है, हुए समय हैं। इसलिए जितने भी चित्र एवं व्यग आये हैं, वे अत्यन्त ही यथार्थ हैं।

'तीन वर्ष' के अन्दर उपन्यासकार ने एक देहाती युवक 'रमेश' के जीवन को लेकर उसे अनेक परिस्थितियों तथा वातावरणों में रखकर उसकी परिस्थिति जन्य अवस्थाओं का चित्र खींचा है। 'रमेश' शहर की हवा लगने के पूर्व एक प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी था जो परीक्षा से सदैव प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता था।

किस प्रकार ग्रामीण वातावरण में पले विद्यार्थी को विश्वविद्यालयों में आकर अन्य साधारण विद्यार्थियों के सामने झेंप खानी पड़ती है, हमें इसका परिचय उपन्यास के उस प्रसंग से लग जाता है जब कक्षा में रमेश को

'अजीत' द्वारा कुर्सी छोड़ने का आदेश सुनायी पड़ता है। विश्वविद्यालयों की मित्रता मनोविनोद एवं समय काटने के लिए प्रायः की जाती है जिसमें भोले ग्रामीण बालक जो पढ़ने के लिए ही आते हैं, नगरों तथा ऊँचे धनिक श्रेणियों के बालकों की अपेक्षा, अपने स्वाभाविक संकोच के कारण, सदैव घाटे में रहते हैं जो मनोरंजन के लिए विद्यार्थियों में नाम लिखा लेते है। 'अजीत' और रमेश की मित्रता कुछ इससे भिन्न अवश्य है, परन्तु आरम्भ में अजीत ने यही समझा था कि इस देहाती बालक को साथ रख कर इसे बनाने में अच्छा मनोविनोद होता रहेगा। बाद में भले ही उसकी कठिनाइयों तथा प्रतिभा पर वह उदार हो उठता है।

जिस बालक को कभी बड़े आदमियों का सम्पर्क ही नहीं मिला हो और यदि उसके साथ एक राजा का भाई मित्र के रूप में आकर हर प्रकार से आर्थिक सहायता भी करे, तो उसके लिए इससे बढ़कर महान व्यक्ति और कौन मिल सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक व्योहार, उसके सामाजिक स्तर पर ही आँके जा सकत है। एक राजा के लड़के अथवा भाई के लिए जिस वस्तु का कुछ भी मूल्य नहीं है, उस वस्तु का मूल्य एक साधारण स्तर के बालक के लिए अत्यधिक बढ़ जाता है। 'अजीत' के लिए रुपयो का अत्यधिक महत्व नहीं है। वह जो रुपये 'रमेश' के लिए खर्च करता है उसके लिए वह कोई बड़ी वस्तु नहीं है, परन्तु 'रमेश' उस कृतज्ञता के बोझ से दब जाता है। इस प्रकार एक 'रमेश' ही नहीं बल्कि न जाने कितने रमेश विश्वविद्यालयों में आकर अपना लक्ष्य खो बैठते हैं। वर्माजी ने मनोवैज्ञानिक आधार लेकर भी परिस्थिति जन्य अवस्थाओं का यथार्थ चित्र खींचा है। लड़कियों के पीछे 'यूनिवर्सिटी स्टूडेन्टों' को बसों एवं रिक्सों के पीछे दौड़ लगाते हुए वर्मा जी ने अपनी आखों देखा है, परन्तु जिन्हें समाज तितली समझता है वे भी नारी हैं और सच्चे अर्थों में हृदय रखती है। इन तितलियों को यदि दौड़ा कर कोई पकड़ना चाहे तो नहीं पकड़ सकता। स्त्री-स्वभाव है कि पुरुष उससे जितना ही भागता रहता है, वह उसके उतना ही निकट आना चाहती है। उसे धन और ऐश्वर्य नहीं चाहिये, वह तो रूप और हृदय पर ही अपने प्रेम का अर्घ चढ़ाती है। 'आखिरी दाँव' की 'चमेली' पति की हृदयहीनता के कारण ही तो एक युवक के साथ भाग निकलती है। परन्तु उसे सच्चा प्यार एक ढलते हुए व्यक्ति 'रामेश्वर' से मिला और वह नवोढ़ा फूल सी युवती अपना सब कुछ न्योछावर कर उसकी हो जाती है।

हाय रे समाज! और तेरी विडम्बना। इसमें सन्देह नहीं कि **'प्रभा' रमेश** को हृदय से प्रेम करती है, परन्तु जब 'रमेश' ने उसके **सामने**

प्रस्ताव उपस्थित किया, तो उसने 'रमेश' की आय पूछी जिसे सुनकर सहसा उसके विश्वासों को धक्का लगा। वह उन्मत्त हो उठा। उसके सामने पूर्व का सीधा सादा जीवन नाचने लगा जिसमें वह प्रसन्न था, सदा प्रथम श्रेणी में पास होता था, द्वितीय श्रेणी में पास होने का बी० ए० में उसके जीवन की पहली घटना थी। तब उसने 'अजीत' की सहानुभूतियों का मूल्य जाना। रमेश के मन में इसकी प्रतिक्रिया होती है। वह 'अजीत' के ऊपर पिस्तौल से वार करता है और एम० ए० की पढ़ाई छोड़कर उन्मत्त अवस्था में भाग निकलता है। इस एक चित्र को यथार्थवादी बनाने के लिए वर्माजी के इस उपन्यास में कुछ अस्वाभाविकता भी आ गयी है। 'अजीत' का चरित्र अत्यन्त अस्वाभाविक जान पड़ता है, जहाँ तक रुपयों के त्याग करने का प्रश्न है, वह स्वाभाविक है, परन्तु 'प्रभा' से प्रेम करने में 'रमेश' को मदद देना, स्वाभाविक नहीं जँचता क्योंकि वह स्वयं एक दिलदार युवक है। ऐसा जान पड़ता है कि 'रमेश' की परिस्थितियों को चित्रित करना ही लेखक का अभीष्ट है जिससे बहुत से पात्रों के अधूरे जीवन को बीच ही में छोड़कर वह फिर उनका नाम नहीं लेता।

रमेश के शराबी मित्रों का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है। आज भी 'श्याम बिहारी' टिकट कलक्टर ऐसे अनेक मिल जायँगे जो नित्य कितनी स्त्रियों का सतीत्व टिकट के अभाव में नष्ट करते रहते हैं। वर्माजी ने ऐसे सरकारी कर्मचारियों की नैतिकता एवं उनके उत्तरदायित्वों को लेकर बड़ा ही कड़ा व्यंग किया है। वेश्या सुधार की भावना हिन्दी साहित्य के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है, परन्तु यहाँ पर वेश्या, मनोवृत्ति को असली रूप में सामने लाने के लिए ही ऐसा कथानक गढ़ा गया है जिसमें वेश्या वृत्ति 'प्रभा' में है न कि 'सरोज' में। 'सरोज' जिसे समाज वेश्या समझता है सच्ची नारी के रूप में दिखलायी पड़ती है। लोभप्रेरित मध्यवर्ग से मघप और वेश्याओं में अधिक दया और ममता है।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के अन्दर भगवतीचरण वर्मा ने एक व्यापक क्षेत्र को उपन्यास का वर्ण्य वस्तु बनाया है। यह उपन्यास १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन को अपना कर चला है। लेखक ने भारतीय राजनीति के तीन प्रमुख वादों को तीन रास्तों के रूप में चित्रित किया है। पात्रों के सम्वादों द्वारा गाँधीवादी, उग्रवादी तथा साम्यवादी सिद्धान्तों की विवेचना भी की गई है। इस उपन्यास के अन्दर लेखक की जो सबसे बड़ी सफलता रही है वह है चित्रों के निर्माण की। जिन 'टिपिकल' चरित्रों का निर्माण वर्माजी ने किया है वे

बड़े ही सुन्दर एवं यथार्थ हैं। उपन्यासों के पात्रों के चरित्रांकन में लेखक की लेखनी यथार्थ की कठोर भूमि पर चलती दिखायी देती है। इसके चरित्रों में यथार्थता है, कथावस्तु में नहीं।

पण्डित रामनाथ तिवारी अपने पुराने संस्कारों से युक्त तथा नवीन संस्कारों से परिचित, अपनी शान पर सब कुछ मिटा देने वाले ताल्लुकेदार हैं। यों तो तिवारीजी ब्राह्मण है, परन्तु उनके संस्कारों से ऐसा लगता है कि वे 'टिपिकल' ठाकुर हैं। तिवारीजी का चरित्र भारतीय रईसों का सर्वोत्तम उदाहरण है। तिवारीजी अंग्रेजी सरकार का विरोध करना अपना विरोध समझते हे, क्योकि वही एक ऐसी सरकार है जो उनके अधिकारों की रक्षा कर सकती है। परन्तु वे इतने स्वाभिमानी है कि कलक्टर महोदय से यह जान कर कि उनका अस्तित्व केवल सरकार की ही कृपा पर है, उत्तर प्रत्युत्तर देने के लिए तैयार हो जाते है। वे सरकार के इसीलिए हिमायती हैं कि वे अपने को ही सरकार समझते है। उनके लिए सम्मान ही सब कुछ है। यद्यपि क्रान्तिकारी होना बहुत बड़ा पाप समझते हैं, फिर भी वे यह सहन करने के लिए कभी भी नहीं तैयार है कि उनका लड़का 'प्रभानाथ' प्राण के भय से 'मुखबिर' हो जाय। उन्होंने अब तक सब को झुकाया ही है, किसी के सामने कभी झुकना नहीं सीखा। उनके अन्दर वह अटूट साहस तथा धैर्य है कि अपने लिए किसी की सहायता वाँछित नहीं समझते। दयानाथ काँग्रेसी होकर घर से निकल जाय, उमानाथ कम्यूनिष्ट होकर 'फरार' हो जाय तथा प्रभानाथ को फाँसी हो जाय परन्तु पण्डितजी अपनी शान मे किसी भी प्रकार की कमी नहीं आने देंगे और जब तक वे जीवित हैं तब तक सब कुछ उनका है, अपनी सम्पत्ति में किसी का साझा नहीं स्वीकार कर सकते। सचमुच रामनाथ का एक विशिष्ट प्रकार का यथार्थ चरित्र, वर्माजी की उपन्यास-साहित्य की बहुत बड़ी देन है।

इसी प्रकार का एक चरित्र झगड़ू मिश्र का है जिसमें ग्राम का एक साहसी, सच्चा तथा जनप्रिय समाज ही मुखर हो उठा है। मैनेजर रामसिंह के अत्याचारों को देखकर वे क्षुब्ध हो जाते हैं। इनके चरित्र का निर्माण लेखक ने गांधीवादी सिद्धान्तों के आधार पर किया है। जब गाँव की उन्मत्त भीड़ ने रामनाथ के ऊपर प्रहार कर दिया तो उन्होंने अपना प्राण देकर अपने वचन की रक्षा की, जो उन्होंने पुलिस अधिकारी को 'परमानन्द' शुक्ल को छुड़ाते समय दिया था। झगड़ू जी एक सत्यनिष्ठ, दृढ़चरित्र तथा न्याय प्रिय, जिसे लोग देहाती कहते हैं, नागरिक हैं। इन्हें लेकर जिन देहाती प्रसगों का चित्रण

हुआ है वे अत्यन्त ही स्वाभाविक हैं। झगड़ू के समाज की भाषा भी 'वर्मा' जी ने पात्रोनुकूल गढ़ी है। परमानन्द शुक्ल ने आवाज लगायी 'का हो वाजपेयी जी कितना विलम्ब है।'

'मिसिरजी तिवारीजी की कोठी माँ बैठि के बाते करि लेव, बाहर निकसि के करौ तो हम बताई।'

दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ तथा वीणा के चरित्र आधुनिक युवक और युवतियों के वे चरित्र हैं जिनके हृदय के अन्दर कुछ वर्षोंपूर्व स्वतंत्रता की अग्नि धधक रही थी।

लेखक ने परोक्ष-रूप से साहित्यकारों के प्रसंग को लाकर प्रयाग के कुछ साहित्यिक स्तम्भों के ऊपर सटीक व्यंग किया है।

आखिरी दाँव

'आखिरी दाँव' में सिनेमा जगत् की वह दुनिया है जिसके लिये आधुनिक शिक्षित युवक और युवतियाँ तथा मुख्यत विश्वविद्यालय के कुमार और कुमारियाँ, अपनी ललचायी आँखों को तरसाते रहते हैं।

मनुष्यों के चरित्र के निर्माण में परिस्थितियों का कितना बड़ा हाथ रहता है, उपन्यासकार ने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास में तीन चरित्र विशेष द्रष्टव्य है, रामेश्वर, चमेली और तीसरा शिवकुमार सेठ। आरम्भ में मनुष्य के अन्दर जो बुरी आदतें लग जाती हैं, वह उसे नष्ट करने पर भी उसका साथ नहीं छोड़तीं। रामेश्वर के अन्दर जूआ खेलने की आदत आरम्भ में ही लग गयी जिसने उसके जीवन के आखिरी दाँव तक साथ नहीं छोड़ा। सब कुछ हार कर भी जुआरी अपनी जीत की आशा नहीं छोड़ता। रामेश्वर को 'आखिरी दाँव' तक जीतने की आशा बनी ही रही, जब कि वह अपने जीवन को ही हारने जा रहा था। हत्या करने के अभियोग में पुलिस ने जब चमेली का पीछा रामेश्वर के तबेले तक किया तो उस समय भी रामेश्वर जूआ ही खेल रहा था। वह बराबर दाँव हार रहा था। चमेली ने आत्म हत्या की और अन्त में उसकी लाश को देखकर रामेश्वर कहता है—ले चलिये सार्जेन्ट साहब, आज मैं जिन्दगी का आखिरी दाँव हार चुका हूँ, ले चलिये।" फिर भी रामेश्वर को लेखक ने एकदम जुआरी के रूप में ही नहीं चित्रित किया है। उसके अच्छे संस्कारों का लोप नहीं हुआ है। उसके अन्दर एक अजीब मस्ती, एक जिन्दादिली, तथा दीन-दुखियों को देखकर पिघलने वाला एक हृदय है। वह अपनी दुर्बलताओं के होते हुए भी एक मानव है।

'चमेली' के चित्रण में वर्माजी ने कला का सहारा अधिक लिया है जिससे अस्वाभाविकता आ गयी है। वर्मा जी का झुकाव कला की ओर अधिक रहा है क्योंकि उन्होने एक 'चित्रलेखा' को छोड़कर अपने सभी उपन्यासों का नाम तक कलात्मक ढंग पर रखा है। शीर्षक को आकर्षक बनाने के लिए, एक उद्धरण तथा किसी की एक बात अथवा स्थान विशेष को शीर्षक के रूप में स्वीकार करना आधुनिक विकसित कहानियों की विशिष्ट कला है जिसका उपयोग वर्माजी ने अपने उपन्यासों में सफलता पूर्वक किया। 'चमेली' के चरित्र की क्या यथार्थता है, हम तब तक नहीं जान सकते, जब तक की हम लेखक का मन्तव्य नहीं जान लेते। ऐसा न करने से 'चमेली' का चरित्र हमें अत्यन्त ही काल्पनिक तथा अस्वाभाविक लगेगा क्योंकि जो चमेली अपने युवक पति को, केवल समादर न पाने के कारण छोड़कर एक सोनार के छोकड़े के साथ पति का भी रुपया और गहना लेकर भाग सकती है, वही किस प्रकार थोड़ी-सी सहानुभूति दिखलाने के कारण एक अधेड़ पुरुष पर सदा के लिए रीझ जाती है, और देहाती संस्कारों में पला हुआ 'रामेश्वर' भी, एक बाजारू औरत पर जो कि उसकी जाति की भी नहीं है तथा यह जानते हुए भी कि वह न जाने कितने पत्तल का भात खा चुकी है, उस पर विश्वास करके अपनी गृहस्थी फिर से बना लेता है, बात समझ में नहीं आती।

रतन के साथ जब राग-रंग करते अधिक दिन बीत जाते हैं और सब रुपये समाप्त हो जाते हैं और यहाँ तक कि चमेली ने अपने गहने भी जब बेचने के लिए दे दिये हैं जिससे उसके सभी सहारे टूट चुके हैं, फिर भी वर्माजी चमेली द्वारा रतन के लाये हुए उसके लखपती मित्र 'हीरा' का तिरस्कार कराते हैं, परन्तु चमेली को जब रामेश्वर ऐसे व्यक्ति का सहारा भी मिल गया था तथा वह स्वयं भी पान की दूकान से आय कर लेती थी, तो न जाने किस कारण वर्माजी ने उसे परिस्थितियों में डालकर उससे वही कार्य करवाया जिससे पहली बार बचा लिया था। वह घृणा करते हुए भी अभिनेत्री बनती है। जिस शिवकुमार सेठ की सूरत से नफरत करती थी और पान के दो रुपये देते समय कहती है कि "सेठ पान बेच रही हूँ, पान का दाम दो पैसा होता है", वह उसी सेठ को आलिंगन देती है और वह जब एक दिन 'चमेली' को कपड़े पहना रहा था, तो 'उसने चमेली के पीछे खड़े होकर अपने हाथ चमेली के कंधों पर रख दिये...और चमेली ने अनुभव किया कि मौत की तरह शिवकुमार का हाथ रेंगता हुआ, चमेली के कंधों के नीचे आगे की तरफ उतर रहा है। तो उसने किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की, आदि चित्रों को चित्रित करने के

कारण चित्र की वास्तविकता बिल्कुल नष्ट हो गयी है। परन्तु इस अस्वाभाविकता में तो लेखक का महान व्यंग छिपा है, जिसे हमें जानना आवश्यक है।

पात्रों को दूर-दूर से जल्दी-जल्दी खींच कर बम्बई में इकट्ठा कर देने तथा उनको लेकर सिनेमा स्टूडियो की चहारदीवारों में ही चक्कर काटने से उपन्यास का अभिप्राय स्पष्ट जाना जा सकता है। ऐसा लगता है कि वर्माजी के ऊपर आज कल के सिनेमा जगत के भ्रष्टाचारों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। वर्माजी ने उस दुनिया को अपनी आँखों देखा है जहाँ मेहनत के रुपये नहीं मिलते। बल्कि रूप और जवानी का सौदा किया जाता है। शिवकुमार सेठ ऐसे न जाने कितने वहाँ पड़े हैं जो रुपये से रूप और जवानी खरीदा करते हैं। 'राधा' की भाँति, जिनकी जवानी ढल गयी है और रूप का बाजार मंद पड़ गया है, न जाने कितनी स्त्रियाँ सिनेमा जगत में पड़ी हैं, जो डाईरेक्टरों तथा धनिकों के लिए माल जुटाने के लिए उनसे रुपये ऐंठा करती हैं। शिवकुमार सेठ तथा 'शीतलप्रसाद' का पतन लक्ष्मीपतियों तथा सिनेमा-समाज की एक वास्तविक कहानी है जिसके द्वारा लेखक ने बड़ा ही करारा, यथार्थ एवं सटीक व्यंग किया है। इसमें वर्माजी को जो आशातीत सफलता मिली है, इसका एक मात्र कारण यही है कि, 'डाइलाग-डाइरेक्टर' के रूप में उन्होंने इस समाज को अत्यन्त ही निकट से देखा था जिसकी प्रतिक्रिया ही ने उपन्यास का रूप धारण कर लिया है।

घरौंदे

रांगेय राघव ने अन्य स्थलों को छोड़कर 'घरौंदे' नामक उपन्यास में अपने उपन्यास के क्षेत्र को विश्वविद्यालय के छात्रावासों तक ही सीमित रखा है। छात्र-छात्राओं के पारस्परिक चलने वाले प्रेम, प्रोफेसर तथा शिष्याओं के बीच होने वाले घातों-प्रतिघातों तथा विद्यालयों के राजनैतिक जागरणों को लेकर लेखक ने बड़ा ही सुन्दर यथार्थ व्यंग लिखा है।

प्रोफेसर 'मिश्रा' को लेकर उपन्यासकार ने इस समाज की अच्छी पोल खोली है। यद्यपि लेखक अपने व्यंग में अतियथार्थवादी हो गया है, फिर भी उस प्रकार की घटनाएँ विश्वविद्यालयों में कम नहीं हैं। 'मिश्रा' किस प्रकार अपनी लड़कियों को अन्य अधिकारियों के पास भेज कर अपनी पत्नी की मूर्खता पर इसलिए दुखी रहता है कि यदि पत्नी होशियार होती तो वह अबतक प्रिन्सिपल अवश्य हो गया होता। वह कालेज में तो कम पढ़ाता है, परन्तु लड़कियों को अपने बंगले पर पढ़ाने के लिए बुलाता है। विधवा 'लवंग' अपनी हाजिरी बनवाने के लिए 'मिश्रा' के साथ व्यभिचार करते समय श्रीमती

शिक्षा द्वारा पकड़ी जाती हैं। एक बार उस चित्र को देखकर अश्रद्धा तो अवश्य होती है, परन्तु निश्चित ही लेखक ने एक ऐसी दुर्बलता की ओर संकेत किया है कि जिसके पनपने के कारण एक विशिष्ट समाज को कौन कहे सारा राष्ट्र गिर सकता है।

कालेजके चुनावों और अविश्वास के प्रस्तावों का अच्छा चित्र खींचा गया है तथा ईसाई मजहब की आलोचना 'रानी' और 'हरी' के प्रेम प्रसंगों को लेकर की गयी है। लेखक ने 'भगवती' नामक एक लडके की कथा मनोवैज्ञानिक ढंग से कहकर नाना प्रकार की परिस्थितियों में उसे रखा है और व्यंग चित्र उपस्थित करने का अवसर निकाला है। देश में उभड़ते हुए जनता के विद्रोह का भी चित्र भगवती और जमीनदार साहब की प्रजा को लेकर चित्रित किया गया है।

गिरती दीवारें

'उपेन्द्रनाथ अश्क' के 'गिरती दीवारें' नामक उपन्यास में भी 'घरौंदे' की भाँति 'चेतन' नामक एक युवक की कहानी है। परन्तु इसके अन्दर आये हुए चित्र उससे सर्वथा भिन्न हैं। प्राचीन संस्कारों में पली रमणी किस प्रकार अपने पति के साथ अवगुणो को गुण ही मानती है, यह 'चेतन' की माता के चरित्र से जाना जा सकता है। उसके शराबी पिता 'शादीराम' किस प्रकार परिवार वालों से लड़ते झगड़ते रहने पर भी, पत्नी की आँखों में दोषी नहीं ठहराये जाते।

'चेतन' ने मास्टरी छोड़कर जब लाहौर में रहना आरम्भ कर दिया तो लेखक ने उस प्रसंग को लेकर वहाँ की रहन-सहन और समाज का अत्यन्त ही स्वाभाविक चित्र खींचा है। किस प्रकार एक मकान में दस-दस आदमी रहते हैं, और कुँवारे आदमी को मकान नहीं मिलता, आज के सभी औद्योगिक नगरों की प्रमुख समस्या है।

इस उपन्यास के अन्दर जो सबसे बड़ा महत्वपूर्ण व्यंग किया गया है वह उन व्यक्तियो पर है, जो रुपयों के बल से प्रतिभा खरीदते हैं। भौतिक युग के वैज्ञानिक साधनों ने यद्यपि बहुत सी असम्भव वस्तुओ को भी सम्भव करके दिखला दिया है, परन्तु उसके अद्भुत चमत्कार भी अभी तक मनुष्यो में प्रतिभा का आरोप नहीं कर सके है। जिसे लक्ष्मी के वरद पुत्रो ने करके दिखला दिया है। समाज में इतनी आर्थिक अव्यवस्था है कि जिसके कारण सच्ची प्रतिभाएँ अपना चमत्कार दिखला ही नहीं पातीं। कितनी ही साहित्यिक महान कृतियाँ आर्थिक संकट के कारण प्रकाशित ही नहीं होने पातीं और यदि वे प्रकाशित भी होती हैं तो उनका वास्तविक लाभ प्रकाशक

ही उठाते हैं। बेचारे साहित्यकार को, जिसने कि रक्त और पसीना एक करके रचना की, केवल पत्रम् पुष्पम् स्वीकार करके सन्तोष कर लेना पड़ता है। साहित्यकारों के बीच प्रोफेसरों का अपने शिष्यों द्वारा लिखा कर तथा अधिकारियों का सहायकों द्वारा लिखा कर अपने नाम की मुहर लगा देना तो नैतिक ही माना जाता है इसके अतिरिक्त स्थिति इस सीमा तक पहुँच गई है कि ये मूर्ख धनपति जिन्हें सीधे कलम तक भी नहीं पकड़ना आता, दीन साहित्यकारों की स्थिति से लाभ उठाकर, कृतियाँ खरीद कर साहित्यकार बन जाते हैं। नाम गिनाना अनुचित होगा, नहीं तो हमारे हिन्दी साहित्य के अन्दर अभी भी ऐसे साहित्यकार वर्तमान हैं जो रुपया लेकर महन्तों के नाम से अपनी कृतियाँ प्रकाशित करवा देते हैं तथा बहुत से ऐसे प्रकाशक और पैसेवाले पड़े हैं जिन्होंने अपने जीवन में कभी एक भी पुस्तक नहीं लिखी और बीसों पुस्तकों के रचयिता बने बैठे हैं। 'अश्कजी' ने कविराज को चित्रित कर इस प्रकार के लोगों का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। वे किस प्रकार चेतन को वायु परिवर्तन के लिए पहाड़ी पर ले जाते हैं और वहाँ जाकर मीठी मीठी बातें सुना कर अपना साहित्यिक कार्य सम्पन्न कराने का प्रयत्न करते हैं।

स्वेच्छा के द्वारा न किए गये विवाह की कैसी प्रतिक्रिया होती है इसे 'चेतन' के अस्थिर मन से जाना जा सकता है। 'हुनर साहब' शायर को भी चित्रित करके एक विशेष प्रकार के चरित्र की अवतारणा की गई है जो अपने मित्र 'चेतन' से अपने यहाँ टिकने के कारण एक माह का आधा घर भाड़ा वसूल कर लेते हैं और उसे साइकिल गिरवी रखकर होटल का बिल चुकाना पड़ता है। जिसे देखकर यूरोप की उस सभ्यता का दृश्य भारत में भी दिखलाई पड़ जाता है जिसमें अथिति को विदा करते समय उसके सामने भोजन आदि का बिल रख दिया जाता है। भारतीय समाज की रीढ़ है उसका मध्यवर्ग, जिसकी अवस्था आज अत्यन्त ही शोचनीय है।

मध्यवर्ग

देश के अन्दर जितनी भी क्रान्तियाँ आज तक हुई हैं, उनकी सफलता का एक मात्र श्रेय मध्यवर्ग को ही है। उच्च वर्ग के सामने किसी प्रकार की विषम परिस्थित आयी ही नहीं, जिससे कि वर्तमान के प्रति उसे खिन्न होना पड़े, वह अपने 'कुबेर देव' की अर्चना करके ही पूर्ण सन्तुष्ट था, क्योंकि उनके द्वारा उसे सभी विलास की वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती थीं। उसके जीवन में किसी वस्तु विशेष का अभाव खटकता ही नहीं, निम्न वर्ग के

लोग इतने दलित एवं दीन होते हैं कि वे रोटी से ऊपर सोचने में असमर्थ से हैं। दिन भर अथक परिश्रम करने के बाद यदि उन्हें आधे पेट भी खाने की सामग्री मिल गयी तो वे अपने को परम सौभाग्यशाली जीव समझते हैं। मध्यवर्ग के लोग जागरूक, वर्तमान स्थितियों से परिचित तथा समस्याओं के मूल कारण को जानने की शक्ति रखते हैं, जिससे उनके अन्दर एक ज्वाला जलती रहती है और वही ज्वाला उन्हें सामाजिक क्रान्ति करने की प्रेरणा प्रदान करती है।

मध्यवर्ग का उदय

भारतवर्ष में मध्यवर्ग के उदय का दायित्व अंग्रेजी साम्राज्य पर है। अंग्रेजो के आगमन के पूर्व, भारतीय गाँव आर्थिक दृष्टि से इकाई होते थे। कृषि और कुटीर उद्योग धन्धों के कारण वे आत्म निर्भर थे, जिसे अंग्रेजों ने पूर्णतया नष्ट कर डाला परन्तु पुनर्निर्माण की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। ईस्ट इंडिया कम्पनी का यह ध्वंसात्मक कार्य १८७३ ई० तक रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, भारतीय बुर्जुआ वर्ग गतिशील रूप में आया और पढ़े लिखे लोगों का मध्यवर्ग भी बना। हिन्दी का पहला उपन्यास उन्नीसवीं शती के अन्तिम दो शतकों का मध्यवर्गीय वातावरण उपस्थित करता है। जिस समय सेठ साहूकारों की अपेक्षा बुद्धिजीवी वर्ग बहुत कम था। अंग्रेजी साम्राज्य ने अनजान में ही भारतवर्ष में एक नवीन जागरण का आलोक फूँका। अंग्रेजी सरकार के पापों को मजबूत बनाने के लिए स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय खोले गये। ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी आदि के आगमन तथा काँग्रेस के आन्दोलन से चली आती पुरानी रूढ़ियों को धक्का लगा, जिससे लोगों की दृष्टि सुधार की ओर गयी। उपन्यासकारों ने भी समय की माँग के अनुसार सुधारवादी दृष्टि अपनायी जिसमें 'प्रेमचन्द' जी का नाम अग्रगण्य है। 'प्रेमचन्द' जी वास्तव में मध्यवर्ग के ही कलाकार थे। जितना सुन्दर एवं सजीव, मध्यवर्ग का चित्र इनके उपन्यासों में उभड़ा है, उतना अन्य किसी उपन्यासकार की किसी भी कृति में नहीं।

मध्यवर्ग का शत्रु

कुल की मर्यादा मध्यवर्ग का सबसे बड़ा शत्रु है। उसको तथा कथित कौलिन्य और रूढ़ि ग्रस्त मर्यादाएँ ही समस्याओं की विषमता में घुटा डालती हैं। यह जटिलता न तो निम्न वर्ग में है और न उच्च वर्ग में है। निम्न वर्ग श्रमजीवी है, उसकी पारिवारिक इकायी में कोई किसी पर भार तुल्य नहीं

होता, सब कामगर होते हैं। रोटी की समस्या के सामने कौलिन्य नगण्य है। उच्च वर्ग के पास आज की सबसे बड़ी शक्ति पैसा है। पैसे वाला न्याय, धर्म, मर्यादा, शक्ति और यहाँ तक कि ईश्वर को भी खरीद सकता है। मध्यवर्ग की आन्तरिक स्थिति बड़ी खोखली होती है, उस अभाव की पूर्ति वह अपने कौलिन्य से करता है।

नारी की समस्या ही 'प्रेमचन्द' ने क्यों ली, यह भी वेश्या जीवन की। नारी भारतीय समाज का सबसे उपेक्षित वर्ग है। मध्यवर्गीय नारी की स्थिति सबसे अधिक चिन्तनीय है। निम्न वर्ग में नारी की कोई समस्या नहीं है क्योंकि वह एक पति को छोड़कर दूसरे पति के पास जा सकती है। यौन पवित्रता का भी उनके यहाँ विशेष महत्व नहीं है। उच्च वर्ग की महिलाओं को कम से कम खाने पहनने की चिन्ता नहीं रहती। यौन पवित्रता (सेक्सुअल प्योरिटी) को यहाँ भी उतनी अहमियत नहीं दी जाती। किन्तु मध्य वर्ग में तो नारी घर की इज्जत है। उसे अपनी इच्छाओं और वासनाओं का गला घोंटना पड़ता है। प्रेमचन्दजी पहले कलाकार थे जिन्होंने मध्यवर्ग की सम्पूर्ण जटिलताओं तथा समस्याओं के मौलिक कारणों की खोज की। 'सेवासदन' की 'सुमन' मध्यवर्गीय नारी है, जिसको सामाजिक रूढ़ियों के कारण ही अनेक मार्गों से गुजरना पड़ा। कृष्णचन्द ने अपनी थोथी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए ही घूस लिया और 'गजाधर' ने अपने घर की मर्यादा के कारण ही 'सुमन' को घर से निकाल दिया। मध्यवर्ग की इस थोथी मर्यादा के मूल में सामाजिक रूढ़ियों का ही साथ है। भीतर-भीतर चाहे जितना व्यभिचार और अनाचार होता रहे, परन्तु उसे बाहर नहीं प्रकट होना चाहिए। 'प्रेमचन्द' का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास जिसमें मध्यवर्ग की दो प्रमुख दुर्बलताओं कुलमर्यादा और आत्मगौरव का अंकन हुआ है 'गबन' है। 'रमानाथ' टिपिकल मध्यवर्गीय पात्र है। इसके अन्दर आई हुई मध्यवर्गीय विधवाओं की सामाजिक दुर्दशा तथा पारिवारिक उपेक्षा के चित्र अत्यन्त ही मार्मिक हैं।

यौन पवित्रता के आर्थिक पक्ष का विश्लेषण एंजिल्स ने अपनी पुस्तक फेमिली (Family) में अत्यन्त वैज्ञानिक और शोधपूर्ण ढंग से की है। परिवार की सत्ता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक उपकरण अवश्य था, परन्तु धीरे-धीरे इस पर धार्मिकता का ऐसा लेप चढ़ता गया कि यह भावना बहुत कुछ रूढ़ि में परिवर्तित हो गई। प्रेमचन्द ने नारी के साथ समस्त सहानुभूति और समवेदना रखते हुए भी उसे झटका नहीं दिया। 'रतन' अपने ही वृद्ध पति के साथ सन्तुष्ट है, यद्यपि उन्होंने उसकी स्वाभाविक भावनाओं को

कुरेद अवश्य दिया है। निर्मला तो इस घुटन पूर्ण वातावरण में दम ही तोड़ देती है। प्रेमचन्द की इस परम्परा का निर्वाह 'कौशिक', 'भगवतीप्रसाद वाजपेयी', 'उग्र' तथा 'प्रसाद' आदि ने किया है।

जैनेन्द्र कुमार

अंग्रेजी समाज ने जिस पढ़े बौद्धिक वर्ग की सृष्टि की यह मध्यवर्ग के अन्तर्गत ही आता है। नये ज्ञान विज्ञान के सम्पर्क में आने के कारण उसकी अपनी रूढ़ियाँ उसके नवीन संस्कारों के लिये प्रश्न चिन्ह बन गई हैं। वह इन से मुक्ति पाने के लिये विकल हो उठा है। 'जैनेन्द्र कुमार' के 'परख' में बुद्धि और अन्तस् का द्वन्द्व है। 'सत्य धन' बुद्धि का प्रतीक है तो कट्टो अंतस् का। इस बुद्धि के विरोध का एक स्वस्थ और असामाजिक रूप 'त्यागपत्र' में दिखलायी पड़ता है। 'मृणाल' मध्यवर्गीय परिवार की नारी है। उसके जीवन की दयनीयता अनमेल विवाह के फल स्वरूप ही उत्पन्न होती है।

धर्मवीर भारती

नयी पीढ़ी के उपन्यासकारों में 'धर्मवीर भारती' से उपन्यास साहित्य को भविष्य में बड़ी आशा है। इनके दो उपन्यास 'गुनाहों के देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' प्रकाशित हो चुके हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उपन्यासों की दुनिया में नयी टेकनीक का एक सफल प्रयोग है। इसके अन्दर गाँव की दोपहरी में बैठकर सात दिन की कही हुई कहानी है। इन सातों आख्यानों का स्वतंत्र रूप से आनन्द लिया जा सकता है और सामूहिक रूप से उपन्यास का भी। हम इसे अनेक कहानियों में एक कहानी अथवा एक कहानी में अनेक कहानियाँ कह सकते हैं। इसमें मध्यवर्गीय परिवार का सजीव चित्र उतारा गया है। कितने घातों प्रतिघातों, अंधविश्वासों, सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों तथा थोथी अहम्मन्यताओं के बीच से मध्यवर्गीय परिवारों का दयनीय जीवन चलता है, इसका यथार्थ चित्रण हुआ है। जमुना, तन्ना, सत्ती, महेश्वर दयाल तथा मणिकमुल्ला आदि पात्रों के द्वारा लेखक ने मध्यवर्ग के सम्पूर्ण चित्रों को समेट कर उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

'जमुना' निम्न मध्यवर्ग की एक भयानक समस्या है। आर्थिक नींव अत्यन्त खोखली है, जिसके कारण विवाह, परिवार, प्रेम आदि सभी की नींवें हिल गयी हैं। समाज के अन्दर जो घोर अनैतिकता का वातावरण छाया हुआ है, उसकी ओर लोगों की दृष्टि नहीं जा रही है, बल्कि लोगों ने उस ओर से अपनी आँखें मूँद ली हैं। जब तक पूरी जिन्दगी की व्यवस्था बदल नहीं दी जाती

तब तक इस सामाजिक विषमता के अन्दर समन्वय स्थापित हो ही नहीं सकता। इसमें सन्देह नहीं कि यदि जमुना और तन्ना का स्वाभाविक प्रणय, परिणय के रूप में बदल गया होता तो दोनो को जीवन की कठोर गलियों से गुजरना न पड़ता। न जाने कितने इस प्रकार के युवक और युवतियाँ माता-पिता की थोथी वंश मर्यादा तथा दहेज देने की असमर्थता के कारण अपने जीवन के स्वर्णिम क्षणों में ही घुट-घुट कर दम तोड़ देती हैं। आज भी कितनी ही ऐसी माताएँ तथा पिता मिल जायँगे जो लड़की को पीपल से ब्याह देना तथा लड़के के लिए काष्ठ पुतलिका ला देना उचित समझते हैं, परन्तु कुल मर्यादा तथा दूषित प्रथाओं से रचमात्र भी विचलित होना अपनी शान के विरुद्ध समझते हैं। जब तक व्यक्ति के अन्दर क्रान्तिकारी भावनाएँ स्थान नहीं पायेंगी तब तक मानवीय शृंखलाओं का टूटना असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति को ईमानदार होना चाहिये, यह सच है, पर जब पूरी व्यवस्था में बेईमानी है, तो एक व्यक्ति की ईमानदारी इसी में है कि वह उस व्यवस्था द्वारा लादी गयी सारी नैतिक विकृति को भी अस्वीकार करे और उसके द्वारा आरोपित सभी झूठी मर्यादाओं को भी, क्योंकि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं। लेकिन हम यह विद्रोह नहीं कर पाते, अत नतीजा यह होता है कि जमुना की तरह हर परिस्थिति में समझौता करते जाते हैं। परन्तु समाज में सभी 'जमुना' तो नहीं हो सकते ? अत जो "इस नैतिक विकृति से अपने को अलग रख कर भी इस तमाम व्यवस्था के विरुद्ध नहीं लड़ते, उनकी मर्यादाशीलता सिर्फ परिष्कृत कायरता होती है।"

'तन्ना' पढ़े-लिखे मध्यवर्ग का सच्चा प्रतीक है। उसने थोड़ी बहुत अंग्रेजी की शिक्षा तो अवश्य प्राप्त कर ली है, परन्तु उससे उसके संस्कारों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सका है। वह एक अत्यन्त दीन एवं दुर्बल व्यक्तित्व का व्यक्ति है। वह कभी भी सामाजिक कुरीतियो को तोड़ने की कौन कहे, उनके बुरे होने पर खेद भी प्रकट करता नहीं दिखलाई पड़ता, भले ही जीवन भर वह उससे घुटता-पिसता रहता है और अन्त में रेलवे अस्पताल में अपनी दो टाँगे खोकर, सदा के लिए दृश्य से दूर हो जाता है। आर्थिक विषमताओं, अनमेल विवाह तथा परिवार की थोथी मर्यादाओं ने 'तन्ना' का विनाश कर डाला। हमारे मध्यवर्गीय समाज की अवस्था इतनी शोचनीय है कि माणिकमुल्ला ऐसे न जाने कितने परिवार हैं, जिनके अन्दर यह भी क्षमता नहीं है कि वे एक साधारण-सी गाय रख सकें।

मानव-जीवन के अन्दर अर्थ इतना प्रधान हो गया है कि मानवता उससे दूर हो गई है। स्त्री का व्यापार करने वाले अथवा उसके शरीर साध्य धन पर

जीवन निर्वाह करने वाले मनुष्यों की आत्मा इसलिए मर गई है कि मनुष्य के जीवन में 'अर्थ' प्रधान हो उठा है। 'सत्ती' ऐसी कितनी 'युवतियों' का क्रय विक्रय समाज में आये दिन होता रहता है। आज का मध्यवर्ग जिस जिन्दगी में जी रहा है उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विश्रृंखलता, और इसीलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अँधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है।

प्रभाकर माचवे

प्रभाकर माचवे का 'परन्तु' नामक उपन्यास नवीन कलात्मक प्रतिभा का सर्वोत्तम उदाहरण है। प्रत्येक परिच्छेदों मे एक व्यक्ति की कथा का निर्वाह करते हुए लेखक ने सम्यक् रूप से उपन्याल की सृष्टि की है। इस उपन्यास के अन्दर मध्यवर्ग के सबसे बड़े शत्रु पूँजीपति तथा निम्न मध्यवर्ग की विवशता-जन्य परिस्थितियों का लेखा-जोखा लिया गया है। हेमवती नामक ग्रामीण विधवा कन्या अपने मामा के यहाँ कलकत्ता जाती है, जहाँ पर वह सरजू पांडे, जो कि अपने मालिक के कामयज्ञ के लिए नारी हव्य जुटाया करता था, के षड्यन्त्र से सेठ लक्ष्मी चन्द के यहाँ नौकरी करती है, जो केवल श्रम के ही पैसे नहीं देता बल्कि पैसे से सतीत्व भी खरीदता है। आर्थिक विवशता तथा नौकरी के छूट जाने की आशंका से 'हेमवती' उफ तक नहीं करती और वह वृद्ध साहूकार अपने पोपले गालों वाले अधरों से उसके यौवन का सारा रस चूस लेता है। सरजू पांडे इसलिए कुकृत्य में हाथ नहीं बटाता कि वह उसे अच्छा समझता है, बल्कि इसलिए करता है कि कहीं उसे अपनी नौकरी से ही हाथ न धोना पड़े।

लेखक ने सभ्य कहलाने वाले सम्पादक वर्ग पर भी व्यंग किया है और यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि सिद्धान्त वादी खद्दरधारी सम्पादक महोदय भी चाँदी के जूते खाकर अपना सिद्धान्त भूल गये। नाच पार्टी का विरोध करते रहने पर भी गुप्त रूप से अपनी कोठी में नाच रंग करके भी सेठ लक्ष्मीचन्द का सम्पादकों को कुछ रुपये देकर उसे छिपा लेना उनके दाएँ-बाएँ हाथ का खेल है। सचमुच मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक विषमताओं ने उसे रीढ़हीन बना दिया है।

आजकल मध्यवर्गीय समस्याओं को लेकर लिखे जाने वाले लघु उपन्यासों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति अधिक जान पड़ती है। गिरधर गोपाल के 'चाँदनी के खंडहर' जैसे उपन्यास को देखकर, ऐसे उपन्यासों का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल दिखलाई पड़ता है।

तृतीय खंड

यथार्थवाद के विविध रूप

ग्यारहवाँ अध्याय

ऐतिहासिक यथार्थवाद

साहित्य में 'यथार्थवाद' और 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' में कोई मौलिक भेद नहीं है। देश-काल के अन्तर आ जाने के कारण यथार्थवाद ही ऐतिहासिक यथार्थ कहलाने लगता है। कल के लिए जो यथार्थ था वह आज के लिए यदि परिस्थिति में भेद पड़ जाय तो ऐतिहासिक यथार्थ है, और आज जो यथार्थ है, कल के लिए ऐतिहासिक यथार्थ हो सकता है। ऐतिहासिक यथार्थ-वाद के अन्दर बीते हुए काल की सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उपस्थित किया जाता है। परन्तु इतिहास और ऐतिहासिक यथार्थवाद एक दूसरे के लिए प्रयुक्त किए गए शब्द नहीं हैं, बल्कि दोनों में अंतर है। इतिहास तिथियों, घटनाओं तथा परिणामों का ठीक-ठीक वर्णन उप-स्थित करता है, परन्तु ऐतिहासिक यथार्थ के अन्दर तिथियों तथा घटनाओं आदि की सत्यता पर इतना अधिक जोर नहीं दिया जाता, जितना कि उस समय की सामाजिक एवं राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों को उभार कर रखने के प्रति आग्रह दिखलाया जाता है। इसका एक मात्र कारण यह है कि ऐतिहासिक यथार्थवाद की रचना साभिप्राय होती है। इसके द्वारा साहित्यकार को ऐसे चरित्रों का निर्माण करना रहता है, जो कि वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान कर सकें, तथा उस समय की परिस्थितियों को इस प्रकार उभार कर सजीव रूप में रखना रहता है कि जिसके परिणामों के आधार पर हम वर्तमान समाज को उसके दोषों तथा दुर्बलताओं से बचा सकें।

सभी ऐतिहासिक यथार्थ के अनुसार, ऐतिहासिक उपन्यासों को सचाई के साथ राष्ट्रीय जीवन के महान आन्दोलनों का सजीव चित्र उपस्थित करना चाहिए। इस प्रकार साहित्यकार को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह इतिहास के माध्यम से वर्तमान समस्याओं का हल प्रस्तुत कर सके। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम प्राचीनता का अन्धानुकरण करने लगें। यदि इस प्रकार का साहित्य ऐतिहासिक यथार्थवाद द्वारा निर्मित होने लगे कि हमें समाज के केवल एक पक्ष का ही ज्ञान है और उसमें आदर्श की प्रतिष्ठापना करने के लिए कल्पना का योग अधिक हो, तो वह कभी भी यथार्थवादी साहित्य नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक यथार्थवादी साहित्य तो वही होगा,

जो तत्कालीन समाज एवं राष्ट्र का सजीव चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ अपनी कला तथा कल्पनात्मक गुणों के द्वारा समस्याओं का हल प्रस्तुत करता चले।

प्रत्येक युग की वास्तविकता को ढूँढ़ना ऐतिहासिक यथार्थ का मुख्य कर्त्तव्य है। इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ही हम जानते हैं कि साहित्य में अपने युग का जो सर्वश्रेष्ठ वास्तविक चित्रण हुआ है, वही सर्वश्रेष्ठ साहित्य बन कर आजतक जीवित रह सका है। वेद की ऋचाओं में तत्कालीन समाज का चित्र है, रामायण और महाभारत में तत्कालीन व्यापक से व्यापक और जटिल से जटिल मानव जीवन की समस्याएँ अधिक से अधिक सुलझे हुए रूप में रखी गई हैं। कालिदास विलासी ही नहीं थे, उनमें स्त्री के अधिकारों के लिए मार्मिक वेदना भी थी, ऐसी योजना उनके साहित्य में मिलती है।

कला के क्षेत्र में अविकृत और विकृत चित्रण का ऐतिहासिक यथार्थवाद में बड़ा महत्त्व है। वास्तविक चित्रण, विकृत और अयथार्थ तब कहा जाता है, जब उसमें तत्कालीन समाज के चित्रण में आधुनिक दृष्टि को ही एक मात्र पैमाना बना लिया जाता है और पुराने पात्रों के मुख से आधुनिक लेखक बोलने लगता है। उदाहरण के लिए हम पण्डित राहुल साकृत्यायन के उपन्यासों को ले सकते हैं, उनके उपन्यासों में दिशाकाल को भेद कर प्राय एकाध मार्क्स-वादी पात्र अवश्य दिखलाई पड़ेगा।

इतिहास का आधार जितना ही ठोस होता है, उतना ही कलापक्ष में निखार लाने का भी अवसर होता है। यशपाल की 'दिव्या' इस प्रकार की सफल रचना है। जहाँ तक ऐतिहासिक यथार्थ का प्रश्न है, वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास सफल कहे जा सकते हैं। ऐतिहासिक यथार्थ की एक मात्र कसौटी है लेखक की निष्पक्ष दृष्टि का होना। यदि लेखक ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण करते समय अपने वैयक्तिक आग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाया, तो उसकी रचना में विकार का आ जाना स्वाभाविक है।

मुख्यत. दो प्रकार के सत्य हुआ करते हैं, एक तो कठोर सत्य होता है, जो आँखों देखा सत्य है और दूसरा सत्य सभावित सत्य होता है, जो आँखों देखा न भी हो तो उस पर विश्वास किया जा सकता हो। इन सभावित सत्यों को भी ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, यदि वे तर्क एवं संभावना से परे की घटनायें नहीं हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें ऐसा समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है। किन्तु उसने पद-चिन्ह कुछ जरूर छोड़े हैं, जो उनके साथ मनमानी

करने की इजाजत नहीं दे सकते[1]।" ऐतिहासिक वातावरण, घटनाओं एवं पात्रों का चित्रण तत्कालीन ऐतिहासिक संगति का ध्यान रखते हुए करना ही श्रेयस्कर है।

ऐतिहासिकता का रंग चढ़ाकर पात्रों एवं कथानकों की कल्पना करने की उपन्यासकार को वहीं तक छूट है जहाँ तक ऐतिहासिक संगति का निर्वाह होता रहे। "किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्त काल में गुलाबी और फिरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज़ पर सजे गुलदस्ते, झाड़ फानूस लाये जायँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिए जायँगे और उन पर करतल ध्वनि होगी, बात-बात में धन्यवाद, सहानुभूति ऐसे शब्द तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना. ऐसे फिकरे पाये जायँगे तो काफी हँसने वाले और नाक-भौं सिकोड़ने वाले मिलेंगे[2]।" इस दृष्टि से उपन्यासकार को ऐतिहासिक यथार्थ की ओर चलने के लिए अत्यन्त सावधानी के साथ चरण रखने होंगे। ऐतिहासिक यथार्थ की सबसे बड़ी परख है, उपन्यासों में कृतिकार की तटस्थ एवं निर्मल ऐतिहासिक दृष्टि का होना। किसी भी युग की वास्तविकता को समझ लेना ही सच्चा ऐतिहासिक यथार्थ है।

ऐतिहासिक तथ्य के आंकलन मे यदि वर्ग का इतिहास है, तो निश्चित ही वह वर्ग का साहित्य होगा। परन्तु सच्चा यथार्थवादी साहित्य वर्ग आदि के पचड़े में कभी भी नहीं पड़ता; वह निष्पक्ष भाव से समाज के हित में तत्कालीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है। इसके अन्दर केवल जैसे का तैसा ही चित्र नही उतार दिया जाता, बल्कि वर्ग भेद के कारणों को भी समझने का प्रयत्न किया जाता है, तथा वर्गों के पारस्परिक संबंधों की भी विवेचना की जाती है। वर्ग भेद का यह विकास अपने द्वन्द्वात्मक रूप में रहा है और द्वन्द्वों के भीतर भी विरोध रहे हैं, जो पारस्परिक विरोधो के कारण द्वन्द्वात्मकता में मनुष्य को निरन्तर विकास की ओर बढ़ाते रहे हैं।

मार्क्स ने इतिहास का गहन अध्ययन करके यही तथ्य निकाला था कि समाज का भी द्वन्द्वात्मक विकास होता है। दो के संघर्ष से परिणाम में गुण बदलता है और तीसरा जन्म लेता है। इसीलिये मार्क्स ने मनुष्य समाज को प्रकृति से संघर्ष करने को कहा है। जिस साहित्य के अन्दर प्रगति का बीज रहता है वही युग का महान साहित्य होता है। "कला मनुष्य की सामूहिक

१—राहुल सांकृत्यायन, उपन्यास अंक, पृ० १७०।

२—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५३७–३८।

क्रियाओं की वह अनुभूति है, जो उसके अपने सुख-दुख तथा श्रम को हल्का करने के लिए बनाई गयी थी। प्रत्येक युग मे उसकी अनुभूति का स्वरूप बदलता है और कला भी बदलती रही है[1]।"

विगत युग का सामाजिक यथार्थ ही वर्तमान युग का ऐतिहासिक यथार्थ है। इस प्रकार जो प्रचार साहित्य के द्वारा किया जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि असलियत को खोलकर सामने रख दिया जाय। साहित्य में यह कार्य बहुत सरल है। वास्तविकता के हम जितने निकट होंगे, उतनी ही सरलता से हम वर्गों की परिस्थिति पर प्रकाश डाल सकते हैं।

ऐतिहासिक कथा साहित्य के लिए हम ऐसे काल को ले सकते हैं जिसकी कुछ भी प्रामाणिक समकालीन लिखित सामग्री प्राप्त है। भारतवर्ष का कुल लिखित इतिहास लगभग तीन चार हजार वर्षों का है, जिसके भीतर ही हमें ऐतिहासिक उपन्यासो की सामग्री ढूँढनी होगी। हमारे लिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय यह आवश्यक नहीं है कि हम सारे काल की सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री का समवगाहन करें क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता, ऐतिहासिक सामग्री का सामान्य अध्ययन भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामान्य अध्ययन के आधार पर जो कल्पनाएँ उपन्यासकार करेगा उनमें उपहासास्पद बातों का भी आ जाना सम्भव है। उपन्यासकार को हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हमारी एक-एक पंक्ति पर एक बड़ा निष्ठुर मर्मज्ञ-समूह पैनी दृष्टि से देख रहा है। हमारी जरा भी गलती जो सहने के लिए तैयार नहीं है। कृतिकार को स्वतन्त्रता है कि वह जिस ऐतिहासिक चरित्र को चाहे आकर्षक रूप में रख सकता है, परन्तु उसके लिए तत्कालीन देश और काल के बारे में जितनी भी ज्ञातव्य बातें हैं, उन सबका समन्वय उसे चरित्र के विकास में दिखलाना आवश्यक ही नहीं है अनिवार्य भी है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहासकार से कम विवेक की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए यह जानना परम आवश्यक है कि कौन सी वस्तु को सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए और किसको कम। उपन्यासकार ऐतिहासिक अनौचित्य से तभी बच सकता है जबकि उसका ऐतिहासिक ज्ञान पूर्ण हो। कभी कभी उपन्यासकार घटनाओं को चित्रित करते समय ऐसी भयंकर भौगोलिक भूल कर बैठते हैं कि उनकी सारी ऐतिहासिक कल्पना पर पानी फिर जाता है। यदि कहीं उसने राजपूताने में गंगा बहा दी और काश्मीर को मरुभूमि के रूप

१—डा० रांगेय राघव (आलोचना अप्रैल १९५२)।

में चित्रित कर दिया तो उसके सारे किये कराये कृतित्व पर पानी फिर जायगा। ऐतिहासिक उपन्यासकार को अनौचित्य से बचने के लिए जिस तरह तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुत सी छूटों के मिलने पर भी ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए अन्य कृतिकारों की अपेक्षा अधिक कड़े बन्धनों का पालन करना पड़ता है। उसकी कथा की कोई भी कल्पना विगत अथवा इतिहास से उसी प्रकार अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर सकती, जिस प्रकार इतिहास अपने को कल्पना से पृथक् नहीं कर सकता।

प्रत्येक युग में कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं और उनमें परिवर्तन लाने वाली कौन-कौन सी शक्तियाँ हुआ करती हैं तथा प्रत्येक युग की सामाजिक रूप-रेखा क्या थी, आदि सभी ऐतिहासिक यथार्थवाद के ही विषय हैं। मानवता के आरम्भ में स्त्री समाज की अप्सरा थी जो स्वेच्छाचारिणी थी, उस समय स्त्री पर किसी प्रकार का यौन प्रतिबन्ध नहीं था। परन्तु आज की परिस्थिति में पहले की अपेक्षा महान् अन्तर हो गया है। इन सभी समस्याओं को सजीव रूप में ऐतिहासिक यथार्थवाद के अन्दर चित्रित किया जाता है।

साहित्य में ऐतिहासिक यथार्थ की सृष्टि सोद्देश्य की जाती है। वर्तमान से अतीत को सुन्दर समझने की भावना तथा प्रस्तुत परिस्थितियों से असंतुष्ट अथवा वर्तमान से पराजित होने के कारण अतीत की शरण में जाने की प्रवृत्ति ऐतिहासिक यथार्थ को जन्म देती है। वर्तमान की दुर्बलताओं को अतीत के वैभवों से शक्तिशाली बनाने, कुछ ऐतिहासिक पात्रों, जिनके प्रति इतिहासकार न्याय नहीं कर सके हैं, के प्रति न्याय करने, इतिहास के प्रति सहज आकर्षण होने, जाति गौरव, राष्ट्रप्रेम तथा वीर पूजा की भावना रखने तथा जीवन की किसी नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की सबल प्रेरणा उपन्यासकार को ऐतिहासिक यथार्थ की सृष्टि करने के लिए बाध्य करती है।

हिन्दी में सफल ऐतिहासिक उपन्यासों का नितान्त अभाव है। बंगला साहित्य में लिखे गये श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यास उत्कृष्ट कोटि के हैं। इनके उपन्यासों में तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का जैसा जीता जागता चित्र मिलता है, हिन्दी के उपन्यासों में कम ही आ पाया है। राष्ट्रीयता और आत्मबलिदान की भावना जितनी तीव्र होकर 'बंकिम चन्द्र' के 'आनन्द मठ' जैसे उपन्यास में व्यक्त हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

झाँसी की रानी

'वृन्दावन लाल वर्मा' के ऐतिहासिक उपन्यासों का हिन्दी में प्रमुख स्थान है। इनकी दृष्टि पौराणिक गाथाओं की अपेक्षा लोक कथाओं की ओर अधिक गई है। हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतंत्रता संग्राम के प्रभाव से हुई। फलत. इनमें अतीत वैभव का स्मरण तथा राष्ट्र के लिए बलिदान होने की भावुक प्रेरणा तथा सर्वस्व लुटाकर आत्म सम्मान की रक्षा करने का भाव प्रधान रूप से मिलता है। 'वर्माजी' का प्रमुख उपन्यास 'झाँसी की रानी' इसी प्रेरणा से लिखा गया। इस उपन्यास को प्रस्तुत करने में लेखक को कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों से प्रेरणा मिली है। विदेशी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की ऊपरी व्याख्या अपनी रुचि के अनुसार तटस्थता का भाव प्रदर्शित करते हुए की है, जिससे भारतीय शौर्य, सभ्यता और संस्कृति को अपने से हीनतर सिद्ध करते हुए विकृत रूप में सामने रखा है। 'लक्ष्मी बाई' के युद्ध करने का कारण दत्तक पुत्र का अस्वीकार कर देना तथा उसकी परिस्थिति-जन्य विवशता ही थी, राष्ट्रीय भावना नहीं, ऐसा इतिहासकारों ने लिखा है। 'वर्माजी' के हृदय में यह बात चुभ गई और इस उपन्यास के द्वारा उन्होंने इसका सशक्त प्रतिवाद किया है। इस उपन्यास के अन्दर राष्ट्रीय भावना का जागरण, देश में वर्तमान 'पीरअली' तथा 'दुल्हसिंह' जैसे विश्वासघाती देशद्रोहियों की नीचता, जनरल 'रोज' की सी मक्कार अंग्रेज जाति की दुर्नीति तथा गुलाम मुहम्मद, खुदाबख्श और बख्शी जैसे राष्ट्रीय स्वामिभक्त मुसलमानों की स्वाभाविक हिन्दू मुस्लिम एकता के भावों की आवश्यकता का यथार्थ चित्र उरेहा गया है। राष्ट्रीय आन्दोलनों की सफलता और असफलता के कारणों की ओर भी स्पष्ट संकेत किया गया है। तत्कालीन विद्रोही नेताओं के वैयक्तिक स्वार्थों के प्रमुख हो जाने, विलास, नाच-रंग तथा भंग आदि में मग्न रहने और रानी को गोपालपुर के संग्राम में प्रधान सेनापति न बनाकर लोगों ने इतिहास में अपनी पराजय पेशगी लिख दी।

जहाँ तक वातावरण अथवा देश काल का प्रश्न है, लेखक पूर्णत. सफल है। उस समय में चलने वाले साम्प्रदायिक झगड़ों का चित्रण लेखक ने जनेऊ सम्बन्धी अभियुक्तों को सामने लाकर किया है।

उस समय समाज में वर्ण व्यवस्था के नियमों का पालन कड़ाई के साथ किया जाता था। जनेऊ सभी वर्णों के लोगों को पहनने का अधिकार नहीं था, इस समस्या को लेकर निरन्तर झगड़े चलते रहते थे, जिससे यह स्पष्ट हो

जाता है कि कुछ लोग ऐसे भी थे जो इस व्यवस्था को मिटाना चाहते थे और समाज के प्राणियों में समानता के भाव का समर्थन करते थे। विद्वानों के अन्दर भी परस्पर समस्याओं को लेकर वाक्युद्ध हो जाया करता था। जनेऊ सम्बन्धी झगड़े कहीं कहीं पर उग्र रूप भी धारण करते जा रहे थे। नए उपनीतों ने लड़ाई स्वयं अपने हाथों में ले ली और एकाध जगह वह लड़ाई जीभ से खिसक कर हाथ और डंडे पर जा बैठी। झंझट का रूप जरा भयानक हो गया। मामला गंगाधर राव के पास पहुंचा। नए जनेऊ वाले लोग भी बुलाये गये। प्रमुख ब्राह्मण भी। राजा को भी इन सब मामलों में काफी दिलचस्पी थी और ये स्वयं वर्णाश्रम धर्म के सच्चे अनुयायी थे। भरसक वे प्रयत्न करते थे कि राज्य की प्रजा में सामाजिक नियमों का पालन हो। परन्तु जनता के अन्दर भी जागरण जा रहा था। जब राजा ने नए उपनीत को जनेऊ उतार फेंकने को कहा तो उसने उत्तर दिया, 'अपने हाथों तो हम लोग अपने जनेऊ नहीं तोड़ेंगे चाहे प्राण भले ही निकल जावें। परन्तु आप राजा हैं चाहे जो करें।' और कठोर दंड की आज्ञा सुन कर भी वह विचलित नहीं हुआ। राजा ने गरम तांबे का जनेऊ पहनाने की आज्ञा दी। पर 'अपराधी ने गर्व से सिर ऊँचा किया। आकाश की ओर एक क्षण हाथ बाँध कर देखा। और फिर नत मस्तक हो गया।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर पुरानी रूढ़ि को जीवित रखने के लिए जितनी कड़ाई की जा रही थी, दूसरी ओर उससे भी अधिक शक्ति लगा कर उसका विरोध किया जा रहा था।

नारायण शास्त्री की छोटी सम्बन्धी चर्चा यथातथ्य सामाजिक चित्रण में एक और रंग भर देती है। छोटी की रक्षा के लिए शास्त्री जी जो उसे उपदेश देते हैं कि वह अपने बयान में यह कह दे कि शास्त्री जी ने उसके साथ जबर-दस्ती की और उस पर जो उसने उत्तर दिया उससे उसके गिरे चरित्रों में भी एक सबल आत्मविश्वास और दृढ़ता की झलक मिल जाती है। उसने कहा 'कभी नहीं......अगर हमारी जात में कोई गुण है तो एक, हम लोग बेईमानी कभी नहीं कर सकते।' और जिन लोगों ने उसका धर्म माँगा है, उन्हें ही वह कहने के लिए तैयार भी है कि उन लोगो ने अपने जनेऊ उतार कर उसके हवाले कर दिये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नीच जाति के नागरिकों में भी अपना एक चरित्र बल था।

'वर्मा' जी ने अपने इस उपन्यास में सामाजिक रस्म-रिवाज़ का चित्रण करते समय बुंदेलखंड के समाज के सजीव चित्र को ला उपस्थित किया है। महाराष्ट्रीय अपने विशिष्ट त्योहारों को किस उत्साह से मनाते हैं, का

पूरा पूरा ज्ञान हमें उस प्रसग से हो जाता है, जिसे रानी ने किले मे हल्दी और कुंकुम से नगर नारियों के साथ सनाया था। स्त्री-पुरुषों के वस्त्राभूषणों तक को भी 'वर्मा' जी ने तत्कालीन समाज के अनुरूप ही चित्रित किया है।

प्राय ऐतिहासिक घटनाएँ जैसी की तैसी ही चित्रित कर दी गई हैं। उपन्यास की रोचकता बढ़ाने के लिए लेखक ने कुछ पात्रो तथा सरस प्रसंगों की कल्पना कर ली है। इसके अन्दर जितने प्रेमी युग्म आए हैं, प्राय वे ऐसे ही हैं। 'वर्मा' जी के उपन्यासो में प्राय एक प्रकार का ही आदर्श पाया जाता है, जो उनकी पिटी पिटाई शैली है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में वही आदर्श चरित्रो की कल्पना और वही अतीत का गौरव गान निहित है चाहे वह 'झाँसी की रानी' हो अथवा 'मृगनयनी'। कुछ विद्वान तो इसे उपन्यास कहने में भी सकोच करते हैं तथा इसे रानी लक्ष्मी बाई की जीवनी कहना अधिक युक्ति सगत मानते हैं। सम्पूर्ण उपन्यास का विभाजन जिस प्रकार किया गया है वह ही स्पष्ट कर देता है कि लेखक के मन में रानी का सागोपाग जीवन चित्रित करने की कामना है। यह चार भागों में विभक्त है। प्रथम भाग ऊषा के पूर्व एक सक्षिप्त भूमिका है, उदय खंड में रानी के शैशव से लेकर विवाह तथा दत्तक की अस्वीकृति आदि तक की घटनाएँ हैं, 'मध्याह्न' में विभिन्न छावनियो के असंतोष, रानी के सैन्य सगठन, सिपाही विद्रोह का आरम्भ, झाँसी पर रानी का पुन अधिकार तथा शासन व्यवस्था आदि के वर्णन हैं और अन्त में झाँसी का विनाश, काल्पी तथा ग्वालियर का युद्ध और रानी की मृत्यु का अंकन किया गया है। जिसे हम शैशव, यौवन तथा अन्त काल के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं।

लेखक ने रानी के संबन्ध में बिखरी समस्त ऐतिहासिक तथा परम्परित घटनाओं को लेकर अपनी कल्पना का अद्भुत रग डाल कर रानी के एक ऐसे आदर्श चरित्र का निर्माण किया है, जो हिन्दी साहित्य के लिए ही नहीं बल्कि भारतीय इतिहास के लिए भी एक नवीन देन है। आरम्भ से अन्त तक रानी के चरित्र में उपन्यासकार असाधारणता दिखलाने में सफल हुआ है। 'बचपन से ही जिसका जीवन कुश्ती, मलखम, अश्वारोहण एवं अस्त्रशास्त्र में बीता, जिसकी कल्पना में एक देशव्यापी क्रान्ति का चित्र बनता-बिगड़ता रहता था जिसने 'नैन शस्त्राणि, नैन छिंदति दहति पावक' के रहस्य को आयत्त कर लिया था, जिसने बरसाती नदियों एव वन पर्वतों की उपेक्षा करके सागरसिंह जैसे दुर्दमनीय डाकू को स्वयं पकड़ लिया, जिसने सम्मुख युद्ध मे अपनी वीरता से अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए, वही हल्दी कुंकू जैसे पर्व पर झाँसी की सामान्य

स्त्रियों के बीच पतियों का नाम पूछने और बताने में साधारण स्त्री सा ही उत्साह प्रदर्शित करती है। अधेड़ अवस्था वाले पति के प्रति भी उनकी भावना किसी अन्य नारी से भिन्न न थी।'[1] जो सभी आदर्श गुण हैं जिनके द्वारा लेखक ने रानी के महानतम दृढ़ चरित्र की रचना की है।

इस उपन्यास के जीवनी होने में जो सबसे बड़ी बाधा है वह है इसके भीतर पाये जाने वाले ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन। लेखक का मन ऐतिहासिक विवरण देने में इतना अधिक रम गया है कि उपन्यास के अन्दर नीरसता आ गयी है। जहाँ वह ऐतिहासिक पत्रों तथा कम्पनी आदि द्वारा भेजे गए आदेशों को उद्धृत करने बैठ गया है तो वहाँ वह इसे भूल ही गया है कि वह उपन्यास लिख रहा है।

इसके पढ़ लेने के पश्चात् हमारे सामने १८५७ की क्रान्ति सजीव हो उठती है और अत्युक्ति न होगी यदि हम कहें कि इसमें १८५७ का विद्रोह ही अधिक अंशों में चित्रित किया गया है। लेखक ने रानी को सन् १८५७ के देश व्यापी क्रान्ति की व्यवस्थापिका के रूप में चित्रित करना चाहा है जो ऐतिहासिक यथार्थ है। अंग्रेज इतिहासकारों ने भी इसे स्वीकार किया है कि क्रान्ति के नेताओं में झाँसी की 'लक्ष्मीबाई' सबसे श्रेष्ठ थी। उपन्यासकार ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि रानी केवल झाँसी को प्राप्त करने के लिये ही नहीं लड़ीं बल्कि उनका युद्ध स्वराज्य के लिए था। उनका यह कहना कि 'मैं नींव का पत्थर बनने जा रही हूँ' स्पष्ट संकेत है कि उन्हें विश्वास था कि भविष्य में इसी पर स्वतंत्रता का भवन निर्मित होगा। सचमुच वे महल के नींव की पत्थर हुईं, जिन पर महल तो बना, पर वे महल को न देख पाईं। इतिहास के कंकाल में मांस और रक्त का संचार करने के लिए, उपन्यास को उत्तम साधन समझ कर ही वर्मा जी ने अपनाया तो उसे अवश्य, पर ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरेक के कारण उपन्यास कला की दृष्टि से प्रयत्न थोड़ा शिथिल हो गया है।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का जो चित्रण किया गया है वह अत्यन्त यथार्थ है। जनरल रोज़ की मक्कारी तथा अंग्रेजों की दुर्नीति, भारत के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका परिणाम तो उसने अपनी शताब्दियों की पराधीनता से भोगा ही है। गुलाम गौस, गुल मुहम्मद, खुदाबख्श तथा बख्शी जैसे सहायक मुसलमान राष्ट्र भक्तों के पाने का गौरव रानी को रहा, जिससे साम्प्रदायिकता से परे स्वामिभक्ति तथा राष्ट्रीय

१—हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १९६, ९७ तृ० सं०

स्नेह का जो आदर्श रखा गया है वह आज भी दुर्लभ नहीं है। नेताजी सुभाष के महान व्यक्तित्व ने आज़ाद हिन्द फौज का निर्माण करके वैसा ही आदर्श विश्व इतिहास के सामने रखा है। बारूदो की तपन में भी प्रेमी युग्मो की स्नेह धारा का जो सचार होता रहता है और अवसर के रहते हुए भी जो वे अपनी कामनाओं की तृप्ति से वंचित ही रह जाते हैं, भले ही पाठक को खटके परन्तु 'लक्ष्मीबाई' जैसे चरित्र को निर्मित करने के लिये लेखक को इतनी छूट देनी होगी। जब झाँसी की रानी के लिए रक्त बहाने तथा सिर देने का उनमें हौसला है तो एक क्षणिक साधारण त्याग करना उनके लिए अस्वाभाविक नहीं। अधिक से अधिक हम इसे लेखक की आदर्शवादी प्रवृत्ति कह कर टाल सकते हैं। जब झलकारी ऐसी साधारण स्त्रियाँ रानी की रक्षा के निमित्त रानी का स्वांग बना कर अपना प्राण देने तक को तैयार हो सकती हैं तो उतने बड़े शूर सामंतो ने यदि अपनी शारीरिक भूख को कुछ काल की अवधि के लिए स्थगित कर दिया तो अधिक अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसे तो हम रानी के प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रभाव ही कह सकते हैं।

मृगनयनी

वर्माजी के इस ऐतिहासिक उपन्यास का प्रणयन सन् १९५० में हुआ। 'मृगनयनी' के भीतर उपन्यासकार की अपेक्षा 'वर्माजी' का इतिहासकार रूप अधिक उभड़ आया है। जहाँ तक वातावरण को यथार्थ रूप में चित्रित करने का सम्बन्ध है 'वर्माजी' को आशातीत सफलता मिली है और उनकी सजीव कल्पनाओं के कारण ऐतिहासिक तथा लोकतत्वों का सहज सामंजस्य उनकी कृतियों में मिल जाता है। देश-काल तथा लोकतत्वों को ऐतिहासिक सूत्रों के साथ सम्बद्ध करने में 'वर्माजी' को अद्‌भुत कमाल हासिल है। 'वर्माजी' के समस्त ऐतिहासिक उपन्यासो में उनकी वीर पूजा की भावना निहित है। यही कारण है कि इनके चरित्रनायक अपनी मर्यादा से कहीं भी फिसलते नहीं जान पड़ते। ऐतिहासिक तथ्यों का यदि अनावश्यक मोह उपन्यासकार को न होता तो उसके सभी ऐतिहासिक उपन्यास उत्तम जीवनी की श्रेणी में आ जाते। चाहे वह 'झाँसी की रानी' हो अथवा 'मृगनयनी'।

'मृगनयनी' एक प्रकार से रानी मृगनयनी की जीवनी है। उपन्यास के आरम्भ से ही उपन्यासकार 'मृगनयनी' के उन गुणो को दिखलाने में सचेष्ट है, जिन पर आगे चलकर उसके आदर्श चरित्र का महल खड़ा होता है। जहाँ तक उपन्यास की कथा वस्तु का प्रश्न है, रानी सम्बन्धी जीवनी का क्षेत्र अत्यन्त सकुचित है। लेखक ने उसका विस्तार ऐतिहासिक घटनाओ के समावेश

से किया है। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर, जिनका राज्यकाल सन् १४८६ से १५१६ तक था, के सम्बन्ध में बिखरी ऐतिहासिक घटनाओं को लेखक ने लाकर मृगनयनी की कथा के साथ जोड़ दिया है। उपन्यास की कथा का बाहरी आवरण पूर्णतः ऐतिहासिक सत्यों पर आधारित है, परन्तु चित्र को सजाने के लिए काल्पनिक कथा का ही रंग भरा गया है, जिससे उपन्यास की कथा का आकार बढ़ पाया है नहीं तो वस्तुतः कथा का सार, राई गाँव में रहने वाली एक दीन गूजर किसान की कन्या निन्नी (बाद में मृगनयनी) की बाल लीला, शिकार को मार गिराने की अद्भुत कला, अलौकिक सौंदर्य की चर्चा, जिससे राजा मानसिंह के साथ ब्याह और दोनों की काव्य तथा कला प्रियता ही है।

'मानसिंह तोमर' के साथ 'मृगनयनी' का ब्याह ऐतिहासिक सत्य है, जिसका प्रमाण आज भी 'मानसिंह' द्वारा निर्मित किले के भीतर का रानी गूजरी का महल दे रहा है। जैसा कि लेखक ने भूमिका में लिखा भी है कि मानसिंह तोमर का राज्यकाल १४८६ से १५१६ तक ग्वालियर में रहा जिसके लिए उसने फरिश्ता के इतिहास लेखक का भी नाम लिया है। मानसिंह एक वीर, विविध कलाओं का पारखी तथा कुशल शासक था, इसका जिक्र अन्य इतिहासकारों ने भी किया है। और यह भी सत्य है कि उसने मृगनयनी के रूप-गुण और बल की प्रशंसा सुनी और स्वयं देखी भी, जिस पर वह इतना मुग्ध भी हुआ कि अपने राजसी सन्मान का बिना ध्यान रखे हुए भी उसने उससे ब्याह करने का स्वयं ही प्रस्ताव किया। लेखक ने इतिहास का इतना ही सूत्र पकड़ा है, जिस पर उसने अपने उपन्यास का भव्य भवन निर्मित कर डाला। उपन्यास को पढ़ लेने पर ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यासकार के मन में शक्ति की दो भावनाएँ एक साथ जागरूक हैं जिनके संघर्षों के बीच उसे अपनी कृति का प्रणयन करना पड़ा है। एक तो ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति उसका आग्रह तथा दूसरी ओर 'मृगनयनी' को एक आदर्श नायक के रूप में चित्रित करने का मोह, जिससे उपन्यास अपनी स्वाभाविक गति से आगे नहीं बढ़ने पाया है, बल्कि उसे उपन्यासकार की इच्छाओं के अनुसार मुड़ना पड़ा है और यही कारण है कि उसमें ऐसे स्थल आ गये हैं जिस पर चलने में पाठक थकता और ऊबता है। इस कठिनाई के होते हुए भी जो इसमें आकर्षण रह गया है वह अद्भुत ऐतिहासिक रस के ही कारण।

वर्माजी ने निन्नी (मृगनयनी) के अतिरिक्त एक और प्रमुख नारी पात्र की कल्पना की है जो अनैतिहासिक होते हुए भी अत्यन्त स्वाभाविक बन

ड़ा है। अहीर कन्या 'लाखी' के अन्दर नारी सम्बन्धी सभी दोष गुण वर्तमान हैं। वह बाल्य-काल से ही मृगनयनी की भाँति आदर्श-प्रयोगों की पुतली के समान चित्रित नहीं की गई है। लाखी के अन्दर स्वाभाविक राग-द्वेष, भय, तृष्णा तथा वासना आदि सभी दोष-गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। जिससे वह पाठकों का विश्वास अधिक आकर्षित करती है। वह यदि 'मृगनयनी' के साथ बड़े-बड़े शिकार गिरा सकती है, तो उसके अन्दर गाँव के ऊपर यवनों के आक्रमण से उद्भूत स्वाभाविक भय भी वर्तमान है। यदि वह वह अथक परिश्रम करके बाण चलाना सीख सकती है तो अटल के सुगठित सलोने रूप पर अपना तन मन भी वार सकता है। उपन्यास की मनोरंजकता बढ़ाने के लिए ही यद्यपि लेखक ने 'लाखी' की कल्पना की है, पर यदि सच पूछा जाय तो अनजाने उसने एक ऐसे चरित्र का निर्माण कर दिया, जिसकी वास्तविक आभा के सामने उसका अभीष्ट चरित्र फीका पड़ जाता है। उपन्यास के अन्दर सदैव पाठक की दृष्टि अन्तिम परिणाम पर लगी रहती है। और वही उपन्यास कला की दृष्टि से श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जिसका अन्त एक ऐसे उत्कर्ष पर हो जो अपना स्थायी प्रभाव पाठकों के हृदय पर छोड़ जाय।

उपन्यास का प्रभाव उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है, जब हम 'लाखी' और 'अटल' को राई में सुल्तानी सेना से घिरा पाते है। रात्रि के समय दुश्मन की फौज जब प्राचीरों को लाँघ कर गढ़ में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रही थी तो 'लाखी' का उस समय गढ़ से बाहर आकर पहरेदारों को विश्राम देना और स्वयं गढ़ की रक्षा का प्रयत्न करना हमें 'झाँसी की रानी' लक्ष्मीबाई का स्मरण दिलाती है। शत्रु के संहारक तीर से जिस प्रकार लाखी का अन्त हुआ वैसी मृत्यु 'मृगनयनी' को नसीब न हो सकी और हम देखते हैं कि लेखक ने लड़कपन में जो उसकी शक्ति और शस्त्र-कला की इतनी धूम मचाई अन्त तक उसका उपयोग नहीं कर पाया। 'लाखी' के स्थान पर यदि 'मृगनयनी' होती और उसकी मृत्यु के साथ ही उपन्यास समाप्त हो जाता तो कला की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ था।

'मृगनयनी' का निर्माण लेखक किस प्रकार का करना चाहता है, आरम्भ से ही हमें उसका आभास मिलने लग जाता है। नदी के किनारे जब 'लाखी' मिट्टी एकट्ठा करके एक छोटे से घर की कल्पना करती है तो 'मृगनयनी' कल्पनाओं के महल का निर्माण करती है। स्वच्छन्द प्रकृति की गोद में विचरण करती हुई 'मृगनयनी' के मन में किसी भी पुरुष के प्रति 'लाखी' की भाँति

आकर्षण लेखक ने सम्भवत. इसीलिये नहीं दिखलाने दिया है, कि उसे आगे चल कर अपने प्रति राजा मानसिंह को उपदेश देना है और वह उपदेश देती भी है, कि आप शरीर को दृढ़ रखने के लिए संयम रखें। ऐसा लगता है कि युवती 'मृगनयनी' की अपनी स्वाभाविक कोई कामना ही नहीं है। रानी बनने पर भी वह 'लाखी' को उसी प्रकार आदर देती है जैसा बचपन में देती रही, और पैर में सोने का अलंकार इसलिए नहीं पहनती कि लाखी को पहनने का अधिकार नहीं है। वह तो तभी पहनेगी जब 'लाखी' को भी पहनने का अधिकार मिल जायगा। उस जंगली लड़की के अन्दर लेखक ने सभी आदर्श गुणों की प्रतिष्ठा कर दी है। जैसा कि स्वाभाविक नहीं है। वह बराबर चाहती है कि राजा मुझे कोई ऐसा विशेष महत्त्व न दें जिससे कि अन्य सात रानियों को कष्ट हो। वह मानसिंह से आग्रह करती है कि वे महल का नाम उसके नाम पर न रखें। इस प्रकार 'वर्माजी' ने 'मृगनयनी' के अन्दर युद्ध, कला, संगीत तथा आदर्श नारी के सभी गुणों को मूर्तिमान रूप दे दिया है।

मैंने ऊपर ही कहा है कि कथा के साथ ऐतिहासिक सूत्रों को सम्बद्ध करने की कला में 'वर्माजी' अत्यन्त प्रवीण हैं। इस उपन्यास के अन्दर बुन्देलखंड का समाज अपने स्वाभाविक रीति और रस्मों के साथ सजीव हो उठा है। होली आदि त्योहारों को कितना महत्त्व दिया जाता है और उनके मानने की क्या विधियाँ हैं आदि का सजीव चित्रण लेखक ने किया है। देश की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव दिखलाते हुए लोक तत्त्वों को जिस प्रकार लेखक ने चित्रित किया है, उससे उपन्यास की कलात्मकता में अद्भुत योग मिला है। उस समय की आर्थिक कठिनाइयों का सीधे-सीधे विवरण न देकर लेखक ने जो होली के उत्सव का प्रसंग उठाया है, वह अत्यन्त ही मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। जिस देश के निवासियों के अन्दर साधारण मूल्य के रंगों को खरीदने की क्षमता नहीं है, और वे उसके स्थान पर कीचड़ और गोबर का प्रयोग करते हैं, उस देश के आर्थिक संकट की सीमा इससे बढ़कर क्या हो सकती है।

उपन्यास के अन्दर जिस ऐतिहासिक काल को कथानक के लिए चुना गया है वह ऐसा भारतीय इतिहास का संक्रान्त काल था, कि जिसमें देश के केन्द्रीय शासन में बड़ी अराजकता थी। देश पर अधिकांश शासन यवनों का था और जो स्वदेशीय राज्य थे भी वे पारस्परिक कलह में उलझे हुए थे, जिसके बीच जनता पिसी जा रही थी। दिल्ली में सिकंदर लोदी और उसके सहयोगियों में परस्पर युद्ध चलता रहता था जिससे शासन-कार्यों में अत्यन्त

शिथिलता आ गयी थी। राजस्थान के अन्दर उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए कलह ने उग्र रूप धारण कर लिया था। राणा कुम्भा को उसके बेटे ने विष देकर मार डाला था, जिसका यह परिणाम था कि सम्पूर्ण राज्य में असतोष और अराजकता का वातावरण छाया हुआ था। गुजरात का अधिनायक 'महमूद-बघर्रा' अपनी पाशविक नृशंसता से देश के एक कोने में रक्त का नग्नताण्डव करता जा रहा था, जिससे देश के अन्य राज्यों के अन्दर भी भय का भीषण आतक छाया हुआ था। किसी को अपने जान और माल की रक्षा का किसी भी प्रकार का आश्वासन देने वाला कोई नहीं था। 'मालवा' में गयासुद्दीन और उसके उत्तराधिकारी नसुरुद्दीन का अत्याचार और विलासलीला मानवीयता का अतिक्रमण कर रही थी। दक्षिण मे बहमनी राज्य और विजय-नगर पाँच भाँगों में बिखर गया था और जौनपूर, बिहार और बंगाल में पठान सरदारों की निरतर नोच खसोट मची हुयी थी, जिसके बीच मे तोमर राजा मानसिंह का राज्य था। ग्वालियर को निरतर आक्रमण पर आक्रमण सहने पड़ते थे जिससे प्रजा की आथिक स्थिति अत्यन्त बिगड़ गई थी। पहले ग्वालियर पर बहलोल लोदी ने आक्रमण किया था उसके बाद उसके उत्तराधिकारी सिकंदर के कई आक्रमण हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो ग्वालियर पर निरतर आक्रमण हो रहे थे, दूसरी ओर राजसिंह कछवाहा जो कि नरवर का दावेदार था, उसे मानसिंह से वापिस लेने के लिए मालवा के गयासुद्दीन से मिलकर षड्यंत्र कर रहा था। ऐसी स्थिति में ग्वालियर पर सकट की स्थिति का आना स्वाभाविक है। यदि उपन्यासकार ने दीनता और दरिद्रता का इतना हृदयद्रावक चित्र खींचा है कि पीने के लिए लोगों को पानी नहीं मिल रहा था क्योंकि लाशो से कूँए पट गए थे तो असंगत नहीं। इतिहासकारो ने मानसिंह की शासन कुशलता तथा वीरता की प्रशंसा की है, यदि 'वर्माजी' ने उसकी तत्कालीन लोकप्रियता तथा शौर्य का महानतम चित्र खींचा है तो उसे अतिरजना के रूप में नहीं स्वीकार करना चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यासों में कथा की एक सूत्रता बनाए रखने के साथ तत्कालीन ऐतिहासिक रग में रँग कर यदि कुछ असगत बातें भी कह दी जायँ तो वे उतनी नहीं खटकतीं, जितना कि कथा के स्वाभाविक प्रवाह की उपेक्षा करके ऐतिहासिक तथ्यो का सकलन खटकता है। इस उपन्यास के अन्दर ऐसी न जाने कितनी त्रुटियाँ वर्तमान है। बहुत से ऐसे लम्बे-लम्बे प्रसग आए है जिनका उपन्यास की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है और न तो वे प्रसंग किसी

प्रकार से नायक के चरित्र-विकास में योग ही देते हैं। गुजरात के महमूद बघर्रा का अनावश्यक वर्णन करके उपन्यासकार ने अपने ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय देना चाहा है। उसके सुबह के नास्ते का वर्णन करके लेखक ने हास्य की जितनी सृष्टि नहीं की है, उतना उसने औपन्यासिकता का उपहास किया है। 'बघर्रा' के प्रसंग की सार्थकता हम एक अर्थ में मान सकते हैं कि उसने भी 'मृगनयनी' के रूप की चर्चा सुनी थी, जिससे 'मृगनयनी' की तत्कालीन ख्याति का समर्थन हो जाता है। परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए' 'बघर्रा' का कोई सक्रिय प्रयत्न उपन्यास के अन्दर नहीं दिखलाया जाता।

जहाँ तक लेखक ने मालवा के 'गयासुद्दीन' और उसके अन्तरंग मटरू का वर्णन किया है वहाँ तक युक्तिसंगत है क्योंकि इसी के राज्य में राजसिंह को शरण मिली थी, जहाँ से उसने ग्वालियर को बैजू और उसकी शिष्या को भेद लेने के लिए भेजा था। गयासुद्दीन ने स्वयं भी नटो आदि को भेजकर 'मृगनयनी' को प्राप्त करने की कोशिश की थी और जब उसने सुना कि 'लाखी' नरवर में है तो उसने' 'नरवर' को जीतने की जी जान से कोशिश भी की। परन्तु लेखक ने बाद को उसकी मृत्यु हो जाने पर 'नसुरुद्दीन' के परिस्तान का जो रोचक वर्णन कर डाला है, उससे ऐसा लगता है कि वह भूल गया कि वह उपन्यास लिख रहा है, इतिहास नहीं। उसने जो यह लिखा है कि नसुरद्दीन के महल में पन्द्रह हजार बेगमें थीं, उसने वासना की तृप्ति के लिए अपने बाप को ज़हर दिलवा दिया और अपना सारा समय उन्हीं परियो के बीच व्यतीत करता हुआ एक दिन अकाल मृत्यु का ग्रास बना, आदि प्रसंगों का कुछ भी सम्बन्ध उपन्यास की मूल कथा से नहीं मिलाया जा सकता।

उपन्यासकार को इसकी पूरी स्वतंत्रता है कि वह एक समय में पाई जानेवाली बिखरी सामग्रियों को इकट्ठा कर एक कथा सूत्र में पिरो कर उसकी माला बना ले तथा बीच-बीच में विविध प्रश्नों को भी उठाता चले यदि अन्त तक उनका निर्वाह कर सके तो। उसे ऐसे एक भी प्रसंग उठाने का अधिकार नहीं, जिनकी वह आगे व्यवस्था नहीं कर पाता। राई गाँव से ग्वालियर तक आने वाली नहर के चिन्ह यदि मिलते हैं तो उपन्यासकार की कलात्मकता ही है यदि वह उसका सम्बन्ध एक प्रेमी द्वारा दिये गये प्रेमिका के वादे के साथ सम्बद्ध कर देता है। यदि यह ऐतिहासिक तथ्य नहीं है कि मानसिंह ने 'राई गाँव' से ग्वालियर तक की नहर 'मृगनयनी' को दिये गये वचन के कारण ही बनवाई तो भी सम्भावित सत्य अवश्य है जिसे चित्रित करने का उपन्यासकार को पूर्ण अधिकार है। राई गाँव के मन्दिर का सम्बन्ध बोधन

पण्डित और गढ़ी का सम्बन्ध 'अटल' के साथ यदि जोड़ दिया गया है तो इसमें कोई खटकने वाली बात नहीं है। पण्डित का प्रसग उठाना इसलिए आवश्यक था कि बिना उसे उठाये देश काल का चित्रण करना उतना स्वाभाविक न होता जितना कि बन पड़ा है।

उपन्यासकार ने बड़ी ही कुशलता के साथ पन्द्रहवीं शताब्दी में पाये जाने वाले सामाजिक आचार-विचार का सजीव चित्रण उस वैष्णव पंडित के माध्यम से कर दिया है। इस एक सूत्र को पकड़कर उसने दिखला दिया है कि उस समय किस प्रकार समाज में विवाह सम्बन्धी नियम कड़े थे। 'अटल' और 'लाखी' के परस्पर स्वाभाविक प्रेम होने और ऊपर से राजा के जोर देने पर भी समाज उनका परिणय स्वीकार करने को तैयार नहीं है। 'बोधन' पंडित को सिर दे देना मंजूर है, परन्तु 'अटल' और 'लाखी' के अनैतिक विवाह में मंत्र पढ़ना कबूल नहीं। वह बात-बात में शास्त्रों की शरण लेता है तथा वह अपने धर्म का इतना पक्का है कि सुल्तान द्वारा मरवाये जाने तक उस पर टिका रहता है। शैवों और वैष्णवों का पारस्परिक द्वेष अपने भीषण रूप में विद्यमान था। मुसलमानों द्वारा मन्दिरों और मूर्तियों का संहार किया जा रहा था, जिससे हिन्दू जनता की आस्था भी धीरे-धीरे उन ईंट और पत्थरों से हटती जा रही थी जो असहाय थीं।

जब लेखक इस प्रकार के सूत्रों को पकड़ कर ऐतिहासिक देश काल का चित्रण करता है तो उससे उपन्यास की स्वाभाविकता बढ़ती है। पर जब वह अनावश्यक प्रसगों के साथ खिलवाड़ करता है तो वहीं अपनी कला-शून्यता का परिचय देता है।

'गयासुद्दीन' द्वारा भेजे गये नट और नटिनियों के सम्पर्क में लाकर 'लाखी' और 'मृगनयनी' की स्वाभाविक जिज्ञासा को जहाँ तक दिखलाया गया है, वहाँ तक तो बात जमती है, पर जब वर्माजी 'लाखी' को रस्से पर चढ़ा कर कसरत कराने लग जाते हैं तो बात समझ में नहीं आती कि इस अस्त्र का प्रयोग आगे किस स्थान पर करेंगे। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक के मस्तिष्क में यह बात पहले से थी कि उसे 'नरवर' के किले से रस्से पर चढ़ा कर निकालना होगा, जिसके लिए पहले से ही अभ्यास करा लेना आवश्यक है, परन्तु जब समय आया तो बात ध्यान से हट गयी। रस्से का प्रसंग तो आया और 'लाखी' ने उसे काटकर 'पिल्ली' की जान भी ले ली परन्तु लेखक पूर्व प्रसग की यथार्थता की रक्षा करने के लिए उसे रस्से पर चढ़ने का अवसर नहीं दे पाया। ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्दर ऐसे मार्मिक

बिन्दु है जिनकी अवहेलना करने से उपन्यास की यथार्थता को काफी क्षति उठानी पड़ती है।

जहाँ तक देश काल और कथा में लोक तत्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का प्रश्न है, लेखक को आशातीत सफलता मिली है। रानी मृगनयनी से सम्बन्धित इतिहास में बिखरे हुए काव्य और कला के ध्वंसावशेषों के आधार पर लेखक ने रानी के आदर्श चरित्र की कल्पना की है। आरम्भ से ही उसके चरित्र में असाधारणता लाने की कोशिश उपन्यासकार ने की है। जंगलों में स्वच्छंद विचरती वह गूजर-किसान-बाला प्रत्येक नारी दुर्बलताओं से मुक्त है उसके जीवन में न तो कहीं उच्छृंखल रोमांस है और न तो कहीं वासना की उष्ण गंध। ग्वालियर के किले के भीतर मानमंदिर और गूजरी रानी का महल हिन्दू वास्तु कला के मोहक प्रतीक हैं तथा ध्रुपद और धमार की गायकी और ग्वालियर का विद्यापीठ जिसके शिष्य तानसेन थे, आज भी भारत भर में प्रसिद्ध है।

'मृगनयनी' की महानता प्रकट करने के लिए ही लेखक ने उत्तराधिकार का निर्णय उसके ही द्वारा कराया है। लेखक ने जिस ऐतिहासिक परम्परा को मान्यता दी है, उससे कहीं अधिक स्वाभाविक परम्परा दूसरी है। बड़ी रानी ने विष के द्वारा जो मृगनयनी की हत्या का प्रयत्न किया था वह एकमात्र अपने लड़के विक्रमादित्य को राजा बनाने की ही नीयत से। ऐसी स्थिति में मृगनयनी के दोनों लड़कों को विष देकर मरवा डालना अधिक स्वाभाविक लगता है। परन्तु मृगनयनी का स्वयं पत्र के द्वारा विक्रमादित्य को राजा घोषित कर देना, उसकी महानता में एक बहुत बड़ा योग है। और यह भी एक प्रकार से सम्भव ही है कि उसने यह त्याग विष देने की आशंका से ही किया।

कला के प्रसंग में ग्वालियर में बैजू का रहना जिसे एक बार 'बावरा' भी कहा गया है, शंका उत्पन्न करता है कि वह कौन बैजू बावरा है। साधारणत. लोग तानसेन और बैजू बावरा दो नाम साथ लेने के अभ्यासी हैं, जिनका कार्यकाल मुगल बादशाह अकबर का शासन काल था। परन्तु बैजू बावरा के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हो पाये हैं। 'बैजू' ने नए राग-रागिनियों का निर्माण किया था, और इतिहास में यह भी मिल जाता है कि मानसिंह तोमर संगीत का बहुत बड़ा उपासक था तथा उसके राज्य काल में कई नयी रागिनियों को जन्म दिया गया था, ऐसा लगता है उपन्यासकार ने इन दो प्रसंगों को एक साथ जोड़ दिया है। परन्तु इस प्रकार की ऐतिहासिक कल्पना करने की उपन्यासकार को छूट है।

'वर्माजी' के अन्य ऐतिहासिक उपन्यास

'वर्माजी' के उपन्यासो में ऐतिहासिक असगतियो को सरलता से ढूँढ़ा जा सकता है, परन्तु उसे उन्होने सजग होकर औपन्यासिकता के साँचे में ढालना चाहा है। 'गढ़ कुंडार' में चौदहवी शती के बुदेलखन्ड की राजनीतिक उथल पुथल का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण हुआ है। इसमे हुरमत सिंह, नाग, सोहनपाल, विष्णु दत्त, पुण्यपाल, सहजेन्द्र आदि के नाम तो इतिहास में पाये जाते हैं और मूल घटना का आधार भी ऐतिहासिक सत्य है, परन्तु लेखक ने कथा का निर्माण करने के लिये जिन सामग्रियो का उपयोग किया है, उनमें कल्पना का योग भी अधिक हुआ है। इनका 'विराटा की पद्मिनी' बहुत ही सजीव एवं यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करता है और औपन्यासिकता की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। परन्तु इसमें इतिहास है ही नहीं। यदि इसे ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जाय तो 'भगवतीचरण वर्मा' कृत 'चित्रलेखा' उपन्यास भी ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है। ऐसे उपन्यासों के किस रूप में स्वीकार किया जाय एक समस्या है।

'मुसाहिबजू' भी ऐतिहासिक उपन्यास है, परन्तु भूमिका को छोड़ कर इसकी अधिकाश घटनाएँ और पात्र कल्पित हैं। 'कचनार' की सभी घटनाएँ यद्यपि सच्ची हैं, परन्तु स्थान और काल का इतना अधिक फेरफार कर दिया गया है कि सगति का बैठाना ही कठिन है। इसके अन्दर इतिहास और परम्परा का समान योग है जो वर्मा जी की अपनी विशेषता है।

वैशाली की नगर वधू

चतुरसेन शास्त्री का नवीनतम ऐतिहासिक उपन्यास 'वैशाली की नगर-वधू' दो भागो में क्रम से १९४८ और १९४९ में प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास के ७८७ पृष्ठो में नि सन्देह लेखक ने बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का एक सविस्तर विवरण उपस्थित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। यदि इस उपन्यास के द्वारा हम ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान करना चाहेंगे तो हमे निराश ही होना पड़ेगा, परन्तु इसके द्वारा हमें ऐतिहासिक रस की अद्भुत तृप्ति मिलती है। ऐतिहासिक उपन्यासों की उपयोगिता केवल इस बात में है, कि वे जीवन के कुछ स्थायी मूल्यों का जो स्थान एवं काल दोनो से निरपेक्ष होते हैं, उद्घाटन करें। ऐतिहासिक उपन्यास, काव्य और कहानियों मे जो ऐतिहासिक तथ्य होते हैं, वे शुद्ध ऐति-

हासिक नहीं। उनमें बहुत कल्पना और विकृति मिली होती है। ऐसी पुस्तकों से इतिहास नहीं बल्कि ऐतिहासिक रस की ही प्राप्ति होती है जैसा कि लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि इस उपन्यास की कथावस्तु का आधार बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित वैशाली की एक गणिका अम्बपाली है। बौद्ध ग्रन्थों में एक स्थान पर यह संकेत मिलता है कि महात्मा बुद्ध ने वैशाली की एक अम्बपाली नामक वेश्या के यहाँ अपने शिष्यों के साथ एक दिन भोजन करना स्वीकार किया था। इतिहासो में कहीं-कहीं यह भी उद्धृत मिल जाता है, कि उस समय वैशाली ऐसे कुछ गणराज्यों में यह भी नियम प्रचलित था कि गण की सर्व-श्रेष्ठ सुन्दरी कन्या को उसकी इच्छा के प्रतिकूल भी 'नगर वधू' का सा जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। वह किसी एक व्यक्ति की परिणीता होकर नहीं रह सकती थी, उसके ऊपर सम्पूर्ण गण के नागरिकों का समान अधिकार था। लेखक ने इन्हीं दो मूल ऐतिहासिक तथ्यों को लेकर, अम्बपाली को केन्द्र बना कर चलने वाली कथा की कल्पना की है। उपन्यास की कहानी बिल्कुल काल्पनिक है, किन्तु उसमें आये हुए अधिकांश प्रमुख पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, परन्तु देश-काल में अन्तर डालने वाली सीमाओं का विलय करके लेखक ने बहुत से ऐतिहासिक पात्रों को एक साथ ला जुटाया है, जब कि वे समकालीन नहीं भी हैं।

उस समय मगध की राजधानी राजगृह थी और सम्राट थे बिम्बसार। किन्तु महाअमात्य वर्षकार ने अपनी चातुरी और कूटनीति से शासन की सारी शक्ति अपने हाथों मे ले रखी थी। वह प्रसिद्ध वैज्ञानिक आचार्य शाम्बक काश्यप की मारक औषधियाँ एवं विषकन्या कुण्डनी की सहायता से बिना युद्ध किये ही मगध साम्राज्य की सीमा का विस्तार करता जा रहा था। उसी समय 'सोम' नामक युवक तक्षशिला से शस्त्रों एवं शास्त्रों में पारंगत होकर मगध में आ गया था। सोम आर्या मातंगी का पुत्र था। आर्या मातंगी बिम्बसार के पिता के पूज्य गुरुगोविन्द स्वामी की कन्या थी। जिसे आठ वर्ष का छोड़ कर गोविन्द स्वामी मर गये थे। वर्षकार भी गोविन्द स्वामी का ही अवैध पुत्र था किन्तु वह रहस्य किसी को ज्ञात न था। युवती मातंगी के साथ बिम्बसार एवं वर्षकार दोनो का ही अवैध सम्बन्ध था। सोम हर्षकार का पुत्र था या बिम्बसार का इसे केवल मातंगी ही जानती थी। किन्तु वैशाली की अम्बपाली वर्षकार के ही वीर्य से उत्पन्न मातंगी की पुत्री थी, जिसे वैशाली में एक आम के बागीचे में फेंक दिया गया था। इसे वर्षकार भी जानता था। सोम और विषकन्या कुंडनी के ही कौशल से चम्पा पर विजय मिली और चम्पा की राजकुमारी की रक्षा भी हुई।

कोशल सम्राट् प्रसेनजित अत्यन्त विलासी एवं वृद्ध थे। उनके दासी-जाया पुत्र विदूडभ का ननिहाल के शाक्यों ने अपमान किया, जिसकी घोर, प्रतिक्रिया उसके मन में हुई और उसने राजा को षड्यन्त्र करके निष्कासित कर दिया, जो सपत्नीक पैदल चलकर सम्राट बिम्बसार के मुख्य द्वार पर पहुँच कर दम तोड़ बैठे और इधर विदूडभ ने शासन सूत्र अपने हाथों में ले लिया। सयोगवश चम्पा राजकुमारी की दासी बनकर श्रावस्ती के महल में पहुँच गयी। कुडनी और सोम ने उसका उद्धार तो किया, परन्तु अर्हत महावीर के आदेश से हृदय पर वज्र रखकर राजनन्दी को कोशल की राजमहिषी बनने के लिए छोड़ कर सोम कुडनी के साथ वहाँ से चल पड़ा जब कि उसने अपना हृदय राजनन्दिनी को दे दिया था और वह भी उसे प्राणो से अधिक चाहती थी। पूर्वार्ब की मूल कथा इतनी ही है, आरम्भ में केवल अम्बपाली को वैशाली की नगर वधू घोषित किया जाना और उसके मन में उसकी प्रतिक्रिया का होना सक्षिप्त रूप में वर्णित है। शेष कथा से उसका सम्बन्ध हो ही नहीं पाता। परन्तु उत्तरार्द्ध में आकर सम्पूर्ण कथा का प्रवाह अम्बपाली के साथ बहने लग जाता है। जिससे इसमें अधिक औपन्यासिकता आ सकी है।

वैशाली गणराज्य के अन्दर मधुपर्वोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था, जिस दिन लोग जगलों में आखेट करने जाया करते थे और मधुपर्व की रानी होती थीं वैशाली की नगर वधू। इसी प्रसंग से उपन्यास का दूसरा खंड आरम्भ होता है। 'अम्बपाली' युवराज स्वर्ण सिंह के साथ जंगल में आती है, जहाँ शेर की दहाड़ सुन कर स्वर्ण सेन का अश्व भाग खड़ा होता है और भागते हुए स्वर्णसेन देखता है कि सिंह अम्बपाली के अश्व पर टूट रहा है। स्वर्णसेन को निश्चित हो गया कि अम्बपाली शेर का शिकार बन गई, जब कि वह एक अज्ञात द्वारा रक्षित होकर, उसी जगल की एक कुटिया में ले जाई जाती है। वह युवक सम्भवत सोमप्रभ था जो अपनी कुटिल नीति का प्रसार करने अपने सहयोगी सैनिकों के साथ वैशाली में आया था। अम्बपाली उस युवक के प्रति आकर्षित हो जाती है। उसके जीवन में यह दूसरी घटना है जब कि महाराजा उदय के बाद किसी युवक को देखकर उसका मन ढीला हुआ। मगध अमात्य वर्षकार भी सम्राट बिम्बसार द्वारा निष्कासित होकर वैशाली ही में आ जमता है। भगवान बादरायण के आश्रम में बिम्बसार ने अम्बपाली को देखा था और वहीं उसके सामने वह प्रतिश्रुत हो चुका था कि वैशाली गणराज्य को नष्ट करके वह अम्बपाली को मगध की राजमहिषी बनायेगा। सम्राट् वैशाली पर तत्क्षण आक्रमण करना चाहते थे और वर्षकार

की योजना वैशाली पर प्रथम आक्रमण करने की नहीं थी, जिस मतभेद के कारण ही उसे राज्य की सीमाओं का त्याग करना पड़ा। सम्राट ने वैशाली पर आक्रमण किया, महान् सेनापति हुए सोमप्रभ। बिम्बसार के गुप्त रूप से अम्बपाली के महल में चले जाने से मागधो को विश्वास हो गया कि सम्राट मारे गये। सोमप्रभ ने प्रबल वेग से वैशाली का विनाश करना आरम्भ किया और विजय निकट ही थी कि सम्राट द्वारा प्रेषित दूत से यह जान कर कि सम्राट अम्बपाली के विलास गृह में स्वेच्छा से चले गये थे, उसने युद्ध रोक दिया। महासेनापति ने आत्म-समर्पण किया, परन्तु सम्राट को सोम का देशद्रोह असह्य था, दोनो का द्वन्द्व युद्ध होता है और अम्बपाली आकर सोम से सम्राट् के प्राणों की भीख माँगती है। सम्राट को वन्दी कर, सोम अम्बपाली को वैशाली के पास सुरक्षित भेज देता है। जब आर्या मातंगी से उसे ज्ञात होता है कि सम्राट उसके पिता हैं, तो वह विक्षिप्त-सा कारागार में जा कर सम्राट् से क्षमा माँगता है। वैशाली की कारागार से वर्षकार को संधि हो जाने पर मुक्ति मिलती है, वह पुनः मगध का महामात्य होता है और अपने दिये गए वचन के अनुसार सम्राट ने अम्बपाली के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को, जिसको अम्बपाली ने जन्म लेने के साथ-साथ गुप्त रूप से सम्राट के पास भिजवा दिया, भावी मगध सम्राट घोषित किया। उसी समय भगवान बुद्ध का वैशाली में पदार्पण हुआ, उन्होने नगर वधू का भोज स्वीकार किया और अम्बपाली अपना सर्वस्व वैभव त्याग कर भिक्षुणी बन गयी तथा वैशाली से चलते समय उसने देखा कि पीछे-पीछे सोमप्रभ भी भिक्षुक के रूप में चला आ रहा है।

इस उपन्यास के अन्दर मूल कथा का स्थान अत्यन्त गौण है। उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों के चित्रों को अति स्पष्ट रूप में उभाड़ कर रखने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के द्वारा इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है कि उस काल में नगर कम और गाँव अधिक थे और वे ग्राम अधिकांश सम्पन्न भी थे। देश के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ वर्तमान थीं। देश के कुछ भागों में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली थी जिसमें कोशल के प्रसेनजित और मगध के सम्राट बिम्बसार के अत्यन्त सुदृढ़ राज्य थे। इन राज्यों की मूल प्रेरक शक्ति वैदिक संस्कृति थी, जिसके अनुसार आर्य लोग शासन करना अपना जन्म जात, अधिकार समझते थे। इस काल में क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों से कुछ ऊपर था, परन्तु ब्राह्मण अपने को जन्म से ही महान मानते थे जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच परस्पर स्पर्द्धा के भाव स्पष्ट लक्षित होते हैं।

सम्पूर्ण देश के अन्दर ब्राह्मणों का भीतरी षड्यंत्र चलता दिखलाई पड़ता है। प्राय: वे उसी साम्राज्य की शक्ति के समर्थक थे जिसमें उनकी इच्छा का प्राधान्य हो। राजाओं के मंत्री प्राय ब्राह्मण थे जो अधिक से अधिक शासन सूत्र को अपने हाथों में बनाये रखने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार पौरोहित्य तथा मंत्रित्व दोनों के द्वारा देश की सारी की सारी सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर ब्राह्मण धर्म का एकमात्र प्रभाव स्थापित करने की योजनाएँ नित्य बनती थीं, जिससे देश का वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था।

इन राज्यों के अतिरिक्त बहुत से गणराज्य स्थापित थे, जिनमें वैशाली का गणराज्य अत्यन्त शक्तिशाली था जिसके अन्दर और भी अनेक गण थे। इन गणों और राज्यों में प्राय. संघर्ष होता रहता था, जिसका मूल कारण यह था कि ब्राह्मण लोग राजाओं को अश्वमेध यज्ञ करने के लिए उकसाकर राज्य की सीमाओं का इसलिए विस्तार चाहते थे, कि उनके धर्म का प्रचार हो, क्योंकि जितने भी गणराज्य थे वे प्राय आर्यों के नहीं थे। आर्यों के अतिरिक्त देश के अन्दर अनार्य तो थे ही, आर्यों की विलासी प्रवृत्तियों के कारण जो संकर-वर्ण की एक शक्तिशाली जाति बनती जा रही थी वह आर्यों से अत्यधिक खार खाये बैठी थी, क्योंकि आर्यों की सामाजिक व्यवस्था ने संकरवर्ण पुत्र पैदा करने की तो स्वीकृति दे दी थी, परन्तु उसने उत्तराधिकार की कोई भी व्यवस्था का निर्माण नहीं किया था।

गणराज्यों की व्यवस्था उन दिनों किस प्रकार होती थी, उपन्यासकार ने उसका सजीव चित्र उपस्थित किया है। गणपति की ठीक स्थिति आज के लोक सभा के अध्यक्ष की सी है जिसे 'स्पीकर' कहते हैं। किसी भी महत्व पूर्ण विषय पर मतदान लेने की जो प्रणाली उस समय विभिन्न रंग की शलाकाओं के माध्यम से थी, आज की प्रजातंत्रीय विधान सभाओं में भी किसी न किसी प्रकार वैसी ही है। कहीं कहीं शलाकाओं का प्रयोग किया जाता, कहीं-कहीं विभिन्न घरों में चले जाने की प्रथा थी और स्वर के द्वारा 'हाँ' अथवा 'नहीं' करके भी कहीं-कहीं मत प्रकट किये जाते थे। परन्तु उपन्यासकार ने इसका कहीं भी संकेत नहीं किया है कि उन गणो के सदस्यों का साधारणत चुनाव किस प्रकार से किया जाता था। उन गण राज्यों की कार्य पद्धति का तो लेखक ने बड़ा ही स्पष्ट वर्णन किया है। 'भिन्न-भिन्न राज-काज के लिए, छोटे-छोटे कामों के लिए पदाधिकारी नियुक्त थे। जैसे अपराधी का न्याय करने के लिए अनुक्रम से राजा, गण, विनिश्चय, महामात्र, व्यावहारिक सूत्रधार, अष्ट-कुल, सेनापति, उप राजा और राजा इतने अधिकारी मडली के पास अपराधी

को ले जाया जाता था। महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिए आठ या नौ व्यक्तियों की व्यवस्था समिति भी चुनी जाती थी। लिच्छवियों के संयुक्त राज्य में जिन आठ कुलों के गण थे उनमें प्रत्येक कुल से एक प्रतिनिधि लेकर आठ जनों की यह व्यवस्था परिषद् नियुक्त की जाती थी जो सम्पूर्ण शासन व्यवस्था करती थी।' इससे ऐसा लगता है कि व्यवस्था परिषद् में प्रत्येक कुलों का समान प्रतिनिधित्व था, प्रतिनिधियों की संख्या कुलो की जन संख्या के आधार पर नहीं निश्चित की जाती थी, बल्कि उसका निश्चय कुलों की संख्या पर किया जाता था। जो व्यक्ति जन्म से गण राज्यों का नागरिक होता था, उसे ही राजकीय कार्यों में भाग लेने का विधान था, क्योंकि जब मागध वर्षकार ने वैशाली की गण परिषद् के सम्मुख अपनी सेवाएँ अर्पित कीं तो उसे उसने अस्वीकार कर दिया। परन्तु गण परिषद् का सहस्र स्वर्ण मुद्रा प्रतिदिन आतिथ्य के लिये दान करना, बतलाता है कि अन्य राज्य से आये हुए अतिथियों को सम्पूर्ण सम्मान प्रदान करने की परम्परा थी।

लेखक ने जहाँ पर गणराज्यों के चित्रण में अधिक सहानुभूति दिखलायी है, वहीं पर उसने ईमानदारी के साथ राजतंत्रीय प्रजा के सुखमय जीवन के प्रति ईर्ष्याभाव भी प्रकट किया है। उस समय तक गणो में जितनी व्यवस्था स्थापित की जा सकती थी वह अत्यन्त अपर्याप्त थी। नियमों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, जनशक्ति के आधार पर बहुत से अनुचित नियमों का पालन लोगों से कराया जाता था। जैसे वैशाली का उस समय अत्यन्त ही एक धिक्कृत नियम यह था कि उस समय की जो सबसे अधिक सुन्दरी कन्या होती थी उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी वेश्या जीवन ग्रहण करना पड़ता था, वह 'नगरवधू' कहलाती थी, वह किसी एक व्यक्ति की परिणीता होकर नहीं रह सकती, बल्कि उसके ऊपर सम्पूर्ण गण के नागरिकों का समान अधिकार था। प्राचीन काल के इतिहास मे इस प्रकार और भी 'राजनर्तकी' तथा 'देवदासी' आदि स्त्रियों का वर्णन आया है, परन्तु इनकी स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। 'नगरवधू' का स्थान उस समय के समाज में आज की सी वेश्याओं का सा नहीं था, बल्कि वह सम्पूर्ण गण भर में सर्वश्रेष्ठ, सर्व सम्मानित एवं सबसे अधिक ऐश्वर्यशालिनी महिला के रूप में स्वीकार की जाती थी। उसके प्रत्येक संस्कार राज्य की ओर से मनाये जाते थे। परन्तु जीवन में धन, वैभव, विलास एवं सम्मान ही सब कुछ नहीं, हृदय भी कोई वस्तु है, जिसके सामने सभी नगण्य हैं। नारी जीवन में एक बार और एक व्यक्ति को प्यार करती है, इसके अतिरिक्त उसका प्यार प्यार नहीं होता। बल्कि वह उत्पन्न परि-

स्थितियों से समझौता मात्र करती है। इसी नियम के कारण अम्बपाली को 'हर्षदेव' को छोड़ कर जिसकी कि वह वाग्दत्ता पत्नी हो चुकी थी, सबके विलास की वस्तु 'नगरवधू' बनना पड़ा।

गण अत्यन्त दुर्बल थे। राज्यों का सारा का सारा धन थोड़े से सेठो और साहूकारों के हाथों में इकट्ठा हो गया था, जिनकी सहानुभूति गणो के साथ बिल्कुल नहीं थी। राजतंत्र वाले राज्यों में भी सेठ धनी थे और इतने विलासी थे कि पैदल न चलने के कारण तलवों में रोयें तक जम आये थे, और जो बिम्बसार ऐसे सम्राट से मिलने के लिए केवल सातवीं मंजिल से चौथी तक ही उतर सकते थे परन्तु अन्तर इतना अवश्य था कि उनका सम्पूर्ण धन भंडार राजा की सहायता के लिए खुला रहता था और गणों के धनकुबेर गणों की सहायता के लिये एक स्वर्ण कण भी देने के लिए तत्पर नहीं थे। उनकी प्रजा कहीं-कहीं दानों दानों के लिए तड़प रही थी, क्योंकि दस्यु बलभद्र के साथियों ने जब अम्बपाली के महल को लूटना आरम्भ किया तो उन लोगों ने स्वर्ण नहीं केवल खाने के लिए अन्न ही लिया, जो साथी वैशाली के ही थे और दस्यु मंडली में भर्ती हो गए थे। इन्हीं अव्यवस्थाओं के कारण गण राज्य पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं हो पा रहे थे।

परन्तु इतना अवश्य है कि गणों की प्रजा के अन्दर राज्यतन्त्रात्मक राज्यों की प्रजा की अपेक्षा जीवन अधिक दिखलाई पड़ता है। राज्यों की प्रजा के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार के वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। एक तो ऐसे लक्ष्मी पतियों का वर्ग था जिसे अपने भोग विलास से फुरसत ही नहीं थी कि वह सम-सामयिक परिस्थितियों पर सोच सके और दूसरा वर्ग ऐसे साधारण लोगों का था जिसमें सोचने विचारने की क्षमता ही नहीं थी। वह चुपचाप राजाज्ञा का पालन करता हुआ किसी प्रकार अपना जीवन काट रहा था। परन्तु उनके सामने कम से कम भूखों मरने की समस्या नहीं थी। यही कारण है कि जितने ही ऊहापोह हमें ऐसे क्षेत्रों में दिखलाई पड़ते हैं, वे केवल राजधानी में ही अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले राजन्य वर्ग तथा राजकर्मचारियों में ही। सभी गणों तथा राज्यों की सरकारें अपनी वैदेशिक व्यवस्थाओं में विशेष सतर्क एवं पटु थीं। प्रत्येक सरकारों के जासूसी विभाग अत्यन्त कुशल थे और ये विभाग ही उन सरकारों की सफलता एवं रक्षा के विश्वस्त शक्तिस्रोत थे। जासूसी कार्यों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक सफल समझी जाती थीं। मगध राज्य की प्रमुख जासूस एवं विजयदात्री 'कुण्डनी' थी। अमात्य वर्षकार प्रभंजन नाई आदि जासूसों के साथ ही वैशाली में आने के कारण अपने षड्यन्त्र का जाल भली-भाँति बिछा सका। वैशाली गण राज्य

के एक प्रमुख अधिकारी जयराज का मगध में जाकर जासूसी कार्य करना तथा वहाँ की सारी पोल का पता लगा लेना ही, उस विभाग की कार्य क्षमता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब हम मोहन मंत्रणा के समय वैशाली गण-राज्य के मंत्रियों के भाषण सुनते हैं, जिनमें उन लोगों ने वैशाली में आये छद्मवेशी मागधों का विवरण प्रस्तुत किया था, तो निस्सन्देह उनकी कार्यक्षमता पर हमें संतोष होता है। लेखक ने इस उपन्यास में इस प्रकार की राज्य व्यवस्थाओं का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित किया है।

उपन्यास की कथा का सम्बन्ध अनेक राज्यों एवं राजन्य वर्गों से होने के कारण इसके अंदर तत्कालीन सभी सामाजिक एवं धार्मिक रूप-रेखाएँ सिमट कर आ गई हैं। उस समय तक आर्यों के अन्दर वर्ण व्यवस्था को अत्यधिक महत्व मिल चुका था। चार वर्गों में ब्राह्मण और क्षत्रिय तो प्रमुख हो उठे थे और इतर दो वर्गों की दशा दयनीय थी। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने इतर जाति की स्त्रियों को अपने उपभोग के लिए तो अपना लिया था, परन्तु उनसे उत्पन्न संतानों को अपने कुल तथा गोत्र से च्युत कर दिया था। जिनकी एक अत्यन्त प्रबल नवीन संकर जाति बनती जा रही थी, जिसने शीघ्र ही आर्य राज्य वंशों को हतप्रभ कर दिया। मगध का राज्य कुल स्वयं संकर था। 'प्रसेनजित' के रनिवास में अधिकतर निम्न कुल की ही स्त्रियाँ थीं। उनके दासी पुत्र विदूडभ ने ही उन्हें सिंहासनच्युत कर दिया। शूद्रों को उच्च वर्ण की स्त्री लेने का अधिकार नहीं था और उनकी सुकन्याएँ उच्च वर्ण के उपभोग के लिए चली जाती थीं, इसलिए उन्हें अपने लिए राक्षसों, द्रविणों तथा दस्युओं आदि से स्त्रियाँ जुटानी पड़ती थीं। आर्यों के अन्दर अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों ने घर कर लिया था, जिसके कारण सम्पूर्ण भारतखण्ड में प्रसेन-जित ऐसे ही कुछ सड़े-गले घमंडी और अकर्मण्य राजा रह गये थे। सम्पूर्ण राज्य सत्ताएँ संकरों के हाथ में चली जा रही थीं।

ब्राह्मणों ने यज्ञों को प्रधानता दे रखी थी जिसकी आड़ में नाना प्रकार के अनाचारों की वृद्धि हो रही थी। बछड़े, बैल, भेड़ आदि पशुओं से गवालम्भन अनुष्ठान किया जाता था। कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग दिखलाई पड़ता है। प्रायः सभी मांस खाते थे, जिसमें भैंसे अधिक प्रयोग में लाये जाते थे। दासों की प्रथा ज़ोरों पर थी। यज्ञ के समय राजा द्वारा पुरोहित को तथा राजा के ब्याह के समय अन्य रानियों द्वारा राजा को अनेक सुन्दरी दासियाँ भेंट की जाती थीं। दासियों का क्रय-विक्रय ठीक-ठीक आज के पशुओं के समान होता था। शास्त्री जी ने एक स्थान पर दासों के हाट का बड़ा जीवन्त चित्र

खींचा है। दासों के हाट मे एक बूढे ब्राह्मण ने आकर कहा—'एक दासी मुझे चाहिये।' 'देखिये इतनी दासियाँ हैं। यवनी चाहिये या दास?' 'दासा' 'तब यह देखिये।' उसने एक तरुणी की ओर सकेत किया। वह चुपचाप अधोमुखी बैठी रही। ब्राह्मण ने साथ के दास से कहा—'देख काक, दाँत देख, सब ठीक-ठाक है?' ब्राह्मण के क्रीत दास ने मुँह मे अंगुली डाल कर दाँत देखे और निश्शंक वक्षस्थल में हाथ डालकर वक्ष टटोल कर और शरीर को जगह-जगह टटोल कर, दबा कर देखा और फिर हँसकर कहा—'काम लायक है मालिक, खूब मजबूत है।'

यह मानव स्वभाव है कि वह भूत को सदैव वर्तमान से अच्छा समझता है। मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है नारी और इस दृष्टि से वह युग आज कुछ भी श्रेष्ठ नहीं ठहरता। पत्नी रहते दूसरा व्याह करना, परस्त्री गमन करना तथा अनेक पत्नियों का पति बनना किसी प्रकार का असामाजिक कार्य नहीं था। महान शास्त्रज्ञ एवं सम्राट बिम्बसार के पिता के गुरु तथा शिशुनाग वंश को आर्य धर्म में प्रतिष्ठित करने वाले गोविन्दी स्वामी जैसे महापुरुष ने भी अन्य व्यक्ति की स्त्री से संभोग करके वर्षकार को जन्म दिया था। इस प्रकार मातंगी और वर्षकार एक ही पिता से जन्मे भाई और बहन थे। अज्ञात में वर्षकार ने मातंगी का उपभोग किया जिससे अम्बपाली का जन्म हुआ और वह मातंगी सम्राट बिम्बसार से भी नहीं बच पायी। अम्बपाली की माँ का उपभोग करने वाले बिम्बसार आगे चलकर अम्बपाली का भी उपभोग करते हैं। आर्यों के एक मात्र सम्राट प्रसेनजित के महल में भेड़-बकरियों की भाँति सभी जाति की कुमारियों और युवतियों का मेला ही लगा रहता है। यह ऐसा युग था जब कि विलासिता अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी, मदिरा का पनाला बह रहा था तथा पशु बलि के रक्त से धरती लाल हो रही थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि अनुकूल वायु पाकर इसी समय बौद्ध और जैन धर्म फल-फूल उठे।

ऐतिहासिक तथ्यो में पायी जाने वाली नीरसता को दूर करने के लिए लेखक ने कुछ चमत्कार उत्पन्न करने वाली घटनाओं की कल्पना की है। बीच-बीच में प्रेम प्रसगों के आ जाने के कारण उपन्यास में चलने वाले ऐतिहासिक नीरस प्रसगों के बीच वे पाठकों को विश्राम ही देती हैं, उनसे रुचियों में परिवर्तन आने के कारण मस्तिष्क को ताजगी ही मिलती है। इसके अतिरिक्त उपन्यास-कार ने जिन घटनाओं की योजना की है, उन्हें देखकर हमें जासूसी उपन्यासो के अय्यारों एव घटनाप्रधान उपन्यासो का स्मरण हो उठता है। कुछ घटनाओं की योजना तो लेखक ने सतर्कता के साथ अवश्य की है, परन्तु कुछ घटनाओ

को तर्क संगत बनाने में वह असफल रहा है। मुख्यतः दो प्रकार के सत्य हुआ करते हैं, एक तो कठोर सत्य होता है, जो आँखों देखा सत्य है तथा उसे सम-सामयिक सभी लोग देख सकते हैं और दूसरा सत्य सम्भावित सत्य होता है, जिसे यदि आँखों से न भी देखा हो तो विश्वास किया जा सकता है। उपन्यासों के अन्दर सम्भावित सत्यो को भी यथार्थ रूप में स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु तर्क एवं सम्भावना से परे की घटनाओं का ऐतिहासिक उपन्यासों में कोई मूल्य नहीं है। वैशाली के अन्दर किसी दैवी प्रकोप का वातावरण उत्पन्न करने के लिए प्रभंजन नाथी को, वर्षकार का छलिया परिव्राजक बना देना तथा कुण्डनी द्वारा राजकुमारी षोडशी और यक्ष कुमारी का अभिनय करा कर तथा नन्दन साहु द्वारा चण्डालमुनि का चरण स्पर्श कराकर वैशाली नगर निवासियो के मन में विश्वास जमा कर भय उत्पन्न कराने की सफल योजना बनाना सम्भावित सत्य हो सकता है, परन्तु छाया पुरुष का प्रवेश तथा महाराज उदयन का आकाश मार्ग से आकर अम्बपाली के सामने वीणा बजाना और पुनः उसी प्रकार चला जाना अत्यन्त ही अस्वाभाविक और अयथार्थ है। ऐसे प्रसंगों से ऐतिहासिक उपन्यासकार को सदैव बचना चाहिए।

राक्षसो के नगर का वर्णन और कुण्डनी द्वारा सरलता से उनका विनाश कर देना अत्यन्त ही अयथार्थ है। नगर में प्रवेश कराने का ढंग तथा राजकुमार विदूडभ का बन्दी गृह आदि तिलस्मी तहखानो का स्मरण दिलाते हैं। 'सोम' का बन्दी का पता लगा लेना तथा उनमें घुस कर युद्ध करने की कला का ज्ञान अवश्य ही उपन्यासकार को खूनी, घटना प्रधान तथा अय्यारी उपन्यासों से मिला होगा। कुछ ऐसी घटनाओं तथा बातों को लेखक कह जाता है जिसकी उसने कोई भी पूर्व योजना नहीं की है, जिससे उन पर पाठको का विश्वास नहीं जम पाता। प्राचीन काल में विष कन्याओं का प्रसंग अवश्य आया है, परन्तु जिस प्रकार कुण्डनी बार बार सर्पदंशन कराती है, उस प्रकार का कोई भी प्रसंग, और कहीं भी नहीं मिलता। एक आश्चर्य की बात यह और हुई कि विष कन्या को मारने वाला भी एक व्यक्ति न जाने कहाँ से यकायक आ टपकता है। भद्रनन्दी के रूप में कुण्डनी के पास वह व्यक्ति नियमानुसार सौ स्वर्ण मुद्राएँ दे कर जाता है, और एक चुम्बन मात्र से उस विष कन्या का काम तमाम हो जाता है।

एक चरित्र 'सोमप्रभ' को छोड़ कर लेखक ने जितने ही चरित्रों का निर्माण करना चाहा है, वह उन अधिकांश चरित्रों में पूर्ण असफल रहा है। लेखक,

इसमें सन्देह नहीं कि वर्षकार को चाणक्य तथा कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी के 'महामात्यों' की कोटि में लाना चाहता था या उनसे और भी दो डग आगे कदम रखना चाहता था, परन्तु वह पूर्ण असफल रहा। आरम्भ में वर्षकार के षड्यंत्रों तथा उसकी व्यवस्थाओं को देख कर हमें उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ होती हैं पर अन्त में वैशाली के कारागार से मुक्त होकर जब हम उसे पुन निरीह रूप में मगध के महामात्य के आसन पर देखते हैं, तो हमें अत्यन्त निराश होना पड़ता है। निष्कासित होने पर भी उसको मगध साम्राज्य के कल्याण में रत दिखाकर उपन्यासकार ने भरसक उसकी विशेषता दिखलाने की चेष्टा की है, परन्तु योजना इतनी शिथिल है कि हम यही नहीं निर्णय कर पाते कि उसका निष्कासन सत्य है अथवा षड्यंत्र निर्माण के लिए उसका निष्कासन एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार हुआ था। सम्राट बिम्बसार का युद्ध के क्षुब्ध वातावरणों में सबकी आँख बचाकर अम्बपाली के महल में चला जाना न तो उसकी मर्यादा के अनुकूल ही है और न उसका सुरक्षित वहाँ तक पहुँच जाना ही सम्भव है, जबकि जासूसों का जाल बिछा हुआ था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अम्बपाली जो सबको धता बताती रही, एक अधेड़ को प्रेम करने लगती है। घटनाओं से स्पष्ट है कि उसके मन में वैशाली के धिक्कृत कानून की प्रतिक्रिया हो रही थी और वह अपने रूप ज्वाला के माध्यम से ही उसका विनाश चाहती थी, उसके सामने उदयन आये, सोमप्रभ आया, उसने अपने कौमार्य की रक्षा की, पर न जाने क्यों वैशाली के पतन के पूर्व ही वह अपने को अधेड़ सम्राट के हाथों सौंप कर राजमहिषी बन जाती है जिससे न तो वह राजमहिषी ही बन सकी, और न तो वैशाली का विनाश ही हो सका। यह प्रणय प्रसंग खेल सा लगता है।

इस उपन्यास का निर्माण साभिप्राय जान पड़ता है। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ लेने पर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान तो हो ही जाता है, इसके अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के ह्रास तथा बौद्ध और जैन धर्मों के उत्पन्न होकर बढ़ने तथा उनके क्रमिक विकास का सांगोपांग वर्णन हमें मिल जाता है। ब्राह्मणों की धार्मिक निरंकुशता और अत्याचारों ने बौद्ध धर्म को पनपने का अवसर दिया। जब ब्राह्मण यह कहते हों कि 'अरे काणे चाण्डाल, तू हम ब्राह्मणों के सम्मुख वेदपाठी ब्राह्मणों की निन्दा करता है, याद रख, हमारा बचा हुआ यह जलपान भले ही सड़ जाय और फेंकना पड़े, पर तुझ निगंठ चाण्डाल को एक कण भी नहीं मिल सकता।" तब भला बौद्ध-धर्म का प्रचार क्यों न हो। किस प्रकार राजाओं और लक्ष्मीपतियों ने इस

धर्म को स्वीकार किया तथा किस प्रकार सारनाथ में आकर बुद्ध भगवान ने अपनी शिष्य परम्परा का विस्तार करते हुए, काशी ऐसे धार्मिक केन्द्र में अपने यश-वैभव के प्रतिष्ठा स्थापन का सजीव एवं वास्तविक चित्रण हमें उपन्यास में प्राप्त हो जाता है और उपन्यास का अन्त अम्बपाली को भिक्षुणी तथा सोमप्रभ को भिक्षुक बना कर करने से इस मत की और पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार का अन्त करने से इसकी कलात्मकता भी बढ़ गयी है।

इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'शास्त्री' जी ने कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का इस प्रकार वर्णन किया है कि उसमें अतिरंजना आ गई है। आज का पाठक उसे स्वीकार करने में अवश्य नाक-भौं सिकोड़ेगा। यद्यपि विज्ञान के चमत्कार ने आधुनिक युग में असम्भव को सम्भव करके दिखला दिया है।

'शास्त्री' जी ने वैशाली के महायुद्ध का जो वर्णन किया है, उससे आधुनिक "रासायनिक एवं कृमि युद्ध (Chemical germ warfare) और रथ मुशल महाशिला राटक जैसे रथों, अस्त्रों, विविध प्रकार के टैंकों का आभास उत्पन्न होता है।"[1] प्रस्तुत साधनों का उपयोग करने का उपन्यासकार को पूरा अधिकार है, परन्तु उसे प्राचीनता के रंग में रँग कर।

दिव्या

हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों का अत्यन्त अभाव है और जो कुछ उपन्यास ऐतिहासिक यथार्थ के चित्रण करने की दृष्टि से लिखे भी गए हैं, उन्हें भी हम किसी अन्य साहित्य के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में नहीं रख सकते। 'दिव्या' को देखकर हमें यह आशा हुई थी कि निकट भविष्य में ही हिन्दी को राखाल बाबू (बँगला के) मिलने वाले हैं परन्तु इसे हिन्दी का अभाग्य ही कहिए कि 'यशपाल' जी ने अपनी वास्तविक प्रतिभा नहीं पहचानी। जहाँ तक अतीत को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रश्न है 'दिव्या' के साथ हिन्दी के कम उपन्यासों का नाम लिया जा सकता है। इसके अन्दर उपन्यासकार ने बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'यशपाल' इतिहास को पूजा और अंधविश्वास की वस्तु नहीं मानते बल्कि उनके अनुसार 'इतिहास विश्वास की नहीं विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा से आत्म-विश्लेषण है।' इस उपन्यास के अन्दर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अतीत एकमात्र स्वर्णिम कल्पना की ही वस्तु नहीं,

१—जगदीश गुप्त—आलोचना उपन्यास अंक पृष्ठ १८१।

उसमें भी आज की भाँति रक्त और माँस के पुतले निवास करते थे, उनमें भी मानव सुलभ सभी गुण दोष वर्तमान थे और उस समय भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अपने थोड़े से सुख और वैभव के लिए दूसरो का बड़ा से बड़ा अपकार करने में कुछ भी सकोच नहीं करते थे। सम्भवत सर्वप्रथम 'दिव्या' में ही तत्कालीन समाज के वर्गपरक स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यह दिखलाने की चेष्टा की गयी है कि अतीत स्वर्ग नहीं था वरन् इस वर्गमूलक समाज व्यवस्था में जन-समुदाय का अधिकांश, जीवन की सुख सुविधा से वंचित था और 'इतर जनो' के जीवन का मूल्य अभिजात वर्ग के सुख का उपकरण बनने मात्र से था।

हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ उपन्यासकारों में हमें देखने को मिल जाता है कि वे ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय पात्रों एव घटनाओ को तो इतिहास से ले लेते हैं परन्तु कथानक के निर्माण में उनकी कल्पना का विलास इतना बढ़ जाता है कि वातावरण, आचार-विचार तथा वेष भूषा और परम्परा आदि का तत्कालीन स्वरूप विकृत होकर उपहासास्पद हो जाता है। परन्तु 'दिव्या' के साथ इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जहाँ तक उसकी ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उसके कथानक और पात्र सभी कल्पित हैं। उनका प्रणयन किसी भी ऐतिहासिक घटना के आधार पर नहीं किया गया है बल्कि उपन्यासकार ने अपनी कल्पना के बल पर कहानी का निर्माण किया है लेकिन जिस काल में कथानक की कल्पना की गई उसके यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण तथा देश-काल आदि के चित्रण में उपन्यासकार को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। उसने स्वय स्वीकार किया है कि दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रग देने का प्रयत्न किया है। जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार लेखक ने लिया है वह है भारत का बौद्ध कालीन युग।

बौद्धकालीन युग का आधार लेकर लिखा हुआ एक और उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' हिन्दी में उपलब्ध है जिसका कथा काल इससे काफी पूर्व का है। जिस प्रकार की व्यवस्था का चित्रण इस उपन्यास में मिलता है, 'दिव्या' की व्यवस्था उससे बहुत कुछ भिन्न है। दोनो के बीच समय की जितनी दूरी है उतनी ही मात्रा में देश-काल में भी भेद आना स्वाभाविक है। समय के साथ समाज व्यवस्था मे परिवर्तन आना स्वाभाविक नहीं अनिवार्य भी है।

की योजना वैशाली पर प्रथम आक्रमण करने की नहीं थी, जिस मतभेद के कारण ही उसे राज्य की सीमाओं का त्याग करना पड़ा। सम्राट ने वैशाली पर आक्रमण किया, महान् सेनापति हुए सोमप्रभ। बिम्बसार के गुप्त रूप से अम्बपाली के महल में चले जाने से मागधो को विश्वास हो गया कि सम्राट मारे गये। सोमप्रभ ने प्रबल वेग से वैशाली का विनाश करना आरम्भ किया और विजय निकट ही थी कि सम्राट द्वारा प्रेषित दूत से यह जान कर कि सम्राट अम्बपाली के विलास गृह में स्वेच्छा से चले गये थे, उसने युद्ध रोक दिया। महासेनापति ने आत्म-समर्पण किया, परन्तु सम्राट को सोम का देशद्रोह असह्य था, दोनों का द्वन्द्व युद्ध होता है और अम्बपाली आकर सोम से सम्राट् के प्राणों की भीख माँगती है। सम्राट को बन्दी कर, सोम अम्बपाली को वैशाली के पास सुरक्षित भेज देता है। जब आर्या मातंगी से उसे ज्ञात होता है कि सम्राट उसके पिता हैं, तो वह विक्षिप्त-सा कारागार में जा कर सम्राट् से क्षमा माँगता है। वैशाली की कारागार से वर्षकार को संधि हो जाने पर मुक्ति मिलती है, वह पुनः मगध का महामात्य होता है और अपने दिये गए वचन के अनुसार सम्राट ने अम्बपाली के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को, जिसको अम्बपाली ने जन्म लेने के साथ-साथ गुप्त रूप से सम्राट के पास भिजवा दिया, भावी मगध सम्राट घोषित किया। उसी समय भगवान बुद्ध का वैशाली में पदार्पण हुआ, उन्होने नगर वधू का भोज स्वीकार किया और अम्बपाली अपना सर्वस्व वैभव त्याग कर भिक्षुणी बन गयी तथा वैशाली से चलते समय उसने देखा कि पीछे-पीछे सोमप्रभ भी भिक्षुक के रूप मे चला आ रहा है।

इस उपन्यास के अन्दर मूल कथा का स्थान अत्यन्त गौण है। उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों के चित्रों को अति स्पष्ट रूप में उभाड़ कर रखने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के द्वारा इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है कि उस काल में नगर कम और गाँव अधिक थे और ये ग्राम अधिकांश सम्पन्न भी थे। देश के अन्दर मुख्यत. दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ वर्तमान थीं। देश के कुछ भागों में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली थी जिसमें कोशल के प्रसेनजित और मगध के सम्राट बिम्बसार के अत्यन्त सुदृढ़ राज्य थे। इन राज्यों की मूल प्रेरक शक्ति वैदिक संस्कृति थी, जिसके अनुसार आर्य लोग शासन करना अपना जन्म जात. अधिकार समझते थे। इस काल में क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों से कुछ ऊपर था, परन्तु ब्राह्मण अपने को जन्म से ही महान मानते थे जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच परस्पर स्पर्द्धा के भाव स्पष्ट लक्षित होते हैं।

कोशल सम्राट् प्रसेनजित अत्यन्त विलासी एवं वृद्ध थे। उनके दासी-जाया पुत्र विदूडभ का ननिहाल के शाक्यों ने अपमान किया, जिसकी घोर, प्रतिक्रिया उसके मन में हुई और उसने राजा को षड्यन्त्र करके निष्कासित कर दिया, जो सपत्नीक पैदल चलकर सम्राट बिम्बसार के मुख्य द्वार पर पहुँच कर दम तोड़ बैठे और इधर विदूडभ ने शासन सूत्र अपने हाथों में ले लिया। सयोगवश चम्पा राजकुमारी की दासी बनकर श्रावस्ती के महल में पहुँच गयी। कुंडनी और सोम ने उसका उद्धार तो किया, परन्तु अर्हत महावीर के आदेश से हृदय पर वज्र रखकर राजनन्दी को कोशल की राजमहिषी बनने के लिए छोड़ कर सोम कुडनी के साथ वहाँ से चल पड़ा जब कि उसने अपना हृदय राजनन्दिनी को दे दिया था और वह भी उसे प्राणो से अधिक चाहती थी। पूर्वार्ध की मूल कथा इतनी ही है, आरम्भ से केवल अम्बपाली को वैशाली की नगर वधू घोषित किया जाना और उसके मन में उसकी प्रतिक्रिया का होना सक्षिप्त रूप में वर्णित है। शेष कथा से उसका सम्बन्ध हो ही नहीं पाता। परन्तु उत्तरार्द्ध में आकर सम्पूर्ण कथा का प्रवाह अम्बपाली के साथ बहने लग जाता है। जिससे इसमें अधिक औपन्यासिकता आ सकी है।

वैशाली गणराज्य के अन्दर मधुपर्वोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था, जिस दिन लोग जगलों में आखेट करने जाया करते थे और मधुपर्व की रानी होती थीं वैशाली की नगर वधू। इसी प्रसंग से उपन्यास का दूसरा खंड आरम्भ होता है। 'अम्बपाली' युवराज स्वर्ण सिंह के साथ जंगल में आती है, जहाँ शेर की दहाड़ सुन कर स्वर्ण सेन का अश्व भाग खड़ा होता है और भागते हुए स्वर्णसेन देखता है कि सिंह अम्बपाली के अश्व पर टूट रहा है। स्वर्णसेन को निश्चित हो गया कि अम्बपाली शेर का शिकार बन गई, जब कि वह एक अज्ञात द्वारा रक्षित होकर, उसी जगल की एक कुटिया में ले जाई जाती है। वह युवक सम्भवत सोमप्रभ था जो अपनी कुटिल नीति का प्रसार करने अपने सहयोगी सैनिकों के साथ वैशाली में आया था। अम्बपाली उस युवक के प्रति आकर्षित हो जाती है। उसके जीवन में यह दूसरी घटना है जब कि महाराजा उदय के बाद किसी युवक को देखकर उसका मन ढीला हुआ। मगध अमात्य वर्षकार भी सम्राट बिम्बसार द्वारा निष्कासित होकर वैशाली ही में आ जमता है। भगवान बादरायण के आश्रम में बिम्बसार ने अम्बपाली को देखा था और वहीं उसके सामने वह प्रतिश्रुत हो चुका था कि वैशाली गणराज्य को नष्ट करके वह अम्बपाली को मगध की राजमहिषी बनायेगा। सम्राट् वैशाली पर तत्क्षण आक्रमण करना चाहते थे और वर्षकार

की योजना वैशाली पर प्रथम आक्रमण करने की नहीं थी, जिस मतभेद के कारण ही उसे राज्य की सीमाओं का त्याग करना पड़ा। सम्राट ने वैशाली पर आक्रमण किया, महान् सेनापति हुए सोमप्रभ। बिम्बसार के गुप्त रूप से अम्बपाली के महल में चले जाने से मागधों को विश्वास हो गया कि सम्राट मारे गये। सोमप्रभ ने प्रबल वेग से वैशाली का विनाश करना आरम्भ किया और विजय निकट ही थी कि सम्राट द्वारा प्रेषित दूत से यह जान कर कि सम्राट अम्बपाली के विलास गृह में स्वेच्छा से चले गये थे, उसने युद्ध रोक दिया। महासेनापति ने आत्म-समर्पण किया, परन्तु सम्राट को सोम का देशद्रोह असह्य था, दोनों का द्वन्द्व युद्ध होता है और अम्बपाली आकर सोम से सम्राट् के प्राणों की भीख माँगती है। सम्राट को बन्दी कर, सोम अम्बपाली को वैशाली के पास सुरक्षित भेज देता है। जब आर्या मातंगी से उसे ज्ञात होता है कि सम्राट उसके पिता हैं, तो वह विक्षिप्त-सा कारागार में जा कर सम्राट् से क्षमा माँगता है। वैशाली की कारागार से वर्षकार को संधि हो जाने पर मुक्ति मिलती है, वह पुनः मगध का महामात्य होता है और अपने दिये गए वचन के अनुसार सम्राट ने अम्बपाली के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को, जिसको अम्बपाली ने जन्म लेने के साथ-साथ गुप्त रूप से सम्राट के पास भिजवा दिया, भावी मगध सम्राट घोषित किया। उसी समय भगवान बुद्ध का वैशाली में पदार्पण हुआ, उन्होंने नगर वधू का भोज स्वीकार किया और अम्बपाली अपना सर्वस्व वैभव त्याग कर भिक्षुणी बन गयी तथा वैशाली से चलते समय उसने देखा कि पीछे-पीछे सोमप्रभ भी भिक्षुक के रूप में चला आ रहा है।

इस उपन्यास के अन्दर मूल कथा का स्थान अत्यन्त गौण है। उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों के चित्रों को अति स्पष्ट रूप में उभाड़ कर रखने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के द्वारा इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है कि उस काल में नगर कम और गाँव अधिक थे और वे ग्राम अधिकांश सम्पन्न भी थे। देश के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ वर्तमान थीं। देश के कुछ भागों में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली थी जिसमें कोशल के प्रसेनजित और मगध के सम्राट बिम्बसार के अत्यन्त सुदृढ़ राज्य थे। इन राज्यों की मूल प्रेरक शक्ति वैदिक संस्कृति थी, जिसके अनुसार आर्य लोग शासन करना अपना जन्म जात अधिकार समझते थे। इस काल में क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों से कुछ ऊपर था, परन्तु ब्राह्मण अपने को जन्म से ही महान मानते थे जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच परस्पर स्पर्द्धा के भाव स्पष्ट लक्षित होते हैं।

कोशल सम्राट् प्रसेनजित अत्यन्त विलासी एवं वृद्ध थे। उनके दासी-जाया पुत्र विदूडभ का ननिहाल के शाक्यों ने अपमान किया, जिसकी घोर, प्रतिक्रिया उसके मन में हुई और उसने राजा को षड्यन्त्र करके निष्कासित कर दिया, जो सपत्नीक पैदल चलकर सम्राट बिम्बसार के मुख्य द्वार पर पहुँच कर दम तोड़ बैठे और इधर विदूडभ ने शासन सूत्र अपने हाथो में ले लिया। संयोगवश चम्पा राजकुमारी की दासी बनकर श्रावस्ती के महल में पहुँच गयी। कुंडनी और सोम ने उसका उद्धार तो किया, परन्तु अर्हत महावीर के आदेश से हृदय पर वज्र रखकर राजनन्दी को कोशल की राजमहिषी बनने के लिए छोड़ कर सोम कुंडनी के साथ वहाँ से चल पड़ा जब कि उसने अपना हृदय राजनन्दिनी को दे दिया था और वह भी उसे प्राणों से अधिक चाहती थी। पूर्वार्ध की मूल कथा इतनी ही है, आरम्भ में केवल अम्बपाली को वैशाली की नगर वधू घोषित किया जाना और उसके मन में उसकी प्रतिक्रिया का होना सक्षिप्त रूप में वर्णित है। शेष कथा से उसका सम्बन्ध हो ही नहीं पाता। परन्तु उत्तरार्द्ध में आकर सम्पूर्ण कथा का प्रवाह अम्बपाली के साथ बहने लग जाता है। जिससे इसमे अधिक औपन्यासिकता आ सकी है।

वैशाली गणराज्य के अन्दर मधुपर्वोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था, जिस दिन लोग जगलों में आखेट करने जाया करते थे और मधुपर्व की रानी होती थीं वैशाली की नगर वधू। इसी प्रसग से उपन्यास का दूसरा खंड आरम्भ होता है। 'अम्बपाली' युवराज स्वर्ण सिंह के साथ जंगल में आती है, जहाँ शेर की दहाड़ सुन कर स्वर्ण सेन का अश्व भाग खड़ा होता है और भागते हुए स्वर्णसेन देखाता है कि सिंह अम्बपाली के अश्व पर टूट रहा है। स्वर्णसेन को निश्चित हो गया कि अम्बपाली शेर का शिकार बन गई, जब कि वह एक अज्ञात द्वारा रक्षित होकर, उसी जगल की एक कुटिया में ले जाई जाती है। वह युवक सम्भवत सोमप्रभ था जो अपनी कुटिल नीति का प्रसार करने अपने सहयोगी सैनिको के साथ वैशाली में आया था। अम्बपाली उस युवक के प्रति आकर्षित हो जाती है। उसके जीवन में यह दूसरी घटना है जब कि महाराजा उदय के बाद किसी युवक को देखकर उसका मन ढीला हुआ। मगध अमात्य वर्षकार भी सम्राट बिम्बसार द्वारा निष्कासित होकर वैशाली ही में आ जमता है। भगवान बादरायण के आश्रम में बिम्बसार ने अम्बपाली को देखा था और वहीं उसके सामने वह प्रतिश्रुत हो चुका था कि वैशाली गणराज्य को नष्ट करके वह अम्बपाली को मगध की राजमहिषी बनायेगा। सम्राट् वैशाली पर तत्क्षण आक्रमण करना चाहते थे और वर्षकार

की योजना वैशाली पर प्रथम आक्रमण करने की नहीं थी, जिस मतभेद के कारण ही उसे राज्य की सीमाओं का त्याग करना पड़ा। सम्राट ने वैशाली पर आक्रमण किया, महान् सेनापति हुए सोमप्रभ। बिम्बसार के गुप्त रूप से अम्बपाली के महल में चले जाने से मागधों को विश्वास हो गया कि सम्राट मारे गये। सोमप्रभ ने प्रबल वेग से वैशाली का विनाश करना आरम्भ किया और विजय निकट ही थी कि सम्राट द्वारा प्रेषित दूत से यह जान कर कि सम्राट अम्बपाली के विलास गृह में स्वेच्छा से चले गये थे, उसने युद्ध रोक दिया। महासेनापति ने आत्म-समर्पण किया, परन्तु सम्राट को सोम का देशद्रोह असह्य था, दोनों का द्वन्द्व युद्ध होता है और अम्बपाली आकर सोम से सम्राट् के प्राणों की भीख माँगती है। सम्राट को बन्दी कर, सोम अम्बपाली को वैशाली के पास सुरक्षित भेज देता है। जब आर्या मातंगी से उसे ज्ञात होता है कि सम्राट उसके पिता हैं, तो वह विक्षिप्त-सा कारागार में जा कर सम्राट् से क्षमा माँगता है। वैशाली की कारागार से वर्षकार को संधि हो जाने पर मुक्ति मिलती है, वह पुनः मगध का महामात्य होता है और अपने दिये गए वचन के अनुसार सम्राट ने अम्बपाली के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को, जिसको अम्बपाली ने जन्म लेने के साथ-साथ गुप्त रूप से सम्राट के पास भिजवा दिया, भावी मगध सम्राट घोषित किया। उसी समय भगवान बुद्ध का वैशाली में पदार्पण हुआ, उन्होने नगर वधू का भोज स्वीकार किया और अम्बपाली अपना सर्वस्व वैभव त्याग कर भिक्षुणी बन गयी तथा वैशाली से चलते समय उसने देखा कि पीछे-पीछे सोमप्रभ भी भिक्षुक के रूप में चला आ रहा है।

इस उपन्यास के अन्दर मूल कथा का स्थान अत्यन्त गौण है। उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों के चित्रों को अति स्पष्ट रूप में उभाड़ कर रखने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के द्वारा इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है कि उस काल में नगर कम और गाँव अधिक थे और वे ग्राम अधिकांश सम्पन्न भी थे। देश के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ वर्तमान थीं। देश के कुछ भागों में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली थी जिसमें कोशल के प्रसेनजित और मगध के सम्राट बिम्बसार के अत्यन्त सुदृढ़ राज्य थे। इन राज्यों की मूल प्रेरक शक्ति वैदिक संस्कृति थी, जिसके अनुसार आर्य लोग शासन करना अपना जन्म जात अधिकार समझते थे। इस काल में क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों से कुछ ऊपर था, परन्तु ब्राह्मण अपने को जन्म से ही महान मानते थे जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच परस्पर स्पर्द्धा के भाव स्पष्ट लक्षित होते हैं।

कोशल सम्राट् प्रसेनजित अत्यन्त विलासी एवं वृद्ध थे। उनके दासी-जाया पुत्र विदूडभ का ननिहाल के शाक्यों ने अपमान किया, जिसकी घोर, प्रतिक्रिया उसके मन में हुई और उसने राजा को षड्यन्त्र करके निष्कासित कर दिया, जो सपत्नीक पैदल चलकर सम्राट बिम्बसार के मुख्य द्वार पर पहुँच कर दम तोड़ बैठे और इधर विदूडभ ने शासन सूत्र अपने हाथों में ले लिया। संयोगवश चम्पा राजकुमारी की दासी बनकर श्रावस्ती के महल में पहुँच गयी। कुंडनी और सोम ने उसका उद्धार तो किया, परन्तु अर्हत महावीर के आदेश से हृदय पर वज्र रखकर राजनन्दी को कोशल की राजमहिषी बनने के लिए छोड़ कर सोम कुंडनी के साथ वहाँ से चल पड़ा जब कि उसने अपना हृदय राजनन्दिनी को दे दिया था और वह भी उसे प्राणों से अधिक चाहती थी। पूर्वार्ध की मूल कथा इतनी ही है, आरम्भ में केवल अम्बपाली को वैशाली की नगर वधू घोषित किया जाना और उसके मन में उसकी प्रतिक्रिया का होना संक्षिप्त रूप में वर्णित है। शेष कथा से उसका सम्बन्ध हो ही नहीं पाता। परन्तु उत्तरार्द्ध में आकर सम्पूर्ण कथा का प्रवाह अम्बपाली के साथ बहने लग जाता है। जिससे इसमें अधिक औपन्यासिकता आ सकी है।

वैशाली गणराज्य के अन्दर मधुपर्वोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था, जिस दिन लोग जंगलों में आखेट करने जाया करते थे और मधुपर्व की रानी होती थीं वैशाली की नगर वधू। इसी प्रसंग से उपन्यास का दूसरा खंड आरम्भ होता है। 'अम्बपाली' युवराज स्वर्ण सिंह के साथ जंगल में आती है, जहाँ शेर की दहाड़ सुन कर स्वर्ण सेन का अश्व भाग खड़ा होता है और भागते हुए स्वर्णसेन देखता है कि सिंह अम्बपाली के अश्व पर टूट रहा है। स्वर्णसेन को निश्चित हो गया कि अम्बपाली शेर का शिकार बन गई, जब कि वह एक अज्ञात द्वारा रक्षित होकर, उसी जंगल की एक कुटिया में ले जाई जाती है। वह युवक सम्भवत सोमप्रभ था जो अपनी कुटिल नीति का प्रसार करने अपने सहयोगी सैनिकों के साथ वैशाली में आया था। अम्बपाली उस युवक के प्रति आकर्षित हो जाती है। उसके जीवन में यह दूसरी घटना है जब कि महाराजा उदय के बाद किसी युवक को देखकर उसका मन ढीला हुआ। मगध अमात्य वर्षकार भी सम्राट बिम्बसार द्वारा निष्कासित होकर वैशाली ही में आ जमता है। भगवान बादरायण के आश्रम में बिम्बसार ने अम्बपाली को देखा था और वहीं उसके सामने वह प्रतिश्रुत हो चुका था कि वैशाली गणराज्य को नष्ट करके वह अम्बपाली को मगध की राजमहिषी बनायेगा। सम्राट् वैशाली पर तत्क्षण आक्रमण करना चाहते थे और वर्षकार

की योजना वैशाली पर प्रथम आक्रमण करने की नहीं थी, जिस मतभेद के कारण ही उसे राज्य की सीमाओं का त्याग करना पड़ा। सम्राट ने वैशाली पर आक्रमण किया, महान् सेनापति हुए सोमप्रभ। बिम्बसार के गुप्त रूप से अम्बपाली के महल में चले जाने से मागधों को विश्वास हो गया कि सम्राट मारे गये। सोमप्रभ ने प्रबल वेग से वैशाली का विनाश करना आरम्भ किया और विजय निकट ही थी कि सम्राट द्वारा प्रेषित दूत से यह जान कर कि सम्राट अम्बपाली के विलास गृह में स्वेच्छा से चले गये थे, उसने युद्ध रोक दिया। महासेनापति ने आत्म-समर्पण किया, परन्तु सम्राट को सोम का देशद्रोह असह्य था, दोनों का द्वन्द्व युद्ध होता है और अम्बपाली आकर सोम से सम्राट् के प्राणों की भीख माँगती है। सम्राट को बन्दी कर, सोम अम्बपाली को वैशाली के पास सुरक्षित भेज देता है। जब आर्या मातंगी से उसे ज्ञात होता है कि सम्राट उसके पिता हैं, तो वह विक्षिप्त-सा कारागार में जा कर सम्राट् से क्षमा माँगता है। वैशाली की कारागार से वर्षकार को संधि हो जाने पर मुक्ति मिलती है, वह पुनः मगध का महामात्य होता है और अपने दिये गए वचन के अनुसार सम्राट ने अम्बपाली के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को, जिसको अम्बपाली ने जन्म लेने के साथ-साथ गुप्त रूप से सम्राट के पास भिजवा दिया, भावी मगध सम्राट घोषित किया। उसी समय भगवान बुद्ध का वैशाली में पदार्पण हुआ, उन्होने नगर वधू का भोज स्वीकार किया और अम्बपाली अपना सर्वस्व वैभव त्याग कर भिक्षुणी बन गयी तथा वैशाली से चलते समय उसने देखा कि पीछे-पीछे सोमप्रभ भी भिक्षुक के रूप में चला आ रहा है।

इस उपन्यास के अन्दर मूल कथा का स्थान अत्यन्त गौण है। उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों के चित्रों को अति स्पष्ट रूप में उभाड़ कर रखने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के द्वारा इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है कि उस काल में नगर कम और गाँव अधिक थे और वे ग्राम अधिकांश सम्पन्न भी थे। देश के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ वर्तमान थीं। देश के कुछ भागों में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली थी जिसमें कोशल के प्रसेनजित और मगध के सम्राट बिम्बसार के अत्यन्त सुदृढ़ राज्य थे। इन राज्यों की मूल प्रेरक शक्ति वैदिक संस्कृति थी, जिसके अनुसार आर्य लोग शासन करना अपना जन्म जात अधिकार समझते थे। इस काल में क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों से कुछ ऊपर था, परन्तु ब्राह्मण अपने को जन्म से ही महान मानते थे जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच परस्पर स्पर्द्धा के भाव स्पष्ट लक्षित होते हैं।

सम्पूर्ण देश के अन्दर ब्राह्मणों का भीतरी षड्यंत्र चलता दिखलाई पड़ता है। प्राय. वे उसी साम्राज्य की शक्ति के समर्थक थे जिसमें उनकी इच्छा का प्राधान्य हो। राजाओं के मंत्री प्राय ब्राह्मण थे जो अधिक से अधिक शासन सूत्र को अपने हाथों में बनाये रखने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार पौरोहित्य तथा मंत्रित्व दोनों के द्वारा देश की सारी की सारी सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर ब्राह्मण धर्म का एकमात्र प्रभाव स्थापित करने की योजनाएँ नित्य बनती थीं, जिससे देश का वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था।

इन राज्यों के अतिरिक्त बहुत से गणराज्य स्थापित थे, जिनमें वैशाली का गणराज्य अत्यन्त शक्तिशाली था जिसके अन्दर और भी अनेक गण थे। इन गणों और राज्यो में प्राय संघर्ष होता रहता था, जिसका मूल कारण यह था कि ब्राह्मण लोग राजाओं को अश्वमेध यज्ञ करने के लिए उकसाकर राज्य की सीमाओं का इसलिए विस्तार चाहते थे, कि उनके धर्म का प्रचार हो, क्योंकि जितने भी गणराज्य थे वे प्राय. आर्यों के नहीं थे। आर्यों के अतिरिक्त देश के अन्दर अनार्य तो थे ही, आर्यों की विलासी प्रवृत्तियों के कारण जो संकर-वर्ण की एक शक्तिशाली जाति बनती जा रही थी वह आर्यों से अत्यधिक खार खाये बैठी थी, क्योंकि आर्यों की सामाजिक व्यवस्था ने संकरवर्ण पुत्र पैदा करने की तो स्वीकृति दे दी थी, परन्तु उसने उत्तराधिकार की कोई भी व्यवस्था का निर्माण नहीं किया था।

गणराज्यों की व्यवस्था उन दिनों किस प्रकार होती थी, उपन्यासकार ने उसका सजीव चित्र उपस्थित किया है। गणपति की ठीक स्थिति आज के लोक सभा के अध्यक्ष की सी है जिसे 'स्पीकर' कहते हैं। किसी भी महत्त्व पूर्ण विषय पर मतदान लेने की जो प्रणाली उस समय विभिन्न रंग की शलाकाओं के माध्यम से थी, आज की प्रजातन्त्रीय विधान सभाओं में भी किसी न किसी प्रकार वैसी ही है। कहीं कहीं शलाकाओं का प्रयोग किया जाता, कहीं-कहीं विभिन्न घरों में चले जाने की प्रथा थी और स्वर के द्वारा 'हाँ' अथवा 'नहीं' करके भी कहीं-कहीं मत प्रकट किये जाते थे। परन्तु उपन्यासकार ने इसका कहीं भी संकेत नहीं किया है कि उन गणों के सदस्यों का साधारणत चुनाव किस प्रकार से किया जाता था। उन गण राज्यों की कार्य पद्धति का तो लेखक ने बड़ा ही स्पष्ट वर्णन किया है। 'भिन्न-भिन्न राज-काज के लिए, छोटे-छोटे कामों के लिए पदाधिकारी नियुक्त थे। जैसे अपराधी का न्याय करने के लिए अनुक्रम से राजा, गण, विनिश्चय, महामात्र, व्यावहारिक सूत्रधार, अष्ट-कुल, सेनापति, उप राजा और राजा इतने अधिकारी मडली के पास अपराधी

को ले जाया जाता था। महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिए आठ या नौ व्यक्तियों की व्यवस्था समिति भी चुनी जाती थी। लिच्छवियों के संयुक्त राज्य में जिन आठ कुलों के गण थे उनमें प्रत्येक कुल से एक प्रतिनिधि लेकर आठ जनों की यह व्यवस्था परिषद् नियुक्त की जाती थी जो सम्पूर्ण शासन व्यवस्था करती थी।' इससे ऐसा लगता है कि व्यवस्था परिषद् में प्रत्येक कुलों का समान प्रतिनिधित्व था, प्रतिनिधियों की संख्या कुलों की जन संख्या के आधार पर नहीं निश्चित की जाती थी, बल्कि उसका निश्चय कुलों की संख्या पर किया जाता था। जो व्यक्ति जन्म से गण राज्यों का नागरिक होता था, उसे ही राजकीय कार्यों में भाग लेने का विधान था, क्योंकि जब मागध वर्षकार ने वैशाली की गण परिषद् के सम्मुख अपनी सेवाएँ अर्पित कीं तो उसे उसने अस्वीकार कर दिया। परन्तु गण परिषद् का सहस्र स्वर्ण मुद्रा प्रतिदिन आतिथ्य के लिये दान करना, बतलाता है कि अन्य राज्य से आये हुए अतिथियों को सम्पूर्ण सम्मान प्रदान करने की परम्परा थी।

लेखक ने जहाँ पर गणराज्यों के चित्रण में अधिक सहानुभूति दिखलायी है, वहीं पर उसने ईमानदारी के साथ राजवंशीय प्रजा के सुखमय जीवन के प्रति ईर्ष्याभाव भी प्रकट किया है। उस समय तक गणो में जितनी व्यवस्था स्थापित की जा सकती थी वह अत्यन्त अपर्याप्त थी। नियमों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, जनशक्ति के आधार पर बहुत से अनुचित नियमों का पालन लोगों से कराया जाता था। जैसे वैशाली का उस समय अत्यन्त ही एक धिक्कृत नियम यह था कि उस समय की जो सबसे अधिक सुन्दरी कन्या होती थी उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी वेश्या जीवन ग्रहण करना पड़ता था, वह 'नगरवधू' कहलाती थी, वह किसी एक व्यक्ति की परिणीता होकर नहीं रह सकती, बल्कि उसके ऊपर सम्पूर्ण गण के नागरिकों का समान अधिकार था। प्राचीन काल के इतिहास में इस प्रकार और भी 'राजनर्तकी' तथा 'देवदासी' आदि स्त्रियो का वर्णन आया है, परन्तु इनकी स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। 'नगरवधू' का स्थान उस समय के समाज में आज की सी वेश्याओं का सा नहीं था, बल्कि वह सम्पूर्ण गण भर में सर्वश्रेष्ठ, सर्व सम्मानित एवं सबसे अधिक ऐश्वर्यशालिनी महिला के रूप में स्वीकार की जाती थी। उसके प्रत्येक संस्कार राज्य की ओर से मनाये जाते थे। परन्तु जीवन में धन, वैभव, विलास एवं सम्मान ही सब कुछ नहीं, हृदय भी कोई वस्तु है, जिसके सामने सभी नगण्य हैं। नारी जीवन में एक बार और एक व्यक्ति को प्यार करती है, इसके अतिरिक्त उसका प्यार प्यार नहीं होता। बल्कि वह उत्पन्न परि-

स्थितियों से समझौता मात्र करती है। इसी नियम के कारण अम्बपाली को 'हर्षदेव' को छोड़ कर जिसकी कि वह वाग्दत्ता पत्नी हो चुकी थी, सबके विलास की वस्तु 'नगरवधू' बनना पड़ा।

गण अत्यन्त दुर्बल थे। राज्यों का सारा का सारा धन थोड़े से सेठों और साहूकारों के हाथों में इकट्ठा हो गया था, जिनकी सहानुभूति गणो के साथ बिल्कुल नहीं थी। राजतत्र वाले राज्यों में भी सेठ धनी थे और इतने विलासी थे कि पैदल न चलने के कारण तलवों में रोयें तक जम आये थे, और जो बिम्बसार ऐसे सम्राट से मिलने के लिए केवल सातवीं मजिल से चौथी तक ही उतर सकते थे परन्तु अन्तर इतना अवश्य था कि उनका सम्पूर्ण धन भंडार राजा की सहायता के लिए खुला रहता था और गणों के धनकुबेर गणों की सहायता के लिये एक स्वर्ण कण भी देने के लिए तत्पर नहीं थे। उनकी प्रजा कहीं-कहीं दानों दानो के लिए तड़प रही थी, क्योंकि दस्यु बलभद्र के साथियो ने जब अम्बपाली के महल को लूटना आरम्भ किया तो उन लोगों ने स्वर्ण नहीं केवल खाने के लिए अन्न ही लिया, जो साथी वैशाली के ही थे और दस्यु मंडली में भर्ती हो गए थे। इन्हीं अव्यवस्थाओं के कारण गण राज्य पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं हो पा रहे थे।

परन्तु इतना अवश्य है कि गणों की प्रजा के अन्दर राज्यतन्त्रात्मक राज्यों की प्रजा की अपेक्षा जीवन अधिक दिखलाई पड़ता है। राज्यों की प्रजा के अन्दर मुख्यत दो प्रकार के वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। एक तो ऐसे लक्ष्मी पतियों का वर्ग था जिसे अपने भोग विलास से फुरसत ही नहीं थी कि वह सम-सामयिक परिस्थितियों पर सोच सके और दूसरा वर्ग ऐसे साधारण लोगों का था जिसमें सोचने विचारने की क्षमता ही नहीं थी। वह चुपचाप राजाज्ञा का पालन करता हुआ किसी प्रकार अपना जीवन काट रहा था। परन्तु उनके सामने कम से कम भूखों मरने की समस्या नहीं थी। यही कारण है कि जितने ही ऊहापोह हमें ऐसे क्षेत्रो में दिखलाई पड़ते हैं, वे केवल राजधानी में ही अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले राजन्य वर्ग तथा राजकर्मचारियों मे ही। सभी गणो तथा राज्यों की सरकारें अपनी वैदेशिक व्यवस्थाओं मे विशेष सतर्क एव पटु थीं। प्रत्येक सरकारों के जासूसी विभाग अत्यन्त कुशल थे और ये विभाग ही उन सरकारों की सफलता एवं रक्षा के विश्वस्त शक्तिस्रोत थे। जासूसी कार्यों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रिया अधिक सफल समझी जाती थीं। मगध राज्य की प्रमुख जासूस एवं विजयदात्री 'कुण्डनी' थी। अमात्य वर्षकार प्रभजन नाई आदि जासूसो के साथ ही वैशाली में आने के कारण अपने षड्यन्त्र का जाल भली-भाँति बिछा सका। वैशाली गण राज्य

के एक प्रमुख अधिकारी जयराज का मगध में जाकर जासूसी कार्य करना तथा वहाँ की सारी पोल का पता लगा लेना ही, उस विभाग की कार्य क्षमता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब हम मोहन मंत्रणा के समय वैशाली गण-राज्य के मंत्रियों के भाषण सुनते हैं, जिनमें उन लोगों ने वैशाली में आये छद्मवेशी मागधों का विवरण प्रस्तुत किया था, तो निस्सन्देह उनकी कार्यक्षमता पर हमें संतोष होता है। लेखक ने इस उपन्यास में इस प्रकार की राज्य व्यवस्थाओं का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित किया है।

उपन्यास की कथा का सम्बन्ध अनेक राज्यों एवं राजन्य वर्गों से होने के कारण इसके अंदर तत्कालीन सभी सामाजिक एवं धार्मिक रूप-रेखाएँ सिमट कर आ गई हैं। उस समय तक आर्यों के अन्दर वर्ण व्यवस्था को अत्यधिक महत्व मिल चुका था। चार वर्गों में ब्राह्मण और क्षत्रिय तो प्रमुख हो उठे थे और इतर दो वर्गों की दशा दयनीय थी। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने इतर जाति की स्त्रियों को अपने उपभोग के लिए तो अपना लिया था, परन्तु उनसे उत्पन्न संतानों को अपने कुल तथा गोत्र से च्युत कर दिया था। जिनकी एक अत्यन्त प्रबल नवीन संकर जाति बनती जा रही थी, जिसने शीघ्र ही आर्य राज्य वंशों को हतप्रभ कर दिया। मगध का राज्य कुल स्वयं संकर था। 'प्रसेनजित' के रनिवास में अधिकतर निम्न कुल की ही स्त्रियाँ थीं। उनके दासी पुत्र विदूडभ ने ही उन्हें सिंहासनच्युत कर दिया। शूद्रों को उच्च वर्ण की स्त्री लेने का अधिकार नहीं था और उनकी सुकन्याएँ उच्च वर्ण के उपभोग के लिए चली जाती थीं, इसलिए उन्हें अपने लिए राक्षसों, द्रविणों तथा दस्युयों आदि से स्त्रियाँ जुटानी पड़ती थीं। आर्यों के अन्दर अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों ने घर कर लिया था, जिसके कारण सम्पूर्ण भारतखण्ड में प्रसेन-जित ऐसे ही कुछ सड़े-गले घमंडी और अकर्मण्य राजा रह गये थे। सम्पूर्ण राज्य सत्ताएँ संकरों के हाथ में चली जा रही थीं।

ब्राह्मणों ने यज्ञों को प्रधानता दे रखी थी जिसकी आड़ में नाना प्रकार के अनाचारों की वृद्धि हो रही थी। बछड़े, बैल, भेड़ आदि पशुओं से गवालम्भन अनुष्ठान किया जाता था। कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग दिखलाई पड़ता है। प्रायः सभी मांस खाते थे, जिसमें भैंसे अधिक प्रयोग में लाये जाते थे। दासों की प्रथा ज़ोरों पर थी। यज्ञ के समय राजा द्वारा पुरोहित को तथा राजा के व्याह के समय अन्य रानियों द्वारा राजा को अनेक सुन्दरी दासियाँ भेंट की जाती थीं। दासियों का क्रय-विक्रय ठीक-ठीक आज के पशुओं के समान होता था। शास्त्री जी ने एक स्थान पर दासों के हाट का बड़ा जीवन्त चित्र

इसमें सन्देह नहीं कि वर्षकार को चाणक्य तथा कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी के 'महामात्यों' की कोटि में लाना चाहता था या उनसे और भी दो डग आगे कदम रखना चाहता था, परन्तु वह पूर्ण असफल रहा। आरम्भ में वर्षकार के षड्यंत्रों तथा उसकी व्यवस्थाओं को देख कर हमें उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ होती हैं पर अन्त में वैशाली के कारागार से मुक्त होकर जब हम उसे पुन निरीह रूप में मगध के महामात्य के आसन पर देखते हैं, तो हमें अत्यन्त निराश होना पड़ता है। निष्कासित होने पर भी उसको मगध साम्राज्य के कल्याण में रत दिखाकर उपन्यासकार ने भरसक उसकी विशेषता दिखलाने की चेष्टा की है, परन्तु योजना इतनी शिथिल है कि हम यही नहीं निर्णय कर पाते कि उसका निष्कासन सत्य है अथवा षड्यंत्र निर्माण के लिए उसका निष्कासन एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार हुआ था। सम्राट बिम्बसार का युद्ध के क्षुब्ध वातावरणों में सबकी आँख बचाकर अम्बपाली के महल में चला जाना न तो उसकी मर्यादा के अनुकूल ही है और न उसका सुरक्षित वहाँ तक पहुँच जाना ही सम्भव है, जबकि जासूसों का जाल बिछा हुआ था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अम्बपाली जो सबको धता बताती रही, एक अधेड़ को प्रेम करने लगती है। घटनाओं से स्पष्ट है कि उसके मन में वैशाली के धिक्कृत कानून की प्रतिक्रिया हो रही थी और वह अपने रूप ज्वाला के माध्यम से ही उसका विनाश चाहती थी, उसके सामने उदयन आये, सोमप्रभ आया, उसने अपने कौमार्य की रक्षा की, पर न जाने क्यो वैशाली के पतन के पूर्व ही वह अपने को अधेड़ सम्राट के हाथो सौंप कर राजमहिषी बन जाती है जिससे न तो वह राजमहिषी ही बन सकी, और न तो वैशाली का विनाश ही हो सका। यह प्रणय प्रसंग खेल सा लगता है।

इस उपन्यास का निर्माण साभिप्राय जान पड़ता है। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ लेने पर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान तो हो ही जाता है, इसके अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के ह्रास तथा बौद्ध और जैन धर्मों के उत्पन्न होकर बढ़ने तथा उनके क्रमिक विकास का सागोपाग वर्णन हमें मिल जाता है। ब्राह्मणों की धार्मिक निरकुशता और अत्याचारों ने बौद्ध धर्म को पनपने का अवसर दिया। जब ब्राह्मण यह कहते हों कि 'अरे काणे चाण्डाल, तू हम ब्राह्मणों के सम्मुख वेदपाठी ब्राह्मणों की निन्दा करता है, याद रख, हमारा बचा हुआ यह जलपान भले ही सड़ जाय और फेंकना पड़े, पर तुझ निगठ चाण्डाल को एक कण भी नहीं मिल सकता।" तब भला बौद्ध-धर्म का प्रचार क्यो न हो। किस प्रकार राजाओं और लक्ष्मीपतियों ने इस

धर्म को स्वीकार किया तथा किस प्रकार सारनाथ में आकर बुद्ध भगवान ने अपनी शिष्य परम्परा का विस्तार करते हुए, काशी ऐसे धार्मिक केन्द्र में अपने यश-वैभव के प्रतिष्ठा स्थापन का सजीव एवं वास्तविक चित्रण हमें उपन्यास में प्राप्त हो जाता है और उपन्यास का अन्त अम्बपाली को भिक्षुणी तथा सोम-प्रभ को भिक्षुक बना कर करने से इस मत की और पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार का अन्त करने से इसकी कलात्मकता भी बढ़ गयी है।

इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'शास्त्री' जी ने कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का इस प्रकार वर्णन किया है कि उसमें अतिरंजना आ गई है। आज का पाठक उसे स्वीकार करने में अवश्य नाक-भौं सिकोड़ेगा। यद्यपि विज्ञान के चमत्कार ने आधुनिक युग में असम्भव को सम्भव करके दिखला दिया है।

'शास्त्री' जी ने वैशाली के महायुद्ध का जो वर्णन किया है, उससे आधुनिक "रासायनिक एवं कृमि युद्ध (Chemical germ warfare) और रथ मुशल महाशिला राटक जैसे रथों, अस्त्रों, विविध प्रकार के टैंकों का आभास उत्पन्न होता है।"[१] प्रस्तुत साधनों का उपयोग करने का उपन्यासकार को पूरा अधिकार है, परन्तु उसे प्राचीनता के रंग में रँग कर।

दिव्या

हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों का अत्यन्त अभाव है और जो कुछ उपन्यास ऐतिहासिक यथार्थ के चित्रण करने की दृष्टि से लिखे भी गए हैं, उन्हें भी हम किसी अन्य साहित्य के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में नहीं रख सकते। 'दिव्या' को देखकर हमें यह आशा हुई थी कि निकट भविष्य में ही हिन्दी को राखाल बाबू (बँगला के) मिलने वाले हैं परन्तु इसे हिन्दी का अभाग्य ही कहिए कि 'यशपाल' जी ने अपनी वास्तविक प्रतिभा नहीं पहचानी। जहाँ तक अतीत को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रश्न है 'दिव्या' के साथ हिन्दी के कम उपन्यासों का नाम लिया जा सकता है। इसके अन्दर उपन्यासकार ने बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'यशपाल' इतिहास को पूजा और अंधविश्वास की वस्तु नहीं मानते बल्कि उनके अनुसार 'इतिहास विश्वास की नहीं विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्म-विश्लेषण है।' इस उपन्यास के अन्दर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अतीत एकमात्र स्वर्णिम कल्पना की ही वस्तु नहीं,

---

१—जगदीश गुप्त—आलोचना उपन्यास अंक पृष्ठ १८१।

उसमें भी आज की भाँति रक्त और माँस के पुतले निवास करते थे, उनमें भी मानव सुलभ सभी गुण दोष वर्तमान थे और उस समय भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अपने थोड़े से सुख और वैभव के लिए दूसरों का बड़ा से बड़ा अपकार करने में कुछ भी सकोच नहीं करते थे। सम्भवत सर्वप्रथम 'दिव्या' में ही तत्कालीन समाज के वर्गपरक स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यह दिखलाने की चेष्टा की गयी है कि अतीत स्वर्ग नहीं था वरन् इस वर्गमूलक समाज व्यवस्था में जन-समुदाय का अधिकांश, जीवन की सुख सुविधा से वंचित था और 'इतर जनो' के जीवन का मूल्य अभिजात वर्ग के सुख का उपकरण बनने मात्र में था।

हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ उपन्यासकारों में हमें देखने को मिल जाता है कि वे ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय पात्रों एवं घटनाओं को तो इतिहास से ले लेते हैं परन्तु कथानक के निर्माण मे उनकी कल्पना का विलास इतना बढ़ जाता है कि वातावरण, आचार-विचार तथा वेष भूषा और परम्परा आदि का तत्कालीन स्वरूप विकृत होकर उपहासास्पद हो जाता है। परन्तु 'दिव्या' के साथ इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जहाँ तक उसकी ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उसके कथानक और पात्र सभी कल्पित हैं। उनका प्रणयन किसी भी ऐतिहासिक घटना के आधार पर नहीं किया गया है बल्कि उपन्यासकार ने अपनी कल्पना के बल पर कहानी का निर्माण किया है लेकिन जिस काल में कथानक की कल्पना की गई उसके यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण तथा देश-काल आदि के चित्रण में उपन्यासकार को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। उसने स्वय स्वीकार किया है कि दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रग देने का प्रयत्न किया है। जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार लेखक ने लिया है वह है भारत का बौद्ध कालीन युग।

बौद्धकालीन युग का आधार लेकर लिखा हुआ एक और उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' हिन्दी में उपलब्ध है जिसका कथा काल इससे काफी पूर्व का है। जिस प्रकार की व्यवस्था का चित्रण इस उपन्यास में मिलता है, 'दिव्या' की व्यवस्था उससे बहुत कुछ भिन्न है। दोनो के बीच समय की जितनी दूरी है उतनी ही मात्रा में देश-काल में भी भेद आना स्वाभाविक है। समय के साथ समाज व्यवस्था में परिवर्तन आना स्वाभाविक नहीं अनिवार्य भी है।

बौद्ध कालीन युग के आरम्भ में धार्मिक मत-मतान्तरों का भेद इस सीमा तक पहुँच चुका था कि नित्य जिसे लेकर अशोभन घटनाएँ हुआ करती थीं किन्तु जातीय भेद भाव का रूप उतना उग्र नहीं था जितना कि आगे चलकर हो गया। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि इतर जाति के लोग इतने दबे हुए थे कि उनके लिए सर का उठाना ही कठिन था और दूसरे यह कि एक दूसरे के प्रति अत्यन्त उदार थे। परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से यही जान पड़ता है कि इतर जाति के लोग इतने पददलित थे कि यह सोच ही नहीं सकते थे कि समाज में उनका भी कोई स्थान है अथवा होना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय दो कुलीन कही जाने वाली जातियाँ अपने वैभव की सीमा पर थीं। परन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया गया, अपनी ही भूलों और त्रुटियो के कारण कुलीन कही जाने वाली जातियो का स्वाभाविक ह्रास होने लगा जिससे इतर जातियो को भी सर उठाने का मौका मिला। समाज में इस प्रकार की व्यवस्था के आ जाने के कारण घोर प्रतिक्रिया का आरम्भ हुआ। एक ओर ऊँची जातियों के अन्दर वर्णाश्रम धर्म के नियमों को पालन कराने की प्रबल महत्वाकांक्षा थी तो दूसरी ओर इतर जाति के लोगों के अन्दर उसे समूल नष्ट कर देने की कामना। 'दिव्या' के अन्दर कथानक का सारा प्रसार इसी संघर्ष को लेकर हुआ है। पहले कहा गया है कि लेखक ने समाज का वर्गपरक स्वरूप चित्रित करना चाहा है। लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि शोषित वर्ग (दास वर्ग) अपनी दयनीय स्थिति को लेकर क्षुब्ध था। लेकिन हमें यह स्मरण रखना होगा कि उस समय लोगों में न आज की सी वर्ग चेतना थी और न वर्ग की सी तीव्रता। हमें यहीं पर लेखक की कलात्मक प्रतिभा और उसकी ऐतिहासिक यथार्थवादिता के प्रति जागरूकता का परिचय प्राप्त होता है जहाँ वह इतिहास के साथ न्याय करता जान पड़ता है। किसी पूर्वाग्रह को अतीत के किसी काल विशेष पर आरोपित कर भी सम्भावित त्रुटियों से बच निकलना रचनाकार की अद्भुत कल्पनात्मक अनुभूति और सृजनात्मक शक्ति तथा प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है और 'दिव्या' की सफलता का रहस्य है।

जिस सामाजिक संघर्ष को 'दिव्या' के अन्दर लेखक ने उभाड़ कर रखना चाहा है उसका चित्रण एकमात्र गण राज्य में ही सम्भव था क्योंकि राजतंत्र शासन प्रणाली के भीतर बहुत सी ऐसी समस्याओं का उठना सम्भव न था। गणराज्यों पर प्रायः उच्च कुल के लोगों का अधिकार था। इतर जाति के लोग शासन कार्य में सक्रिय भाग नहीं ले पाते थे। मैंने ऊपर कहा है कि इतिहास को देखने की उपन्यासकार की अपनी एक विशेष दृष्टि रही है।

उसने अपनी रचना सोद्देश्य की है। शोषण का एकमात्र आधार उस समय की वर्ण व्यवस्था थी। मिथोद्रस की विजय, मिलिन्द के काषाय ग्रहण के पश्चात मद्र में गण राज्य की स्थापना हुई और गण-राज्य में स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठ वर्ण कुलों को छोड़कर और कुल भीआ गए थे जो वर्ण व्यवस्था के नितान्त प्रतिकूल था, मद्र के अभिजात वर्ग की अधिकार प्राप्ति की स्पर्द्धा मिथोद्रस के पूर्व चले आते उच्च वर्ण कुलों के लिए कष्टदायिनी थी और यही तत्कालीन सामाजिक संघर्ष का स्वरूप था। इसी कारण बौद्धधर्म के प्रति भी उनके मन में स्पर्द्धा के उग्र भाव थे क्योंकि बौद्धधर्म के प्रभावों को नष्ट कर के ही वे अपनी सामाजिक मान्यताएँ स्थापित कर सकते थे। जिन ऐतिहासिक मान्यताओं के ऊपर उसने जमकर प्रहार किया है निश्चित ही उसे वे अमान्य हैं। वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता के अनुसार अवसर दिलाने का पक्षपाती है। उस समय गण राज्य के प्रमुख स्थान पर नियुक्तियाँ तो योग्यता के अनुसार की जाती थीं पर वे एक निश्चित समाज तक ही सीमित थीं।

'मधुपर्व' के अवसर पर विद्यालयों से अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा प्राप्त कर लौटे विद्यार्थियों का प्रदर्शन कराने की व्यवस्था थी जिसका निर्णय करने के लिए गण के सदस्य उपस्थित रहते थे और उनकी सम्मति से 'गणपति' प्रतियोगिता में उत्तीर्ण छात्रों के नाम घोषित करता था जिसके अनुसार उन्हें राज्य के प्रमुख पदों पर नियुक्त किया जाता था। उसी दिन एक और उत्सव मनाया जाता था, वह था कला प्रदर्शन का। कलामें सर्वश्रेष्ठ 'सरस्वती पुत्री' का सम्मान पानेवाली लड़की उस दिन के निर्णीत सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी को पुष्पमुकुट पहनाती थी। प्रथा के अनुसार 'दिव्या' ने दास पुत्र पृथुसेन को, जो उस दिन का सर्व श्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया गया था, पुष्पमुकुट पहनाया। दास कुल में जन्म लेने के कारण दिव्या की शिविका में कन्धा लगाने से वंचित पृथुसेन रुद्रधीर द्वारा अपमानित किया गया जिसकी घोर प्रतिक्रिया ने षड्यंत्र को आगे बढ़ाया। उसने 'दिव्या' द्वारा धर्मस्थ से न्याय की भीख माँगी और उसे उचित न्याय भी मिल गया। अभिजात वंश के लोगों की इच्छा के विरुद्ध भी रुद्रधीर को दो हजार दिन के निष्कासन का दण्ड भोगना ही पड़ा जिससे ऐसा लगता है कि उस समय न्याय की व्यवस्था का पालन बड़ी ही कड़ाई के साथ किया जाता था तथा न्याय के सामने सबका झुकना अनिवार्य था। वर्णीय भेद-भाव इतना उग्र रूप धारण करता जा रहा था कि धर्मस्थ के न्याय से ही सारी समस्या का हल सम्भव न था। पृथुसेन ने अपने पराक्रम

और अवसर से लाभ उठाकर सत्ता तो हथिया ली किन्तु रुद्रधीर के साथी शान्त नहीं थे और हम देखते हैं कि रुद्रधीर के लौटते ही षड्यंत्र का एक महान संगठन गण राज्य को इतर जाति के शासन से मुक्त कर वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की पुनः स्थापना करने के लिए तैयार हो गया।

उस समय शासन और समाज में कला को विशेष महत्व दिया जाता था। गण के अन्दर राजनर्तकी का उतना ही सम्मान था जितना कि गणपति का। आजकल समाज की जैसी धारणा वेश्याओं के प्रति है वैसी उस समय नहीं थी। यद्यपि राजनर्तकी मल्लिका की स्थिति 'नगरवधू' की सी है परन्तु उसकी स्थिति उससे कुछ भिन्न अवश्य है। उसे जो सम्मान प्राप्त था वह एक वेश्या का सम्मान कदापि नहीं हो सकता था। 'राजनर्तकी' की स्थिति इस समय वैसी नहीं थी जैसी कि इसके पूर्व वैशाली आदि गणों में पाई जाती है। गण राज्य की किसी भी सर्व सुन्दरी कन्या को विवश होकर 'नगरवधू' का सा जीवन स्वीकार नहीं करना पड़ता था जैसा कि 'अम्बपाली' को करना पड़ा था। 'राजनर्तकी' ही कला, सुन्दरता तथा अन्य योग्यताओं का ध्यान रखते हुए अपनी उत्तराधिकारिणी की घोषणा करती थी। वर्ण व्यवस्था का बन्धन इतना कड़ा था कि कोई भी अभिजात कुल की कन्या अपनी इच्छा से भी वेश्या जीवन स्वीकार नहीं कर सकती थी। 'दिव्या' ने अपने स्वाभाविक आकर्षण से उद्भूत प्रेम के कारण युद्ध में जाते समय पृथुसेन को विवाह के पूर्व ही अपना शारीरिक समर्पण कर जो गर्भ धारण किया था वह उसकी लज्जा का कारण हुआ। युद्ध से लौटे विजयी पृथुसेन पर गणपति की पुत्री 'सीरो' का पूर्ण नियंत्रण हो जाने के कारण 'दिव्या' उससे मिल भी न सकी जिससे उसे घर छोड़ कर जीवन की अनेक कंकरीली गलियों से गुजरना पड़ा। 'मल्लिका' ने जब उसे अपनी उत्तराधिकारिणी के रूप में स्वीकार करना चाहा तो अभिजात वंश के लोगों ने उसका प्रबल विरोध किया कि द्विज कन्या कभी भी वेश्या जीवन धारण नहीं कर सकती जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्णाश्रम धर्म के नियम कड़े थे परन्तु उस नियम के मूल में अभिजात कुल के लोगों का स्वार्थ ही प्रधान था। लेखक ने दिखलाना चाहा है कि वर्ण व्यवस्था के नियमों को इतनी कठोरता से पालन करवाने में शोषक वर्ग (उच्चकुल वर्ग) का स्वार्थ निहित था, जिस स्वार्थ की रक्षा के लिए आवश्यक था कि द्विज वर्ग इतर जनों से अपने को श्रेष्ठ बनाए रख सके। यदि सामाजिक आचार-विचारों में इतर जन भी द्विज वर्ग की समानता में आ जायँ तो द्विज वर्ग का विशेष-अधिकार कहाँ रह जाता है। "द्विज वर्ग की सत्ता इतर जन की हीनता

और उनसे सेवा प्राप्त करने के अधिकार पर आश्रित है। इतर जन को अपने समान बना लेने पर उनका विशेषाधिकार कहाँ रह जायगा।" यही कारण है कि 'मल्लिका' 'दिव्या' को अपनी उत्तराधिकारिणी के रूप में अपने आसन पर न बिठा सकी। यदि एक बार उसने महासेनापति पृथुसेन की उच्छृंखलता के कारण 'माधुलिका' को खो दिया था तो दूसरी बार उसने आचार्य रुद्रधीर के प्रबल विरोध से, जिसके पीछे शासक की शक्ति थी, दिव्या से भी हाथ धो प्रवंचित हुई क्योंकि पवित्र द्विज कुल की कन्या को राजनर्तकी के पद पर आसीन करना अभिजात वर्ग की कुल गरिमा के विरुद्ध था और आचार की परम्परा के विरुद्ध साधारण जन की भाँति आचरण करना अपने अधिकारों और स्वार्थों को ही छोड़ देना था।

उपन्यासकार ने तत्कालीन वेश-भूषा आदि के चित्रण में अत्यन्त सतर्कता से काम लिया है। चित्रण की कलात्मक प्रतिभा लेखक की इतनी प्रौढ़ है कि हम आज से शताब्दियों पीछे के भारत में उसके साथ विचरण करने लग जाते हैं। लोग विभिन्न अवसरों पर विभिन्न वस्त्राभूषण धारण करते थे तथा वर्ण और जाति के अनुसार लोगों के विशिष्ट वस्त्राभूषण भी थे। "अभिजात पुरुष और कुल स्त्रियाँ पर्व के योग्य और अपने वर्ण और वंश स्थिति के अनुकूल वस्त्राभूषण धारण किए थीं। ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े उष्णीष से सिर के केशों को बाँधे थे, उनके मस्तक पर श्वेत चन्दन का खौर था। क्षत्रिय स्वर्ण-खचित शुभ्र वस्त्र धारण किए थे, उनके कानों, कण्ठ, भुजा और कलायों पर रत्न जटित आभूषण थे, चुस्त अँगरखा। श्रेष्ठियो के वस्त्र बहुमूल्य परन्तु ढीले ढाले। गण परिषद् के सदस्य कंधों पर आजानु केशरी कंचुक धारण किए थे।" देश के अन्दर बौद्धों के मठ स्थापित थे जिन पर शासन का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था। उसके अन्दर एक मात्र शासन धर्माधिकारियों का ही था जिसमें उससे शरण पाए व्यक्ति को किसी अन्य पिछले अपराध के कारण दण्ड नहीं दिया जा सकता था। बौद्ध भिक्षु अपने धार्मिक नियमों के अनुसार ही वस्त्र धारण करते थे।

समाज में नारी और पुरुष के बीच इतना दुराव-छिपाव नहीं था। यौन पवित्रता को भी उतना अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। एक प्रकार से कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग दिखलायी पड़ता है। अभिजात कुल के लोगों द्वारा इतर जाति की स्त्रियों का भोग एक परम्परा के रूप में चला आ रहा था जिसके अनेक प्रमाण इतिहास में मिल जाते हैं। राजनर्तकी के उद्यान में सर्वसाधारण के जमघट का उल्लेख तो इतिहास में मिलता है, परन्तु शरद्

की पूर्णिमा के दिन लेखक ने राजनर्तकी 'मल्लिका' के प्रासाद में जो रास कराया है, वैसे रासों की चर्चा प्रायः इतिहास में कम आयी है। आज की पाश्चात्य सभ्यता में जिस प्रकार स्त्री और पुरुष मिलकर पर पुरुष के साथ भी रास करते पाये जाते हैं, वैसे 'दाल डांस' की प्रथा भारत में कभी नहीं रही। यौन स्वच्छन्दता का प्रमाण इतिहास में भले ही मिल जाय, किन्तु पति के सामने पत्नी और भाई के सामने बहन का हाथ पकड़ने वाले की गर्दन पर रक्तरंजित खड्ग होता था। भारतीय संस्कृति के अन्दर कभी भी ऐसी छूट नहीं थी जैसी यशपालजी ने दिखलायी है।

समाज के अन्दर वैयक्तिक समानता का बौद्धकाल में अत्यन्त अभाव था। मानव का मानव के प्रति भी कितना तिरस्कार हो सकता है, इसकी पराकाष्ठा भी उस समय की दास प्रथा के रूप में पहुँच चुकी थी। उस समय की दास प्रथा भारतीय संस्कृति की धवल कीर्ति की चादर पर लगा हुआ वह काला धब्बा है जो कभी भी धोया नहीं जा सकता। दासों के साथ स्वामियों का जो व्यवहार उस समय था वैसा व्यवहार पशुओं के साथ भी आज समाज में नहीं है। उपन्यासकार को इस दूषित प्रथा ने इतना द्रवित कर दिया है कि उसने तत्कालीन गण राज्यों के पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध को दिखलाने के लिए एकमात्र दास दासियों के क्रय-विक्रय का ही प्रसंग उठाया है। प्रत्येक गण राज्य की अपनी अलग-अलग मुद्रा होती थी और उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध भी स्थापित थे, इसे दिखलाने के लिए जिस विनिमय पद्धति की कल्पना लेखक ने की है निःसन्देह उस पर आधुनिक 'फारेन एक्सचेन्ज' का प्रभाव है। दासों के क्रय-विक्रय उसी प्रकार किए जाते थे जिस प्रकार आज विश्व-बाजार में तैयार वस्तुओं का क्रय विक्रय हो रहा है।

'प्रतूल' जो दास दासियों का थोक व्यापारी है 'दिव्या' को व्यापारी 'भूधर' के हाथ इसलिए बेच देना चाहता है कि इस गर्भिणी दासी का सौन्दर्य दिन-दिन घटता जायगा जिससे भविष्य में लाभ की सम्भावना भी जाती रहेगी। परन्तु भूधर का अनुभव भी उससे कम नहीं था। 'प्रतूल' ने उसे फँसाने के लिए जब दासी की प्रशंसा की "क्या तुम उसके अवयवों का लास्य तथा उसका चम्पाकली सा वर्ण नहीं देखते। गर्भिणी होने के कारण मलिन है तो क्या, यह नहीं देखते कि एक मूल्य में दो जीव पा रहे हो!' तो उसने स्पष्ट कह दिया 'मित्र! वही सब देख रहा हूँ। गोधन और अश्वधन नहीं, मनुष्य का ही व्यापार करता हूँ। उसकी जाति देखते हो ·····पर्यंक पर पली है। द्विज कन्या है। मित्र! गर्भिणी····· और वह भी प्रथम गर्भ।

तिस पर भी दीर्घ यात्रा। यदि फिसल गई तो बीस मुद्रा भी गए।" मानवता का इससे बड़ा पतन और क्या हो सकता है। पशुओं की भाँति सवा सोलह आने ठोक बजा कर मनुष्यों का क्रय-विक्रय होता था। भूधर के घर से पुरोहित चक्रधर के घर जाने पर 'दिव्या' की जो दुर्दशा हुई वह मानवता के पाप की अत्यन्त करुण कहानी है। दूध के लोभ में लोग गाय के बछड़े को भी जीवित रखना चाहते हैं परन्तु दासियों के पुत्रों का मूल्य उन बछड़ों के बराबर भी नहीं था। गाय बछड़े को स्तन देने के पश्चात् ही स्वामी को दूध देती है पर बेचारी दासी के शरीर पर तो सम्पूर्ण स्वामित्व क्रेता का ही होता है। पुरोहित पत्नी ने 'दिव्या' के पुत्र को इसलिए बेच देने का प्रस्ताव पास किया कि वह उसके लिए अपने दूध की चोरी करती है। नारीत्व और मातृत्व का इससे बड़ा और क्या अनादर हो सकता है? तत्कालीन समाज-शासन और धर्म-स्थानों में अनेक बाह्याडम्बर तथा थोथी मान्यताएँ वर्तमान थीं परन्तु उनकी जड़ में जो यह विषकीट लगा था उसकी ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। राज्य दासी को आत्महत्या करने से रोक सकता है, उस पर स्वामी की सम्पत्ति को हानि पहुँचाने का अभियोग लगा सकता है, समाज दास-दासियों का निर्माण कर सकता है, धर्मस्थान उसे अपनी शरण में लेने के पूर्व उससे पति तथा स्वामी की स्वीकृति की माँग कर सकता है परन्तु सब मिलकर उस दूषित प्रथा को रोक नहीं सकते? इसे न रोकने के कारण के मूल में थी शोषण की वृत्ति जिसे उपन्यासकार ने पकड़ा है। इस एक मूलबिन्दु को सामने रखकर लेखक ने सारी ऐतिहासिक परिस्थितियों की विवेचना की है।

जहाँ तक लेखक ने तटस्थ भाव से ऐतिहासिक सत्यों को चित्रित किया है, उसने आधुनिक समाज को एक अमूल्य वस्तु दी है परन्तु जहाँ कहीं उसका व्यक्तिगत आग्रह प्रधान हो उठा है, उसने हमें सम्भावित अनुभवों से वंचित रखा है। उपन्यास का एक मात्र 'मारिश' आरम्भ से अन्त तक भौतिक वादी दर्शन की व्याख्या करता जान पड़ता है। उपन्यासकार स्वयं कुछ न कहकर जो कुछ चाहता है, वह 'मारिश' के माध्यम से प्रस्तुत करता है। कलात्मकता के कारण उपन्यास की एक सूत्रता में व्यवधान तो नहीं आने पाया है, परन्तु दार्शनिकता का मेल लेखक तत्कालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों से नहीं करा सका है जो साधारण जागरूक पाठक को भी खटके बिना नहीं रह सकता। जिस भोग-वाद का समर्थन मारिश करता है उस काल में उसकी गंध भी नहीं थी। जितने भी तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्त थे सभी मोक्ष को प्रधान स्थान देते थे। जीवन की स्थिरता की ओर लोगों का कुछ भी आकर्षण नहीं था,

चाहे वह बुद्ध का निर्वाण हो अथवा वर्णाश्रम का मोक्ष। परन्तु 'मारिश' के अनुसार तो "दुःख की भ्रान्ति में भी जीवन का शाश्वत क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य भीरु पुरुष की आत्म प्रवंचना मात्र है, जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असन्दिग्ध सत्य है।" वह कला का कोई भिन्न अस्तित्व स्वीकार नहीं करता बल्कि उसे नारी की आकर्षण शक्ति का निखार मात्र मानता है और आकर्षण को ही नारी की सृजनात्मक शक्ति का स्रोत मानता है। इस प्रकार नारी का प्रधान रूप उसकी दृष्टि में सामाजिक भोग ही है जिससे सृष्टि की परम्परा आगे चलती है। यों तो यह मनोविज्ञान का प्रश्न है कि नारी का वास्तविक स्थायी स्वभाव क्या है, परन्तु ऐतिहासिक अर्जित अनुभवों के आधार पर कहा जा सकता है कि उसका प्रेम जीवन में एक बार और एक व्यक्ति से न मालूम क्यों और कैसे हो जाता है। जिस मांसल प्रेम और सन्तान ने 'दिव्या' को समाज के सामने कलंकित किया उसे जीवन की अनेक दम घुटा देने वाली दर्दीली गलियो से गुजरने के लिए बाध्य किया, वह किस प्रकार पुनः मारिश की व्याख्या से प्रभावित हो उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है। उसने 'रुद्रधीर' द्वारा दिया गया राजसी वैभव ठुकराया, 'पृथुसेन' द्वारा दिए गए मोक्ष को लात मारी जो अपनी ही भूलों और दिव्या के प्रति किए गए अपराधों के प्रायश्चित के फलस्वरूप भिक्षु हो गया था, जिसने जीवन के प्रथम उभार में ही एक दिन कहा था कि "दिव्ये! भय और त्रास से क्या लाभ। जीवन के दो क्षण पूर्णता से जीकर साहस से जीवन समाप्त कर दें" और "वह दिव्या को सान्त्वना देने के प्रयत्न में स्वयं दिव्या के शरीर की सजीवता में आश्रय ढूँढने लगा था। शिथिल दिव्या के मेरुदण्ड और कटि को उसने अपने प्रगाढ आलिंगन में और अधिक समेट लिया था। दिव्या के कंचुकों में बँधे उरोज उसके हृदय की धड़कन को आश्रय देने के लिए ही आगे बढ़ आए थे तथा उसके अवश हाथ दिव्या के उरोजों के नीचे स्पन्दित प्राणों की खोज में उसके कंचुक पर चंचल हो उठे थे" 'को छोड़ कर मारिश द्वारा दिए गए' सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता' की ओर बाहें फैला देती है, बात समझ में नहीं आती। इस संबंध में तो इतना ही कहा जा सकता है कि इसके लिए उपन्यासकार की अपनी दृष्टि ही उत्तरदायिनी है। उनके अनेक अन्य उपन्यासों के नारी पात्र भी अपने यौवन के असह्य भार को भोगवादी दार्शनिक पुरुष पात्र पर ही ला फेंकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक की ये ऐसी दुर्बलताएँ हैं जो उसके सारे कृतित्व पर पानी फेर सकती हैं।

परन्तु उपन्यासकार ने कथानक का संगठन तथा प्रासंगिक देश काल का

का वर्णन करने के लिए चल पड़ती है तो विलम्बित सजे वाक्यों की योजना बाणभट्ट की शैली का ही रूप धारण कर लेती है।

पाठकों को विश्वस्त बनाए रखने के लिए लेखक ने जिन प्रसंगों की योजना की है उससे तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण हो गया है। नउनिया की अवतारणा तथा पान वाली का चित्रण ऐसे ही सरस प्रसग हैं।

कुछ अन्य उपन्यास

रागेव राघव ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दों का टीला' मे गणतन्त्रात्मक राज्य विधान की समस्याओ को प्रकारान्तर से उठाया है और प्रस्तुत प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था का समर्थन उसे प्राचीनता की महानता प्रदान करके किया है। महापण्डित 'राहुल' ने भी अपने 'जय यौधेय' नामक उपन्यास में इस गणतन्त्र शासन प्रणाली का समर्थन किया है, परन्तु इनके उपन्यासों की ऐतिहासिकता इनके व्यक्तिगत सिद्धान्तो के भार से नष्ट हो गई है। 'यशपाल' और 'राहुल' दोनो ने ही आधुनिक मार्क्सवादी ऐतिहासिक व्याख्या को अपने उपन्यासों में समाहित किया है। यशपाल से भी अधिक यह प्रवृत्ति राहुलजी के उपन्यासो में पायी जाती है, जो ऐतिहासिक यथार्थता का गला घोंट देती है। ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी कल्पना का रंग वहीं तक चढ़ा सकता है जहाँ तक कि देश-काल की सीमाओं की मर्यादा नष्ट न हो। उसे तत्कालीन यथार्थता के आवरण में ही कुछ कहने का अधिकार है। वह 'कलिंग' के युद्ध में वायुयान तथा अणु बम आदि का प्रयोग दिखलाने का अधिकारी नहीं है और न तो वह कभी भी 'महाराणा प्रताप' को सूट-टाई में सजाकर सिगरेट पीते पार्क में टहलते हुए हल्दीघाटी' के युद्ध का प्लान बनाते हुए ही दिखला सकता है। ऐसा करने से उसकी सारी कृति पर पानी फिर जायगा और उसे यश के स्थान पर अपयश ही हाथ लगेगा।

जयशंकर प्रसाद ने एक अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' लिख छोड़ा था, जो अब प्रकाशित हो गया है। इतिहास का अवलोकन करने से इसकी अधिकाश घटनाये असंगत जान पड़ती हैं। अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि प्रसादजी इतने इतिहास मर्मज्ञ होते हुए भी इतनी असंगत और भद्दी भूलें कैसे कर बैठे। परन्तु हमें इसकी सगति और असगति का विवेचन करने का इसलिए अधिकार नहीं है कि वह अधूरा ही है। लेखक उसे न जाने किस रूप मे समाप्त करता, कौन कह सकता है। जहाँ तक ऐतिहासिक वातावरण का संबंध है इसमें आज से दो हजार वर्ष पूर्व मौर्य साम्राज्य के क्षय तथा शुंग वंश की

प्रारम्भ कालीन नष्ट भ्रष्ट संस्कृति तथा सामाजिक वातावरण का चित्र अत्यन्त ही यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है।

बलिदान

रघुवीरशरण मित्र

'बलिदान' के अन्दर रहमान, यूसुफ और सत्येन्द्र के बलिदान की कहानी है। जिन्होंने अपने जीवन का अन्तिम क्षण तक भारत की स्वतंत्रता के लिए दिया, और यदि आँसू बहाया तो भारत माँ की हीन अवस्था पर, नहीं तो हँस हँस कर फाँसी के तख्ते पर झूल जाना तो उनके लिए खेल था। इसके अन्दर, १९४२ ई० की क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजो ने किस प्रकार हिन्दू-मुसलिम के प्रश्न को उठा कर आयी हुई आज़ादी को पीछे ढकेलना चाहा था, की यथार्थ कहानी कही गयी है। पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर किस प्रकार देश को खंडित कर दिया गया और उसका क्या दुष्परिणाम हुआ, लेखक ने उसका अत्यन्त ही स्पष्ट नक्शा पाठकों के सामने उपस्थित कर दिया है।

उपन्यास में जिस घटना का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है, यदि लेखक ने पात्रों के नाम कल्पित न रखे होते तो उसे नोवाखाली और बिहार की घटी घटना मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति न होती। क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने कितनी करवटें लीं तथा देश के नेताओं ने किस प्रकार उन समस्याओ का धैर्य पूर्वक सामना किया, का बड़ा ही यथार्थ ऐतिहासिक चित्र लेखक ने उतारा है। जिन्ना के नेतृत्व में सर्वप्रथम मुस्लिम लीग ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इन्कार किया, जिसके बावजूद प० जवाहरलाल ने अन्तरिम सरकार को स्वीकार किया, आचार्य कृपलानी जो प्रथम विधान कमेटी के अस्थायी सभापति हुए और तत्पश्चात् राजेन्द्रबाबू स्थायी सभापति मनोनीत किये गए आदि अभी सच्ची ऐतिहासिक घटनाएँ हैं।

सन् १९४२ की क्रान्ति के पश्चात् भी देश में एक ऐसा दल सक्रिय रहा जो जानता था कि निकट भविष्य में हमें एक देश-व्यापी क्रान्ति पुन. करनी होगी, जिसमें सेना का भी सहयोग आवश्यक है और उसके लिए विदेशो से सहायता प्राप्त करने के लिए देश के कुछ राष्ट्रभक्त अत्यन्त ही सक्रिय थे। 'बलिदान' का शेखर ऐसे ही दल का नेता है। किस प्रकार उसने आगामी क्रान्ति का नक्शा तैयार किया, स्वयं सेनापति के यहाँ ड्राइवर बना और अन्त में क्रान्तिकारियों की असफलता का जो रूप हुआ करता है, वह शेखर का भी हुआ, वह संन्यासी हो गया। यद्यपि शेखर अत्यन्त कल्पित पात्र है, ऐतिहासिक

नहीं, फिर भी हमारे स्वातंत्र्य संग्राम का इतिहास शेखर जैसे अनेक, रासविहारी वोस तथा अरविन्दो के समान क्रान्तिकारियों की कृतियो से भरा है।

स्त्रियों के भी जितने चरित्र आये हैं वे अयथार्थ नहीं हैं। रागिनी, अरुणा, पूर्णिमा आदि राष्ट्रीय सग्राम में भाग लेने वाली वीर महिलाओं की प्रतिनिधि हैं। लेखक ने जितने प्रसग राजनैतिक रखे हैं, जैसे सभाओं आदि का होना, सभी इतिहास सगत हैं और उसमें नेहरू, गाधी, जयप्रकाश नारायण, पटवर्द्धन तथा नरेन्द्रदेव के नाम कथानुकूल ही रखे गये हैं।

यद्यपि उपन्यास की साजसज्जा से ऐसा लगता है कि लेखक का सकल्प ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का नहीं है फिर भी वर्तमान क्रान्तिकारी परिवर्तनों एवं प्रभाओं से वह इतना प्रभावित हो गया है कि उपन्यास में देशकाल, तत्कालीन वातावरण तथा राजनैतिक समस्याओ आदि का जो यथार्थ चित्रण हो गया है, वह भावो पाठकों के लिए ऐतिहासिक यथार्थ का ही महत्व रखता है।



बारहवाँ अध्याय

प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म)

प्रकृतवाद दर्शन शास्त्र के एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, जिसके अनुसार यह मान लिया गया है कि प्रकृति को प्रकृति में रह कर ही समझा जा सकता है। प्रकृति को समझने के लिए अन्य किसी उपादान की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को इसके अनुसार पूर्णतः प्रकृति का एक अंग माना जाता है। साहित्य के अन्दर निश्चित ही इसके प्रति धारणा अभी अस्पष्ट है। कुछ आलोचकों के अनुसार यथार्थवाद और प्रकृत वाद शब्द एक दूसरे के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। दोनों शब्दों में कोई तात्विक भेद नहीं है। यह शब्द साधारणतः (१) साहित्यिक कृतियों के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसके अनुसार प्रकृति के प्रति आत्मीयता तथा उसके सौन्दर्य के प्रति आस्था प्रकट की जाती है। (२) साहित्य को अधिक-से-अधिक प्रकृति के निकट आना चाहिये, यानी 'रूसो' के अनुसार 'पूर्व प्रकृति की ओर लौटने'[1] वाला सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिये। (३) मनुष्य के शारीरिक प्रसंगों की ओर अत्यधिक जोर डालता है तथा उसकी पशुओं से निकटता स्थापित करता है।

प्रकृतवाद रोमेन्टिसिज्म तथा आदर्शवाद का विरोधी है तथा मानवतावाद से भी इसका मेल नहीं खाता। साहित्य में कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जब कि यथार्थवाद और प्रकृतवाद एक दूसरे के समानान्तर होकर चलने लगते हैं। डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार प्रकृतवाद इसे स्वीकार करता है कि "मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार विकसित जन्तु है, जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी। उसमें पशु सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण ज्यों के-त्यों वर्तमान हैं। प्रकृतवादी लेखक मनुष्य को काम-क्रोध आदि मनोरोगों का गट्ठर मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणों, कामासक्त चेष्टाओं, अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है।"[2] यथार्थवाद प्रकृतवाद के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक पोषण नहीं करता बल्कि मनुष्य की ब्योरेवार चेष्टाओं का चित्रण करते-करते प्रकृतवाद के समानान्तर चलने लगता है। वस्तुतः यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद है और प्रकृतवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद है।

1—"Back to Nature." — Rossoue.

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी (हिन्दी साहित्य पृष्ठ २८, २९)

जब आदर्शवाद कल्पना के नाम पर काव्य को इस लोक से बहुत दूर खींच ले गया तो यही प्रवृत्ति भौतिक विज्ञान का बल लेकर योरोपीय साहित्य में 'प्रकृतवाद' के नाम से प्रकट हुई। यह वाद कार्यंत किसी प्रकार के साहित्यिक अलंकारो का, अथवा वस्तुओं या भावों में किस प्रकार के आदर्शीकरण का विरोधी है और इस बात का समर्थक है कि मनुष्य सभी बातो में पशु के समान है, विशेषकर रति के सम्बन्ध में यह अत्यन्त निम्न और पतित श्रेणी के लोगों के जीवन को अपना सर्वोत्तम विषय समझता है। इसे हम यथार्थ की पराकाष्ठा कह सकते हैं। जीवन के विषय में मूलतत्व को ढूँढ निकालना ही यथार्थवादी का मुख्य ध्येय रहता है। इसलिये उसमे दो बातें विशेष रूप से पायी जाती है। एक तो यह कि भद्दे-से-भद्दे और समाज द्वारा निषिद्ध विषयों का भी वह परित्याग नहीं करना चाहता, दूसरे वह अपनी वर्ण्य वस्तुओं की यथार्थता पर ही अधिक बल देता है और यथा सभव उन्हें ज्यो-का-त्यों पाठको के सामने रखना चाहता है।

बहुत से नीच प्रवृत्तियों के लेखक यथार्थ का दुरुपयोग कर उसे बहुत बदनाम कर देते हैं। उनका उद्देश्य सत्यान्वेषण नहीं होता, वरन् वे केवल जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का ही चित्रण करके पाठकों की पाशव प्रवृत्तियों का मनोरजन करना चाहते हैं। इसलिए यथार्थवाद अपने विकृत रूप में प्रकृतवाद का रूप धारण कर लेता है। यौन समस्याओं (सेक्स प्राब्लेम्स) का उतना ही रूप श्रेयस्कर है जो अपने सापेक्ष रूप में उचित और स्वस्थ हैं। 'तास्ताय' ने महान यथार्थवादी लेखको की शैली एवं परम्परा को नहीं अपनाया बल्कि अनेक सिद्धान्तों में उसका मतभेद ही रहा, परन्तु अन्य पुराने लेखको ने जो प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) का स्वस्थ एवं गम्भीर विरोध किया था, उससे उसने कभी भी अपनी असम्मति नहीं प्रकट की।

'फ्लावेयर', 'जोला' और 'मोपासा' घोर प्रकृतवादी लेखक थे। 'तास्ताय' के पूर्व रूसी और स्केन्डनेविया के लेखक जो कि 'तास्ताय' की प्रतिभा से घट कर थे, फिर भी उनकी कृतियों में कला के चिन्ह मिलते ही हैं, जो कला कि योरोपीय साहित्य में कुम्हला रही थी। परन्तु इनके चरित्रो मे शक्ति थी, आग्रह था और समस्यात्मक बुद्धि तथा उसके हल महान थे। उनके दृष्टिकोण रक्त से रजित तथा प्रवृत्ति क्रान्तिकारी थी। जिन लेखकों ने विद्रोही भावनाओं से प्रेरित होकर संसार का चित्र खींचना चाहा है, वे केवल उन घृणित सामाजिक वातावरणों का चित्रण कर सके हैं, जिनसे कि वे घिरे हुए

थे। इस प्रकार जिस यथार्थ की सच्ची झलक वे दे सके हैं, वह संकीर्ण प्रकृत-वादी हो उठी है।

'जोला' ने निर्भीकता पूर्वक स्वीकार किया है कि प्रत्येक साहित्यकार का यह कर्त्तव्य है कि वह जीवन के विश्वसनीय यथातथ्य चित्रों को चित्रित करे, चाहे वे कितने ही बुरे एवं भ्रष्ट क्यों न हों। जब वह मनुष्यों की कुरीतियों तथा रोगों का चित्र उपस्थित करे तो वह इतना तथ्य पूर्ण हो कि पाठकों को उसकी वास्तविकता में किसी भी प्रकार का सन्देह न हो। उसके अनुसार "लेखक का कर्त्तव्य है कि वह किसी भी वस्तु का जब चित्रण करने बैठे तो उसका विश्वसनीय एवं ठीक-ठीक चित्र उपस्थित कर दे, भले ही वे कुरूप तथा जीवन के गन्दे चित्र क्यों न हों। जब वह मनुष्यों की दुर्बलताओं तथा रोगों और नैतिक कमजोरियों का चित्र उपस्थित करने लगे तो उसे चाहिये कि वह किसी भी अंश का चित्र खींचना भूल न जाय जिससे कि पाठक को उसकी चित्रोपमता में सन्देह होने लगे[१]।"

प्रकृतवादी साहित्य जीवन को उसके वास्तविक नग्न रूप में उपस्थित करता है। वह किसी भी वस्तु को साहित्य के लिए गोपनीय नहीं समझता' जब कि दूसरी ओर शुद्ध कला के समर्थक अपने आस-पास के वातावरण से मुख मोड़कर दूरस्थ रहस्य की बातें करते हैं। इस प्रकार या तो हम कीचड़ में हैं, या बादलों में और हमारे लिए बीच का कोई तीसरा मार्ग ही नहीं मिल पाता।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रकृतवाद को यथार्थवाद के नाम पर विकसित हुई नवीन शैली माना है, "जिसमें क्रमशः जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव दिखलाई पड़ने लगा। सत्य और यथार्थ के नाम पर जो रचनाएँ प्रस्तुत की गई उनमें प्रायः विकृत और असतुलित चरित्रों की जीवन गाथा रहा करती थी[२]।" "प्रकृतवाद एक प्रकार से औपचारिक प्रवृत्तियों का साधन है जिसके द्वारा हम पड़े हुए बीच के प्रतिरोधों के विषय में उसकी सीमा तक सोचना

1. 'Zola proclaimed the duty of a writer to give a precise and faithful description of even the ugliest and most drab things of life without sparing the reader's susceptibilities when it comes to portraying human vices, deseases and moral deformities."

Tamara Motylera Soviet Literature and World Culture. p. 12

२. नन्ददुलारे वाजपेयी (आधुनिक साहित्य)

आरम्भ करते हैं तथा आधुनिक प्रतिक्रिया को साहित्य मे रखकर कला का रूप प्रदान करते है [१] ।"

"प्रकृतवाद के भीतर स्त्रियो के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख हो कर मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है तो उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बधनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है [२] ।"

मुख्यत प्रकृतवादी साहित्य जड़ विज्ञान की देन है। जड़ विज्ञान की प्रगति हो जाने पर मनुष्यो ने प्रकृति पर विजय करनी आरम्भ कर दी और ज्यों-ज्यों प्रकृति पर मानव को विजय मिलती गई, उसका विश्वास ईश्वरीय विधान की ओर से हटने लगा और नास्तिकता का जो इतना प्रचार बढ़ा उसका मूल कारण मनुष्य की यह विजय ही है। इसके साथ ही साथ दूसरी ओर नैतिकतावाद तथा मनोविज्ञान की भी प्रगति हुई, जिससे मनुष्य के अन्दर यह एक अपार जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि वह जाने कि मनुष्य के अन्दर अथवा जीवन मे वह कौन सा रहस्य छिपा है जिसके कारण वह ससार के अन्य जड पदार्थों से भिन्न है। जब कि ससार की सभी जड वस्तुएँ अधोगामिनी हैं, वे ऊपर से नीचे की ओर गिरती हैं, तब भी जीवाकुर नीचे से ऊपर की ओर बढता ही जाता है। जीव का जीव के प्रति आकर्षण भी अन्य ससार की जड़ वस्तुओ से भिन्न एक अनोखी वस्तु है। इन्हीं जिज्ञासाओ ने साहित्य में प्रकृतवाद को जन्म दिया।

प्रकृतवाद के अन्दर मनुष्य की आदिम वासनाओं तथा उसकी शारीरिक चेष्टाओं के प्रति विशेष आग्रह पाया जाता है। यह सिद्धान्त स्वाभाविक एव आवश्यक सत्य के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, परन्तु यह शक्तिशाली किन्तु कमजोर बनाने वाला विज्ञान है। यह समाज की निर्धारित परम्पराओ के बधन को स्वीकार नहीं करता बल्कि अपने शक्तिवेग से उसकी मर्यादाओं को अस्त-व्यस्त करके, प्राणी को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता है तथा आवरण में छिपी हुई रहस्य की वस्तुओ को वह सामने लाकर अपनी जिज्ञासु भावना को तृप्ति देना चाहता है। यह मनुष्य को, उसके मानवता के वास्तविक

---

1 Naturalism on the otherside of the formalistic coin, we begin to realize extent of the barriers modern reaction places in the path of the artist"

H Fast Literature and Reality, p 57.

२ जयशंकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १२२।

स्वरूप को नहीं देखना चाहता बल्कि, उसके कुत्सित एवं जघन्य प्रदेशों में ही इसका मन विशेष रमता है।

यही कारण है कि प्रकृतवादी लेखक वास्तविक चरित्र को भूल जाते हैं और एक भी ऐसे चरित्र का निर्माण नहीं कर पाते जो रीढ़ वाला हो, जो अपने सहारे खड़ा हो सके। सदैव मनुष्यों के, विशेष कर नारी के शारीरिक चीर-फाड़ में ही इनकी सारी शक्ति का अपव्यय होता है। मनुष्य की वासनाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि जरा सी सहलाहट पाकर झनझना उठती हैं। यही कारण है कि जो लेखक इन दुर्बलताओं के शिकार बन जाते हैं तथा इन्हीं कुत्सित प्रवृत्तियों के दास बने रहते हैं, वे कभी भी उत्तम साहित्य की सृष्टि नहीं कर पाते और जो भी इनका साहित्य सामने आता है वह बिल्कुल घासलेटी साहित्य होता है।

'मोपासा' का साहित्य प्रकृतवादी होते हुए भी जो घासलेटी साहित्य नहीं हुआ, उसका मूल कारण यह है कि जिस समय उसने अपनी रचनाएँ की उस समय जीव विज्ञान का साहित्य अपनी चरम सीमा पर था और वही युग का सत्य था। जिस साहित्यकार को युग के सत्य पर विश्वास नहीं होगा उसका साहित्य निम्न कोटि का न होगा, तो और क्या होगा? परन्तु हमारे हिन्दी साहित्य में जो इस कोटि की रचनाएँ हो रही हैं उनकी प्रेरक शक्ति युग सत्य नहीं, बल्कि उनकी दमित वासनाएँ तथा नारी के प्रति स्वच्छन्द रमण की अभिलाषा है। वे मानव से पशु बनना चाहते हैं। यही कारण है कि लेखक प्रकृतवाद के नाम पर साहित्य के अन्दर घृणा और कुत्सा का अशोभन प्रचार कर रहे हैं।

हिन्दी उपन्यासों के अन्दर शुद्ध प्रकृतवादी चित्रण बहुत कम मिलते हैं क्योंकि हिन्दी साहित्य के अन्दर उपन्यासों की सृष्टि किसी न किसी सामाजिक उद्देश्यों को लेकर ही की गयी है। केवल कला की दृष्टि से लिखने वाले लेखकों का अभाव ही है। परन्तु पाश्चात्य साहित्य में कला की जो विजय हुई है, उससे हिन्दी उपन्यास साहित्य बिल्कुल अछूता नहीं है। हिन्दी के उपन्यासकार भी अपनी योग्यता, रुचि एवं सामाजिक औचित्य के अनुसार जहाँ तक बन पड़ रहा है नवीन शैलियों की ओर आकर्षित जान पड़ते हैं। प्रकृतवादी शैली को लक्ष्य मान कर भले ही अधिक उपन्यास नहीं लिखे गये हैं, फिर भी अनेक ऐसे प्रमुख उपन्यासकार वर्तमान हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार प्रकृतवादी शैली का निर्वाह हुआ है।

प्रकृतवादी उपन्यासकार

चरित्र प्रधान उपन्यासों में कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिन पर प्रकृतवाद का प्रभाव स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने अपने 'आधुनिक

हिन्दी साहित्य का विकास' ग्रन्थ में चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा उग्र, इला-चन्द्र जोशी और चन्द्रशेखर पाठक को प्रमुख प्रकृतवादी उपन्यासकार के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु कुछ अन्य उपन्यासकार ऐसे और भी हैं जिनकी शैली घोर प्रकृतवादी है, भले ही वे प्रकृतवादी उपन्यासकार न हों। इस प्रकार के उपन्यासकारों में 'अज्ञेय' तथा 'यशपाल' के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि दोनों उपन्यासकार प्रकृत्या प्रकृतवादी नहीं हैं। "चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन प्रकृतवादियों ने न तो प्रकार-विशेष (टाइप्स) ही दिए और न आदर्श चरित्रों की अवतारणा की, वरन् इनके विपरीत ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जो पुकार-पुकार कर कहते हैं कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं, विशेष कर विषय-भोग की दृष्टि से ये पशुओं से भी निकृष्ट और नीच हैं[1]।" इन उप-न्यासकारों की रचनाओं में चरित्रों का निर्माण नहीं किया गया है, बल्कि मनुष्य रूप में पशुओं तथा समाज के कीड़ों का ही निर्माण किया गया है। उपन्यासों के लिये इन लोगों ने जो अपने लिए कथानक लिए हैं, वे समाज के निकृष्टतम समुदाय और जीवन के अत्यन्त घृणित और दूषित पक्षों से सम्बन्धित हैं। चन्द्रशेखर पाठक ने 'वारांगना रहस्य' में वेश्याओं के जीवन का नग्न चित्र उतारा है।

चतुरसेन शास्त्री

चतुरसेन शास्त्री के 'अमर अभिलाषा' नामक उपन्यास का कथानक विधवाश्रम से लिया गया है। इसमें भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती और बसती नामक छ विधवाओं की कहानियाँ हैं। लेखक ने यद्यपि अपनी रचना के द्वारा समाज के सामने इस समस्या को उसके वास्तविक रूप में रखकर, एक समाधान उपस्थित करना चाहा है परन्तु विधवाओं की दुर्दशा का जो खाका शास्त्रीजी ने खींचा है, वह यथार्थवाद की पराकाष्ठा को पहुँच गया है। चित्रण यथार्थ होते हुये भी कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो उठा है और उसमें अश्लीलता आ गई है। छजिया ने जब भगवती को 'हरगोविन्द' के कमरे में पहुँचा कर बाहर से दरवाजा बन्द कर लिया, तो लेखक को शेष घटनाओं का चित्र संकेतों द्वारा करा देना चाहिए था। परन्तु वैसा न करके लेखक ने अवांछित सविस्तर वर्णन उपस्थित किया है। यों तो स्त्री और पुरुष सभी साड़ी तथा धोती के नीचे नंगे ही हैं, परन्तु समाज की मर्यादाओं ने उन पर आवरण डाल रखे हैं और उन आवरणों की सीमा प्रत्येक सभ्य कहलाने वाले समाज को माननी ही चाहिए। उसको यह कभी भी न भूलना चाहिए

१—डा० श्रीकृष्ण लाल 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृ० ३१५–३१६।

कि वह पशु नहीं है, बल्कि सभ्य, सुसंस्कृत मानव है। और जब कि यह उपन्यास स्त्रियों के लिये लिखा गया है तो, इसके अन्दर अवांछित कुरुचिपूर्ण चित्रों का बहिष्कार तो अति आवश्यक है।

पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र'

पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र' का 'दिल्ली का दलाल' नामक उपन्यास शुद्ध प्रकृतवादी शैली का प्रतीक है। इसे हम घोर प्रकृतवादी उपन्यास कह सकते हैं। इस उपन्यास के अन्दर जिस नग्न वास्तविकता का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, वह किसी भी श्रेष्ठ साहित्य के लिए वांछनीय नहीं। इसमें उन नर पिशाचों का यथातथ्य चित्रण मिलता है, जो स्त्रियों का कुत्सित व्यापार करते हैं। 'उग्र' जी ने अपने इस उपन्यास के द्वारा अनेक कुरुचिपूर्ण पाठकों के हृदय में सम्मानित स्थान अवश्य प्राप्त किया, परन्तु इसके लिए उन्हें आलोचकों की कम बौछारें नहीं सहनी पड़ीं। और इन्हीं बौछारों का परिणाम यह है कि 'चन्द हसीनों के खतूत' तथा 'दीवाचा' आदि में उन्हें साहित्यिक संयम का पालन करना पड़ा है, और 'जीजी जी' में आकर तो 'उग्र' जी में महान परिवर्तन उपस्थित हो गया है। जिन्होंने 'दिल्ली के दलाल' में भले घर की भोली युवतियों तथा बालिकाओं के बहकाने, फँसाने, उड़ाने तथा सताने आदि के हथकंडों का विशद एवं रोमांचकारी अपूर्व चित्रण किया था, उन्होंने ही 'जीजी जी' नामक उपन्यास को, जिसकी कहानी पूर्णरूपेण यथार्थवादी है, आदर्शवाद के छोर पर पहुँचा दिया।

इलाचन्द्र जोशी

इलाचंद्र जोशी के उपन्यास यद्यपि मूलतः मनोविश्लेषणात्मक हैं, परन्तु कथा के प्रसार के लिए उन्होंने जो ढंग अपनाया है, और उसके कारण जिन चरित्रों का उन्होंने निर्माण किया है, उनके चरित्रों का यदि मूल्यांकन किया जाय तो वे प्रकृतवादी ही ठहरते हैं। इनके 'घृणामयी' की शैली प्रकृतवादी ही रही है। 'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास में निरंजना नामक बालिका जिसकी माता वेश्या थी, जिसने मरते समय अपनी पुत्री को मनमोहन नामक एक व्यक्ति को संरक्षण के लिये दे दिया था, सोलह वर्ष की अवस्था तक तो वह सभ्य बालिकाओं की भाँति लालित-पालित होती रही, परन्तु सोलह वर्षोपरान्त उसके रूप और यौवन के ऊपर मनमोहन के पुत्र इन्द्रमोहन की लोलुप दृष्टि पड़ी जो विलायत से लौट कर आया था। इन्द्रमोहन ने होटल में, जब कि शराब के नशा से वह उन्मत्त हो रहा था, जबरदस्ती 'निरंजना' के शरीर को अपनाने का प्रयत्न

किया और इतना ही नहीं, उन्हीं दिनों मनमोहन ने भी उसके सामने अश्लील प्रस्ताव किया, जिसे उसने लड़की की भाँति पाला था।

'निरजना' जब छात्रावास में चली जाती है तो पुन: इन्द्रमोहन और उसके बीच स्वाभाविक प्रेमांकुर उगता है। परन्तु 'निरजना' अपनी अभिन्न हृदया सखी 'शीला' के प्रति विश्वासघात नहीं करना चाहती। 'शीला' इन्द्रमोहन को प्यार करती थी। परन्तु इन्द्रमोहन 'निरजना' से झूठ बोलता है कि 'शीला' की मृत्यु हृदय गति बंद हो जाने से हो गई और इस प्रकार इन्द्रमोहन की अवरुद्ध वासना को अवसर मिला तथा कूटनीति को सफलता मिली। इन्द्रमोहन की वासना संयम को इतना अधिक खो चुकी थी कि उसने नैपाल जाते हुए रेलगाड़ी में ही निरजना का आलिंगन किया और उसका कौमार्य नष्ट करके ही छोड़ा। इस प्रकार जोशीजी ने रति के सम्बन्ध में मानव और पशुओं में कोई अन्तर नहीं रहने दिया है।

यशपाल

आधुनिक प्रकृतवादी उपन्यासकारों ने जिस पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की, उसमें इतना चटपटापन था कि हिन्दी के नवोदित उपन्यासकारों को उधर आकर्षित होते देर न लगी और उस नग्न यथार्थवाद के आधार पर नवयुवक हिन्दी लेखक उसके बाह्य रूपाकृति पर भवन निर्माण करने को कमर कस कर खड़े हो गए। 'यथार्थ' को बहुत दूर खींच लाकर जो अर्थ लगाया गया उससे कम अनर्थ नहीं हुआ। यथार्थ का बिल्कुल ही एकांगी अर्थ लगाकर उसे निम्न जीवन की नग्न वास्तविकता, अश्लीलता आदि का पर्याय समझा गया और इनके फलस्वरूप हिन्दी में जिस गरमा-गरम साहित्य की सृष्टि हुई उसने साधारण जनता और विशेषतया युवकों को खूब रिझाया, खूब ललचाया।' पुरुष और स्त्री के बाह्य रूप तथा उसके आकर्षक एवं उत्तेजक सौंदर्यों के चित्रण में ही इन लेखकों का मन अधिक रमता है और वे चरित्रों का विकास मुख्यत परिस्थितियों के झुकाव और प्रगति के आधार पर ही कराते हैं।

आधुनिक लेखकों में 'यशपाल' एक ऐसे उपन्यासकार हैं जो रति-स्वातंत्र्य के पूर्ण समर्थक जान पड़ते हैं, परन्तु उनके ऊपर एक विशिष्ट सिद्धान्त का इतना अधिक बोझ है कि अन्य चित्र उभड़ नहीं पाये हैं, बल्कि वे गौण होकर ही रह जाते हैं। उन्होंने 'दादा कामरेड' नामक उपन्यास में 'शैला' और 'हरीश' को लेकर जो प्रसंग उठाया है वह इसी प्रकार का है। 'शैला' अपना जीवन-चरित्र स्वयं बतलाती है कि किस प्रकार उसका एक सरकारी अफसर के लड़के से प्रेम हो गया था, जिसके हाथों वह समाज के भय से ठगा

की पुड़िया खाकर मरने से बची। समाज में इस प्रकार के अनाचार मिल अवश्य जाते हैं, परन्तु इनका यथार्थ चित्रण साहित्य के अन्दर अशोभन सा ही लगता है। 'हरीश' का 'शैला' से यह प्रस्ताव कि वह उसे नंगी देखना चाहता है, मनोविश्लेषणात्मक कलाकारों की दृष्टि से भले ही उपयुक्त हो, क्योंकि इनके अनुसार नारी को उसके प्राकृतिक रूप में देख लेने से आसक्ति के स्थान पर अनासक्ति ही बढ़ती है, परन्तु आवरण-हीना 'शैला' के शरीर को देखकर 'हरीश' के मन में अनासक्ति का भाव नहीं उठता, बल्कि वे दोनों एक दृढ़ प्रेम बंधन में बँध जाते हैं तथा विवाहित न होने पर भी दोनों का शारीरिक सम्बन्ध भी हो जाता है। एक श्रेष्ठ साहित्य के लिए इस प्रकार के चित्र वांछनीय नहीं हैं।

अज्ञेय

'अज्ञेय' जी का एक उपन्यास 'नदी के द्वीप' थोड़े दिन होता है निकला है, जिसको लेकर विद्वानों में अनेक प्रकार की चर्चाएँ चल रही हैं। किसी के अनुसार इस उपन्यास में उपन्यासकला की चरम सीमा है तो किसी को इसका गद्य ही अनूठा लगता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह उपन्यास मनोविज्ञान को लक्ष्य मान कर लिखा गया है, जिसकी चर्चा हम अन्यत्र करेंगे और इसमें नवीनतम शैली का सफल निर्वाह भी हुआ है। सब कुछ होते हुए भी हमें इसके अन्दर वर्णित घटनाओं एवं चित्रों को देखर अधिक प्रसन्नता नहीं होती। लेखक को चाहिये था कि उसने वस्तु विस्तार तथा चित्रोपमता के लिए जिस शैली को चुना है, उसमें भी अपनी कलात्मकता का परिचय देता। 'अज्ञेय' जी ने तो ऐसे कोनों तक को भी झाँक डाला है, जहाँ छोटे छोटे बच्चे खेल किया करते हैं। 'हेमेन्द्र' जब अपनी मलयम मेम का जिक्र करता है और कहता है कि "औरत दुनिया की मुसीबतों की जड़ है, लेकिन उसके बगैर रहा नहीं जाता।" तो 'चन्द्र' आँख मारते हुए कह उठता है "दोस्त, सुना है तुम्हारा काम तो उसके बगैर भी चल जाता है।" स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रसंग यदि स्वाभाविक होने के कारण अश्लील भी हो तो क्षम्य है, परन्तु पुरुष का पुरुष के प्रति अनैतिक आकर्षण समाज के लिये चिन्ता की वस्तु है।

काश्मीर के तम्बू में 'भुवन' जब 'रेखा' के सामने पराजित हो जाता है तो उस प्रणय प्रसंग को लेखक संकेतों के द्वारा अच्छी प्रकार चित्रित कर सकता था, परन्तु वैसा न करके वह अति नग्नवादी हो जाता है। "कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा''सहसा वह चौंका। झीने रेशम

के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे जैसे छोटे-छोटे हिम पिंड ·····" "सहसा रेखा ने बाहें बढ़ा कर उसे खींच कर छाती से लगा लिया, उसके दाँतो का बजना बन्द हो गया क्योंकि दाँत उसने भींच लिये थे, भुवन को उसने इतनी जोर से भींच लिया कि उन छोटे-छोटे हिम पिंडों की शीतलता 'भुवन' की छाती में चुभने लगी। फिर स्निग्ध गरमाई आई ' रेखा की बन्द पलकें नये ताँबे-सी चमक रही थीं।"

दूसरी बार भुवन लौट कर जब रेखा से मिसेज ग्रीव्ज के स्थान पर मिला जहाँ उसने नौकरी कर ली थी, तो निकट आ जाने के पूर्व बैठे-ही-बैठे "वहीं से उसने बाहें बढ़ाईं कि भुवन लपक कर पहुँच गया, एक बाँह से उसने रेखा को घेर लिया और कुर्सी की बाँह पर अध-बैठा होते-होते उसे खींच कर अपने से लगा लिया, उसके माथे पर गाल टेक कर स्तब्ध रह गया, रेखा के दिल की धड़कन उसकी जाँघ पर बहुत हल्का-हल्का ताल देने लगी।" इस प्रकार के कामुक एवं उत्तेजक चित्रों से समाज के संयम को बहुत बड़ा आघात पहुँचेगा। इसे पढ़ कर रक्त और मांस पिंडों से बने हुए युवकों का रक्त गरमाने से कभी भी नहीं रुक सकता और वे समाज की मर्यादाओं को तोड़ने का सशक्त प्रयत्न करेंगे जिसका परिणाम होगा कि भ्रष्टाचार बढ़ेगा तथा हम मनुष्य रूप में पशुओं से कुछ अधिक नहीं ठहरेंगे।



तेरहवाँ अध्याय

अतियथार्थवाद (सररियलिज़्म)

साहित्य में यथार्थवाद की अभिव्यक्ति जब समाज की मर्यादा एवं परम्परा की सीमाओं का अतिक्रमण करके अत्यन्त ही नग्न रूप धारण कर लेती है तो उसे अतियथार्थवाद (सररियलिज़्म) कहते है । इसे हम एक प्रकार से प्रकृत-वाद की चरम अभिव्यक्ति कह सकते हैं । प्रकृतवादी साहित्य की अभिव्यक्ति जिस स्थान पर अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होती है, अतियथार्थवादी साहित्य उसी स्थान से अपनी अभिव्यक्ति आरम्भ करता है परन्तु प्रकृतवाद और अतियथार्थ-वाद में मौलिक अन्तर है । प्रकृतवाद यथार्थवाद की चरम अभिव्यक्ति है, परन्तु सररियलिज़्म के अन्दर लेखक उन स्वप्निल तत्वों का तद्वत् चित्र उतारता है, जो उसकी कल्पना में आते हैं । इसका विकास मुख्यतः मूर्तिकला के माध्यम से हुआ है । मनुष्य के अन्दर विलास की प्रवल अग्नि धधकती रहती है, वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने विलास की वस्तुओ को प्राप्त करने का प्रयत्न किया करता है तथा उन वस्तुओं का भरपूर आनन्द उठाना चाहता है। परन्तु यह कभी भी न भूलना चाहिए कि अतियथार्थवाद एवं मानवतावाद में कोई साम्य है, क्योकि मानवतावादी भी अपनी सारी इच्छाओं की तुष्टि इसी जीवन में कर लेना चाहता है तथा सृष्टि की सभी वस्तुओं को मनुष्य के उपभोग के लिए बनी हुई मानता है । परन्तु मानवता-वादी लेखक मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का जीव समझता है और वह यह मानता है कि बहुत सी पशु सुलभ प्रवृत्तियों के होते हुए भी मनुष्य पशु नहीं है । परन्तु अतियथार्थवादी लेखक पशु-सुलभ बहुत सी सुविधाओं के प्रति ईर्ष्यालु होता है और प्रधानतः रति-सम्बन्धी सुविधाओं में तो वह पशुओ के समान सुविधाओं को प्राप्त करने या कराने का हामी हैं ।

अतियथार्थवादी लेखक मनुष्य के अवचेतन मन पर विशेष जोर देता है । केवल काव्य में ही नहीं बल्कि चित्रकला में भी इस मत का प्रकाश अतियथार्थ-वाद के नाम से हो रहा है । इस प्रकार के चित्रकारो ने अवचेतन मनकी दोहाई देकर कला और साहित्य के चित्रों को दुर्बोध बना दिया है । समालोचकों ने अवचेतन मन की विलास लीला को ही अति यथार्थवाद या 'सररियलिज़्म' के नाम से अभिहित किया है । हमारी आन्तरिक प्रवृत्तियो का संघर्ष बराबर

साहित्य के अन्दर कहीं भी ऐसे अश्लील चित्र नहीं आ सके हैं, जिनसे कि मानव की सुरति कामनाओं को सहलाहट मिले और उसका मन वासना की तृप्ति के लिए आकुल हो उठे। परन्तु विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आ जाने के कारण सामाजिक सीमाएँ कुछ टूटती सी जान पड़ती हैं। अश्लील एवं नग्न चित्रों का जितना आधिक्य अमेरिकी साहित्य के अन्दर है उतना किसी भी साहित्य से नहीं। अमेरिकी सभ्यता और संस्कृति से भारतीय सभ्यता और संस्कृति में महान अन्तर है। किसी भी देश की सामाजिक परम्पराएँ उस देश की स्थिति और जलवायु को लेकर ही बनती हैं। क्योंकि जो चुम्बन और आलिंगन एक ठंडे प्रदेश के निवासियों के लिए किसी भी प्रकार का मानसिक उत्पीड़न नहीं पैदा कर सकता वहीं एक चुम्बन भारत ऐसे गर्म देश के निवासियों का सर्वस्व लूट सकता है।

घेरे के बाहर

इस प्रकार के उपन्यास एवं उपन्यासकारों को समाज एवं साहित्य की ओर से किसी भी प्रकार का समादर नहीं मिला, नहीं तो हिन्दी उपन्यासों में भी ऐसे साहित्य का अभाव नहीं होता। आज भी हम स्टेशन की दुकानों में 'कुशवाहा कान्त' ऐसे उपन्यासकारों की कृतियों को चाव से ढूँढने वाले अनेक मनचले युवक और युवतियों को देख सकते हैं। परन्तु साहित्य के अन्दर उनके स्थान न पाने के कारण, वे हमारे विवेच्य विषय की कृतियाँ नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न बिल्कुल हुए ही नहीं। अभी-अभी करीब सात वर्ष हुए दिनांक २०–१०–४७ को द्वारिका प्रसाद एम० ए० नामक एक साहसी युवक ने 'घेरे के बाहर' नामक अपना एक वृहद् काय सात रुपये मूल्य का उपन्यास प्रकाशित कराया है। यद्यपि बिहार की प्रांतीय सरकार ने उसके वितरण एवं पुनर्प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया है, फिर भी वह अपनी विशिष्ट प्रियता के कारण कुछ घरों में सुरक्षित है। जहाँ तक इस उपन्यास के कथानक एवं इसकी कला का प्रश्न है, इसमें कथानक नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। इसके अन्दर कुमार नामक एक युवक की उसकी पत्नी प्रेमलता एवं चचेरी बहन 'नीरा' के साथ चलने वाली काम क्रीड़ा की कहानी है। लगभग छ सौ पृष्ठों का उपन्यास 'नीरा' को ससुराल से मयके लाने तथा उसका भैया 'कुमार' से गुप्त अभिसार कराने में समाप्त कर दिया गया है। नीरा की झूठी आत्महत्या की व्यवस्था करने तथा कुमार को चिर सम्बन्ध विच्छेद करने का पत्र दिलवाने में उपन्यासकार ने अवश्य ही अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है। सम्पूर्ण उपन्यास

पढ़ लेने से ऐसा लगता है कि उपन्यासकार चाहता है कि मनुष्य को उसके वास्तविक रूप में चित्रित कर दे, भले ही वह यथार्थ चित्र उपस्थित करते समय स्त्री पुरुष के रति तथा अभिसार आदि को लेकर उठने वाले घातों-प्रतिघातों के अन्दर ही उलझ कर रह गया है।

वास्तविक जगत के यथार्थ से साहित्य का यथार्थ सर्वथा भिन्न हुआ करता है, इसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये। मानव कल्याण के लिए संसार की कितनी ही वास्तविक, स्वाभाविक एवं सत्य वस्तुओं पर पर्दा डालना पड़ता है। स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक आकर्षण, रूप की चोट खाकर सामाजिक संबंधों की सीमा लाँघ जाता है, जैसा कि उपन्यासकार का मत जान पड़ता है, सत्य है, परन्तु सामाजिक सीमा का उल्लंघन क्या अव्यवस्थित समाज में व्यक्ति के स्थायी सुखों को सुरक्षित रख सकता है। यदि उपन्यासकार का यह विश्वास हो कि बुराइयों को दूर करने के लिए बुराइयों को खोलकर सामने रख देना ही अनिवार्य है, तो यह उसका एक मात्र भ्रम है। यदि वह पाठक रूप में एक बार एकान्त में बैठकर इस उपन्यास को पढ़ भी ले तो अवश्य ही उसे ज्ञात हो जायगा कि अश्लील चित्रों को पढ़ने से बुराइयों के प्रति कितनी घृणा होती है। घृणा तो क्या होगी? मानव की दमित वासनाएँ स्वतंत्र होने के लिए तड़फड़ाने अवश्य लगेंगी। उपन्यासकार चैलेंज करता है कि यौन पर से अगर हर प्रकार का प्रतिबन्ध हटा लिया जाय तो समाज में व्यक्ति का जीवन और भी सुखमय हो जायगा, परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि विश्व के किसी भी समाज में कुछ-न-कुछ ऐसी मर्यादायें होती हैं जो सबमें अनिवार्य रूप से मान्य हैं। आज की दुनिया में सबसे अधिक सभ्य कहलाने वाले लोग भी अपने प्रत्येक कार्य समाज को दिखला कर ही नहीं करते, अब भी वे पशु सुलभ स्वतंत्रताओं से वंचित हैं।

भले ही रति सम्बन्धी उनकी स्वतंत्रताएँ समाज में मान्य है फिर भी हम उन्हें कभी भी जानवरों की भाँति चौराहों पर रति करते नहीं देखते, उन्हें भी अन्य लोगो की निगाहो से बचना होता है। जब हम अपने सभी कार्यों को प्रत्यक्ष रूप में नहीं करते, तो उसे साहित्य में लाने के लिए क्यों उत्सुक हैं, बात समझ में नहीं आती। इसे सारा समाज जानता है कि पति और पत्नी अपने अभिसार काल में खुलकर छेड़-छाड़ करते हैं, स्त्री का पति से यह पूछना कि "विवाह के पहले तुमने कितनी लड़कियों को लिया है।" स्वाभाविक है। पर जब पति और पत्नी दुनिया की आँख बचा कर ऐसी बातें करते हैं तो उन्हें साहित्यिक पृष्ठों पर अंकित करने से समाज का कौन-सा हित हो जायगा?

स्त्री-पुरुष के सम्भोग का अर्थ ही होता है, एक दूसरे को आत्मसात् कर लेना। जब एक दूसरे का रक्त मिल गया तो दोनों के बीच किसी को रहने का अधिकार वैसे ही नहीं रह जाता, फिर भी उपन्यासकार जब इसका ब्योरेवार वर्णन करने लग जाता है, तो हम यही कह सकते हैं कि वह अपनी मानसिक कुत्साओं का आनन्द लिख कर ही उठा लेना चाहता है। 'नीरा' और कुमार के कामुक मिलन को संकेतों द्वारा भली प्रकार प्रकट किया जा सकता था, परन्तु ऐसे अवसरों पर लेखक की विवरणात्मक प्रतिभा और भी मुखर हो गई है। जैसे— "उसने हाथ में गरम-गरम नंगी छाती ले ली और जोर से मलने लगा। कुमार ने नीरा के हाथ पैर छटपट करते रहने पर भी उसे चित कर दिया और ऊपर चढ़ बैठा। साड़ी हटी, जाँघों पर जाँघ जा रही, छाती से-छाती मिल गयी और होठों-से-होठ। मेरा मन तुम्हारे मन को पा गया और सारा शरीर तुम्हारे सारे शरीर को, अनावृत, नग्न शरीर को लेगा। कुमार के हाथ ने साड़ी को खींच कर पायताने फेंक दिया। तब आई बारी साये की। कुमार ने उसकी नीव पर हाथ दिया और नीरा ने उसके दूसरे छोर को पकड़ लिया कुमार ने जोर से नीव को खींचते हुए कहा, 'नीरा खोल दो नहीं तो साया फाड डालूँगा '"फाड डालो' कह कर नीरा खुद साये का बन्धन खोलने लगी। रस्सी सरक गई। कुमार भी निरावरण था।" इस प्रकार के चित्रों को पढ़कर कभी भी विकर्षण नहीं हो सकता बल्कि आकर्षण ही होगा और जिसका परिणाम यह होगा कि समाज में अनाचार और भ्रष्टाचार फैलेगा।

यह सत्य है कि मनुष्य के अन्दर कामवृत्ति अन्य वृत्तियों से अधिक सजग रहती है। परन्तु वह इतना अधिक कामी नहीं होता जितना कि उपन्यासकार ने कुमार को दिखलाया है। काम तृष्णा की भी सीमाएँ होती हैं। वह भी समय, शक्ति और स्वास्थ्य के अनुसार गतिशील होता है। कुमार ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य नहीं बल्कि काम की पाषाण प्रतिमा है जो शिथिल होना जानता ही नहीं। वह जब भी अवसर पाता है अपनी पत्नी की आँख बचा कर नीरा के साथ सम्भोग करने लग जाता है। इतना ही नहीं बल्कि, तुरन्त ही उसे छोड़कर पत्नी के साथ भी रति क्रिया में लीन हो जाता है, जो अत्यन्त अस्वाभाविक है। किसी भी प्रकार की पत्नी क्यों न हो वह कभी भी नहीं चाह सकती कि उसका पति अन्य सुन्दरी के साथ रमण करे, परन्तु 'प्रेमलता' कुमार को नीरा से प्रेम करने में हर प्रकार से सहायता पहुँचाती है। इस प्रकार के अनेक अश्लील एवं अस्वाभाविक चित्रों से वह उपन्यास भरा पड़ा है।

यह उपन्यास न होकर कामशास्त्र हो गया है जिसमें रति सम्बन्धी अनेक आवश्यक बातों से पाठकों को विज्ञ कराया गया है। स्त्रियाँ किस बार का सम्भोग अधिक पसन्द करती हैं, यह बताना उपन्यासकार का कार्य नहीं है। उसे यह लिखने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है कि "इसलिये प्रायः कहा जाता है कि द्वितीय बार का सम्भोग स्त्रियाँ ज्यादा पसन्द करती हैं।" उपन्यास के लक्ष्य और काम शास्त्र के लक्ष्य बिल्कुल भिन्न हैं। इसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये।

लेखक सत्यतः समाज के 'घेरे से बाहर' चला गया है। यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव ने भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं की जड़ों को हिला दिया है फिर भी भाई बहन में यौन सम्बन्ध ? नाम सुनकर समाज अब भी सिहर उठता है। कुमार और नीरा चचेरे ही भाई बहन सही परन्तु समाज के सामने एक दूसरे को बहन और भैया कह कर सम्बोधित करते हैं। भाई और बहन शब्द के पीछे कितनी बड़ी सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक शताब्दियों की परम्परा लिपटी हुई है, उसे दोनों अवश्य समझते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि इसी पवित्र आवरण के पीछे ही छिप कर हम सम्मान पूर्वक अपनी काम पिपासा तृप्त करते हैं। उपन्यासकार का भले ही परोक्ष संकेत इसमें छिपा हो कि यदि युवक भाई और युवती बहन हो तो भी एक दूसरे को दूर-दूर रहना चाहिए क्योंकि नारी और पुरुष का स्वाभाविक प्रबल आकर्षण शब्दों की सीमा नहीं स्वीकार करता। परन्तु इस प्रकार के चित्रों को उपस्थित करने में यह भी सम्भावना रहती है कि बहुत सी ऐसी बुराइयाँ हैं जिनसे समाज बिल्कुल अपरिचित है, जिससे उनसे सहज ही बच जाता है। परन्तु जान लेने पर बुराइयों के होने की अधिक सम्भावना रहती है।

जहाँ तक हो सके साहित्य के अन्दर अश्लील और गंदी बातों का तिरस्कार करना चाहिए। साहित्यकार को मधु की मक्खियों की भाँति गंदी वस्तुओं से अपने मधु जैसे साहित्य की सृष्टि करनी चाहिये, उसे गंदी वस्तुओं को नहीं बल्कि उनमें से मधु को ही अपनाना चाहिए।

चौदहवाँ अध्याय

समाजवादी यथार्थवाद

'समाजवादी यथार्थवाद' के मूल में जीवन को गतिशील रूप में चित्रित करने की अभिलाषा निहित है। यह जीवन के क्रमिक विकास तथा व्यक्ति और समाज के भाग्य सूत्रों का सम्मिलित एक ऐसा चित्र उतारना चाहता है, जो विस्तृत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की विपरीत दिशा की ओर उन्मुख हो। समाजवादी यथार्थवाद सामाजिक विषमताओं के मूल कारण को पहचान कर, उन्हें विनष्ट करने का प्रतिक्रियात्मक हल प्रस्तुत करता है। इसके अन्दर ऐसे समाजों का चित्र उपस्थित किया जाता है जो उपेक्षित, निम्न श्रेणी के हो तथा जीवन-यापन के लिए प्रस्तुत अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष कर रहे हो।

रूसी राज्यक्रान्ति के वाद साहित्य को मार्क्सवादी संकेतों पर चलने के लिए वाध्य किया गया और नये समाज के निर्माण हो जाने पर रूसी विचार के समर्थकों ने एक नये वाद का नाम गढ़ा, वही था 'समाजवादी यथार्थवाद' (सोशलिस्टिक रियलिज्म)। राज्य की योजनाओं का समर्थन साहित्यकारों से कराया गया और उन्हें प्रचार का माध्यम बनाया गया। साहित्य की कोई अपनी सत्ता वहाँ न रह गई जिससे उसमें स्थायित्व वहुत कम है। समाजवाद अभी अपनी आरम्भिक स्थिति में है, जितनी अवस्थाओं से नवजात शिशु आगे वढ़ता है, वैसी ही स्थिति इसकी है। फिर भी इसमें इतनी योग्यता है कि इसकी जाँच पड़ताल की जाय।

'पूँजीपतियों के यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद में अन्तर है, एक स्पष्टत स्थायी रूप से सीमित है, दूसरा सम्भावित रूप से सीमित नहीं वल्कि गतिशील है और इतना इसके विषय में और जान लेना आवश्यक है कि यह दलगत साहित्य नहीं है और न इसका किसी राजनैतिक संस्थाओ से ही सम्वन्ध है वल्कि दूसरे शब्दों में व्यापक दृष्टिकोण से एक प्रकार की ग्राहकता तथा विशेष दृष्टिकोण है[1]।'

---

1 "There is a difference between bourgeois and socialist realism, the one is fairly rigidly limited, the other is potentially unlimited And again it must be repeated that this is not

साहित्य का पहला अंग है भाव, जिसके लिए कल्पना का योग अपेक्षित है, और ऐसी कल्पना जो अनुभूति के आधार पर खड़ी हो। साहित्य काव्य है इतिहास नहीं। इसमें हृदय को स्पन्दित करने की शक्ति होती है। साहित्य में उन उच्चतम भावों की व्यंजना होती है, जो समाज को उन्नतिशील बनाने में सहायक भी होते हैं। अतः विशिष्ट भावों की व्यंजना करने का साधन काव्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या काव्य के द्वारा विशेष साम्प्रदायिक मतों के आचार विचार का प्रचार करना ठीक है। काव्य के उद्देश्य और प्रचार में महान अन्तर होता है। साहित्य लोक मंगल की भावनाओं का अनुभव करता है और प्रचार अपने मत विशेष का विज्ञापन तथा अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करता है। आचार्य मम्मट ने काव्य रचना को यश, अर्थ, व्यवहार कुशलता, अनिष्ट से रक्षा तथा तत्कालीन आनन्द की प्राप्ति और उद्देश्य कहा है।

मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करती है बल्कि उसे समाज के विकास में एक अस्त्र के रूप में ही स्वीकृत करती है। इस प्रकार के आलोचक साहित्य में आर्थिक आधार पर सामाजिक दशा का विवेचन करने की माँग करते हैं। जिस युग के अन्दर आलोच्य काव्य का निर्माण हुआ हो, उस युग की आर्थिक प्रणाली की विवेचना उनके अनुसार होनी आवश्यक है। उपर्युक्त दोनो परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक मनोविज्ञान तथा मानसिक और बौद्धिक अवस्था का निर्धारण साहित्य के अन्दर होना चाहिए।

'काडवेल' काव्य का मूल आधार आर्थिक मानता है। काव्य में सामूहिक भाव की व्यंजना होती है अर्थात् साहित्यकार अपनी रचना में अपने वर्ग या समाज के स्वार्थों से परिचालित होकर तदनुरूप भावों की व्यंजना करता है। साहित्य समाज में योग देने वाला एक अस्त्र है और यह श्रम को हल्का भी बनाता है। समाजवादी यथार्थवाद की विवेचना प्रगतिवादी साहित्य के अन्दर की गई है। यह प्रगतिवादी साहित्य का एक प्रधान अंग है।

प्रगतिवादी शब्द आजकल दो अर्थों के लिए प्रयोग में लाया जा रहा है, एक तो सामान्य राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं के लिए और दूसरे मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित रचनाओं के लिए, जिसमें कि कम्युनिस्ट पार्टी का

a matter of party or political affiliation but out look and perception in the broadest sense."

H. Fast Literature and Reality, p. 46-47.

का दलगत साहित्य है, और इसमें रूसी कम्युनिस्टपार्टी के नेता को ही अधिक महत्व दिया जा रहा है। इस प्रकार के साहित्य की रचना कुछ निश्चित प्रवृत्तियों को लेकर की जाती है। जैसे—

१—स्वतंत्रता की भावना

२—क्रान्ति की पुकार

३—समाजवादी यथार्थवाद

४—सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूकता

५—काव्य के विषय में अति सामान्य धारणा

६—बौद्धिकता और व्यंग्य का प्रसार।

जब कोई विदेशी राज सत्ता भारत पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की चेष्टा करे तो यह स्वाभाविक है कि यहाँ के निवासियों के मन में देश की स्वतंत्रता प्राप्त करने की दुर्दमनीय भावना प्रकट हो। परन्तु दूसरे रूप में आर्थिक स्वतंत्रता की भावना आज प्रबल हो रही है। आज की दुनिया दो प्रकार की है एक गरीबों की और दूसरी अमीरों की, एक शोषित की और दूसरी शोषक की। परन्तु यह कहना नितान्त भ्रान्ति मूलक है कि 'अन्याय', शोषण को जो व्यक्त करे, जिसमें मजदूरों की पुकार हो, किसानों का क्रन्दन हो, जो वर्ग वाद का गला टीप दे तथा जो पूँजी वाद की पूँछ में पलीता लगा दे[1]। वही प्रगतिवादी साहित्य है।' ऐसा साहित्य प्रगतिवादी साहित्य नहीं, वर्गवादी साहित्य है। साम्यवादी यथार्थ के बारे में भारी भ्रम है कि केवल मजदूर किसान के विषय में लिखा साहित्य ही यथार्थवादी साहित्य है। जो साहित्य सम्पूर्ण समाज की भावनाओं को उसका कर उन्नति के सामान्य धरातल पर लाने का प्रयत्न नहीं करता न तो वह प्रगतिवादी साहित्य कहा जा सकता है और न तो वह समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति का ही गौरव प्राप्त कर सकता है।

समाजवादी यथार्थवाद के साथ साथ एक निश्चित भाव धारा सन्निहित हो चली है। इस प्रकार के साहित्य की उपयोगिता वही है कि इस से पूँजीवाद के नाश और समाजवाद की विजय में योग मिल सके। इससे यह आवश्यक हो जाता है कि लेखक समाज के उन मूल तत्वों को पकड़ने का प्रयत्न करे जिनके द्वारा समाज की क्रान्तिकारी शक्तियों को बल प्रदान किया जा सके। समाज की ये शक्तियाँ यथार्थ की आधार शिला पर खड़ी होकर यदि समाज को आमूल परिवर्तित कर आर्थिक समानता के लिए सभी को समान

१—कृष्णदेव प्रसाद गौड—सरस्वती पत्रिका जुलाई ४२।

अवसर प्रदान करने और वर्गहीन समाज की स्थापना करने में सफल हुई तो लेखक की पूरी सफलता कही जा सकती है।

कोई भी साहित्य समाज के निम्न वर्ग की भयंकर यातनाओं से भरी स्थिति का चित्रण मात्र कर देने तथा उनकी दयनीय बस्तियों, उनकी क्षुधा-तुरता और उनकी अनेक कष्ट गाथाओं को चित्रित मात्र कर देने से समाजवादी यथार्थवाद का प्रतिनिधि साहित्य नहीं कहा जा सकता और न तो अल्प संख्यक पूँजीपतियों की विलासिता और अकर्मण्यता आदि को ही दिखला देने से यथार्थवादी साहित्य बन सकता है, क्योंकि इस प्रकार वह जीवन के एक पक्ष का ही उद्घाटन करेगा जो निष्क्रिय तथा निराशा पूर्ण होगा। यथार्थवादी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह समाज की मूल में सक्रिय क्रान्तिकारी शक्तियों को पहचान कर और उनके द्वारा बढ़ते हुए आन्दोलन का उल्लेख करके पूँजीवादी के नाश और निम्न वर्ग की विजय में पूरी आस्था व्यक्त करे। जिससे निराशा तथा जीवन के दाव हारे हुए निम्न स्तर के लोगों में आशा का संचार हो और वे अपने को इस योग्य बना सकें कि समाज की विषम परिस्थितियों से वीरता के साथ संघर्ष कर सकें।

"इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजवादी यथार्थ पहले समाजवादी और तब यथार्थवादी। वह अर्थ को समाजवादी दृष्टि से देखता है। वह प्रकृत-वादियों (नेचुरलिस्ट) की तरह सम्पूर्ण बाह्य जगत को ज्यों का त्यों स्वीकार करके जीवन की ऊपरी सतह पर दिखायी देने वाली स्थूल व्यवस्थाओं को चित्रित मात्र नहीं करता, बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर जीवन और जगत की परिस्थितियों का विश्लेषण करके समाज के भीतर छिपी भविष्य की नियामक शक्तियो की अभिव्यक्ति करनेवाली सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करता है[१]।"

समाज का बहुसंख्यक भाग थोड़े से शोषितो धनाढ्यों द्वारा शोषित हो रहा है। तटस्थ पर्यवेक्षण करने वाले बहुत से लेखक भी इस बात को बहुत अंशों में सत्य मानते हैं। व्यक्तिगत रूप से उनके विचार साहित्यिक सिद्धान्तो के सम्बन्ध में जो भी हों पर वर्तमान समय में अर्थ की प्रधानता और शोषक वर्ग की स्वार्थ लोलुपता के प्रश्न पर सभी मे मतैक्य हो सकता है। बालजक, फ्लावयर, इलियट और लारेंस में कोई रायलिस्ट, कोई पेसिफिस्ट है और कोई कैथोलिक, पर समाज का जैसा चित्रण इन्होंने किया है वह यथार्थ है। यही स्थिति हिन्दी साहित्य में अज्ञेय, दिनकर आदि की भी है, जिनकी

१—प्रो० विजय शंकर मल्ल, 'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद' पृ० स० ११९।

विचारधारा साम्यवादी नहीं है पर इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में समाज की परिस्थितियों का जो चित्रण किया है वह यथार्थ है और परिस्थितियों का विश्लेषण भी सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

ऐसे आलोचक जो मार्क्सवादी विचार धारा के शिकंजे मे घिरे हैं, कभी कभी ऐसे लेखकों को यथार्थवादी मानने के लिए तैयार नहीं हो सकते जो केवल सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण भर ही कर देते हैं। ऐसी यथार्थवादी कृतियों को वे तब तक यथार्थवादी नहीं मान सकते जब तक कि कृतिकार मार्क्स की विचार धारा में पूर्ण रूपेण विश्वास नहीं करता। उनके यहाँ जो मार्क्सवाद को नहीं मानता वह सच्चा यथार्थवादी नहीं हो सकता। काडवेल का तो यहाँ तक कहना है कि लेखकों के लिए मार्क्सवादी होना ही केवल आवश्यक नहीं है, बल्कि वर्ग संघर्ष में उसे सक्रिय भाग भी लेना चाहिए। किसी न किसी रूप में मार्क्सवादी प्रवृत्ति का दिग्दर्शन करना लेखक के लिए आवश्यक है, तभी वह सच्चा यथार्थवादी हो सकता है। 'काडवेल', बुखारिन, राडेक, एलिकवेस्ट, राल्फाक्स, सभी किसी न किसी प्रकार इन बातो को स्पष्टत स्वीकार करते हैं।

समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति के लिए लेखक का मार्क्सवादी होना ही आवश्यक नहीं है, इसके एक नहीं बल्कि अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, कि विचार धारा में मार्क्सवादी न होते हुए भी, ऐसे लेखक हुए हैं जिन्होंने समाज का अत्यन्त ही सजीव यथार्थवादी चित्र खींचा है। 'शा' और गाल्सवर्दी जैसे लेखकों ने मध्यवर्ग की ढलती हुई अवस्था का बहुत ही मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया है। इसे काडवेल भी मानता है, पर उसके अनुसार इन लेखकों के मार्क्सवादी न होने से इनके सब किये कराये पर पानी फिर गया। इससे तो यह स्पष्ट होता है कि लेखक का मार्क्सवादी होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से वह स्वयं स्पेन में युद्ध करने गया, जहाँ मारा गया।

मार्क्स ने कभी भी खुल कर अपने विचारों को नहीं व्यक्त किया है कि लेखक को प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक विचारों का प्रचार करना चाहिए। किसी सैद्धान्तिक मतवाद की सीमाओं में बँधना साहित्यकार के लिए कभी भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता, वह तो वर्तमान परिस्थिति का वास्तविक चित्रण और उनकी साहित्यिक व्याख्या या विश्लेषण ही कर सकता है, वह कभी भी वर्तमान सामाजिक समस्याओं का ठोस समाधान नहीं दे सकता।

स्टेफन स्पेंडर के शब्दों में "जब तक कम्युनिस्ट यह स्वीकार नहीं करते कि एक दम दूसरे क्षेत्र से आने वाले लेखक भी कभी-कभी सत्य के विषय में

ठीक-ठीक बातें कहने की क्षमता रखते हैं, तब तक मार्क्सवादी आलोचना अपने को केवल यह सिद्ध करने में सीमित कर लेती है कि जिन लेखकों ने कभी कम्यूनिस्ट होने का दम नहीं भरा वे कम्यूनिस्ट नहीं हैं।... ..वह सभी मार्क्सवादी आलोचना जो लेखकों को उनके घोषित राजनीतिक मतों के द्वारा परखती है या उनके घोषित राजनीतिक मतों पर जोर देती है, अपने सबसे अच्छे रूप में, अव्यवस्थित और अधकचरी होती है और अपने सबसे बुरे रूप में विध्वंसात्मक[1]।"

सच पूछा जाय तो यथार्थवाद के पहले समाजवाद शब्द का जोड़ना कुछ अच्छा नहीं जँचता क्योंकि इससे एक निश्चित राजनीतिक मत की प्रमुखता व्यक्त होने लगती है। इससे एक सामान्य सामाजिक भावना ही नहीं वरन् एक राजनीतिक मत की पूरी विचार परम्परा व्यक्त होती है। देश काल के अनुसार प्रत्येक वस्तुओं के विषय में हमारी धारणा बदलती रहती है, परन्तु प्रायः नाम एक-सा ही रहता है। इसी प्रकार यदि समाजवाद शब्द बदलने में कठिनाई है तो हमें इसकी व्याख्या उदारतापूर्ण ढंग से करने की आवश्यकता होगी।

किसी भी प्रकार की उच्च श्रेणी की रचना एकमात्र बाह्य निरूपिणी नहीं हो सकती, लेखक की आन्तरिक अनुभूतियों का प्रभाव उस रचना पर अवश्य रहता है। अत. किसी मत का वाद से बाहर निकले बिना यथार्थ का वास्तविक और मार्मिक रूप साहित्य के भीतर प्रस्तुत करने में साहित्यकार को अनेकों कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी।

आजकल प्रायः ऐसा भी देखने को मिल जाता है कि समाजवादी यथार्थ के नाम पर लिखे जाने वाले साहित्य के भीतर, मानव की दमित कामवासना, मूल प्रेरक शक्ति के रूप में वर्तमान रहती है। मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर है, एक जब कि समाज के संघर्षों में 'अर्थ' को मूल मानता है तो दूसरा मानव की दमित अतृप्त वासनाओं को प्रधान रूप में स्वीकार करता है। इस प्रकार मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्त कभी भी एक साथ नहीं बैठाये जा सकते, परन्तु समाजवादी यथार्थवाद के प्रसिद्ध लेखकों की कृतियों में हमें इन दोनों सिद्धान्तों का साथ-साथ विश्लेषण मिल जाता है।

हिन्दी साहित्य के अन्दर एक भी ऐसा उपन्यास नहीं लिखा गया जिसे हम 'समाजवादी यथार्थवाद' के संकीर्ण साँचे में फिट कर सकें। मार्क्स के सिद्धान्तों को आधार मान कर लिखा यदि उपन्यास मिल भी जायगा तो यह

१—प्रो० विजयशंकर मल्ल—'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद'।

आवश्यक नहीं कि उसका लेखक कम्यूनिस्ट पार्टी का सक्रिय कार्यकर्ता ही हो और ऐसा न होने पर उसके सब किये-कराये पर पानी फिर ही जाता है। कुछ लेखक 'यशपाल' की भाँति यदि ऐसे मिल भी जायँ जो मार्क्स के सिद्धान्तों पर रचना भी करते हों, पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता भी रहे हों तथा क्रान्ति में स्वयं भाग भी लिये हों, फिर भी उनमें कुछ अपनी ऐसी व्यक्तिगत ग्रन्थियाँ हैं जिससे सारे सिद्धान्तों का गला घुट जाता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' की सृष्टि के लिए जो सबसे बड़ी अड़चन है वह यह कि लेखक को 'सोवियत यूनियन' का समर्थन करना चाहिये जिससे उसके लिए वहाँ का नागरिक होना भी अनिवार्य हो जाता है। यदि इस दृष्टिकोण को अपनाएँ तो 'सोवियत भूमि' को छोड़कर 'समाजवादी यथार्थवाद' की रचना अन्यत्र हो ही नहीं सकती।

इतना तो अवश्य मानना ही पड़ेगा कि साम्यवादी रचनाओं को लक्ष्य मान कर हिन्दी में भी उपन्यास लिखे गये और उनके अन्दर मार्क्स के सिद्धान्तों के प्रचार की स्पष्ट गन्ध भी मिलती है। इस प्रकार के लेखकों में 'राहुल सांकृत्यायन' 'यशपाल' 'रांगेय राघव' नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त प्रमुख हैं। इन उपन्यासकारों के अन्दर सामाजिक यथार्थवाद अधिक है, परन्तु न तो हम इन्हें पूर्णत सामाजिक यथार्थवाद की श्रेणी में ही रख सकते हैं और न तो समाजवादी यथार्थवाद की ही। इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों के बीच हम इन उपन्यासकारों को परखने का प्रयत्न करेंगे।

समाजवादी यथार्थवाद और यशपाल

इन उपन्यासकारो में 'यशपाल' सर्वप्रमुख हैं जिनकी कृतियो में मार्क्सवादी दर्शन का आग्रह स्पष्ट रूप से उभड़ कर आया है। जब कभी भी स्रष्टा अपनी सृष्टि में स्वभाव के प्रतिकूल आरोपित भावो की अभिव्यक्ति करता है तो उसमें विकार आ ही जाता है। यशपाल जी मार्क्स के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं, हमें इसमें किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है, परन्तु जहाँ तक उनकी रचनाओं का प्रश्न है, उनमें उनकी यौन ग्रन्थियों का ही जलवा अधिक जाहिर है। स्त्री पुरुष सबन्धित समाज की कुछ मान्यताएँ उन्हें अखरती हैं, जिन पर वे सचेष्ट होकर वार करते हैं और जहाँ तक हो सका है अपनी कृतियों में स्त्री-पुरुष को खुल कर यौन सम्बन्ध स्थापित करने की उन्होंने वकालत की है। सुजान (बदला हुआ अफगानिस्तान का निसार) के रूप में तो वे यहाँ तक मानते हैं कि विवाह एक बूर्जुआ फैशन है और मैत्री को ही वे औचित्य प्रदान करते हैं। प्रेमचन्द की भाँति इनके यहाँ प्रेम का अन्त विवाह नहीं बल्कि विवाह का अन्त मैत्री है, जिससे समाज के सामने चिर कौमार्य का दम भरा

जा सके। ऐसा लगता है कि यशपाल जी को अपने राजनैतिक सिद्धान्तों की ज्वाला पर इतना अधिक विश्वास हो गया है कि उसके ताप से समस्त सामाजिक कलंकों को पवित्र हो गया मान लेते हैं, अथवा यों कहें कि उनकी मज़दूर क्रान्ति को सफल बनाने के लिये वासना के बोझ से झुकी नारी की बाँहों का सहारा अति आवश्यक है।

'दादा कामरेड' हिन्दी साहित्य में पहला उपन्यास है जिसमें रोमांस और राजनैतिक सिद्धान्तों का मिश्रण हुआ है। यह उपन्यास 'शरद' बाबू के बँगला उपन्यास 'पथेर दावी' द्वारा क्रान्तिकारियों के जीवन और आदर्शों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई भ्रामक धारणाओं का निराकरण करने के लिए लिखा गया है। इतना ही नहीं बल्कि यह श्री जैनेन्द्र की आदर्श पुरुष की खिलौना 'सुनीता' का उत्तर भी है। कथा वस्तु के विस्तार के लिए राजनैतिक क्रान्तिकारी दल की कहानियों का सहारा लेखक ने लिया है, परन्तु उसका मूल तात्पर्य इससे भिन्न एक विशेष वर्ग के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना तथा सामाजिक रूढ़ियों मुख्यत. स्त्री संबन्धी परम्पराओं की निस्सारता प्रकट करना है।

कांग्रेस के अहिंसात्मक आन्दोलन के साथ-साथ गुप्त रूप में चलनेवाले क्रान्तिकारियों के हिंसात्मक आन्दोलन तथा क्रान्तिकारियो के अनुशासन संबंधी कड़े नियमों का सजीव चित्र इसके अन्दर खींचा गया है। क्रान्तिकारियों के अन्दर संदिग्ध व्यक्ति को गोली से उड़ा देने की व्यवस्था थी, इसका संकेत हमें उस एक मंत्रणा से मिल जाता है जिसमें डाका डालने की योजना बनाई जा रही थी। 'हरीश' और पार्टी के बीच उत्पन्न सैद्धान्तिक मतभेद के कारण' पार्टी ने हरीश को गोली से उड़ा देने का निश्चय किया जिसके लिए 'दादा', के रूप में 'चन्द्रशेखर' 'आजाद' और 'हरीश' के रूप में हमें स्वयं 'यशपाल' ही दिखलाई पड़ते है। रेलवे में खलासी का कार्य करने वाले मुस्लिम-परिवार का दयनीय चित्र बड़ा ही सजीव बन पड़ा है। किस प्रकार उनसे घूस लिया जाता है, उनकी बहू बेटियाँ ली जाती हैं तथा वे स्वयं शराब आदि में रुपया खर्च कर किस प्रकार दाने-दाने को तड़पते हैं आदि का बड़ा मार्मिक चित्रण मिलता है और मजदूरो के हड़ताल का चित्र तो स्पष्टतः रूसी साम्यवाद की ओर संकेत है। इस उपन्यास के अन्दर भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का उतना समर्थन नहीं किया गया है जितना कि अन्य राजनैतिक दलों की निन्दा।

'हरीश' को फाँसी दिलाकर लेखक ने 'शैला' को 'दादा' के साथ हरीश का गर्भ लेकर निकल पड़ने की व्यवस्था करके जो समस्त पारिवारिक एवं सामाजिक मर्यादाओं को लात मारी है उससे उसका राजनैतिक की अपेक्षा समाज-विद्रोही का रूप अधिक उमड़ आया है।

इनका दूसरा उपन्यास 'देशद्रोही' भी साम्यवादी उपन्यासों के ढर्रे पर लिखा गया है, जिसके अन्दर स्पष्ट रूप से मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार किया गया है। परन्तु 'देशद्रोही' के अन्दर 'दादा कामरेड' की भाँति अन्य भारतीय राजनैतिक दलों की छीछालेदर नहीं की गई है, वल्कि लेखक का एक मात्र लक्ष्य भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का समर्थन करना है। वह 'साम्यवाद' का प्रचार करना चाहता है तथा १९४२ ई० में किए गए देशद्रोह का कलंक, अपनी औपन्यासिकता के द्वारा कम्यूनिस्ट पार्टी के मस्तक से धोना चाहता है, और सिद्ध करना चाहता है कि डा० खन्ना देशद्रोही नहीं वल्कि देश भक्त है

भारत के अन्न जल से पलने वाले भारतीय कम्युनिस्ट भी अपनी पवित्र भूमि 'रूस' को ही मानते हैं, तथा 'रूस' ही उनका राजनैतिक गुरु है और उनके लिए देशकाल की सीमा को तोड़कर दुनिया की सारी नयी रोशनी का स्रोत 'रूस' में ही दिखलायी पड़ता है। यशपालजी ने जहाँ तक हो सका है अपने पात्रों से 'रूस' की प्रशंसा करवाई है। यशपालजी इसको अच्छी प्रकार जानते हैं कि स्वयं किसी वस्तु की प्रशंसा न कर, एक तीसरे अपरिचित व्यक्ति से कराने का प्रभाव अधिक पड़ता है। संसार की सभी जातियों की अपेक्षा मुसलमान जाति अपने धर्म और रस्मरिवाज की अधिक पाबंद होती है, पर जब हम 'नासिर' को 'रूस' जाने के लिए उत्सुक पाते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बरबस पाठकों की जिज्ञासा को उकसाना चाहता है। 'नासिर' को मुस्लिम रहन-सहन पसंद नहीं, वह 'रूस' जाकर नयी दुनिया की रोशनी से परिचय पाना चाहता है।

इस उपन्यास के अन्दर डा० भगवान दास खन्ना की कहानी आदि से अन्त तक चलती है। लेखक ने खन्ना के जीवन को प्रभावित करने के लिए, उसे जिन जिन परिस्थितियों में रखा है, उससे यही जान पड़ता है कि जान बूझ कर उपन्यासकार एक ऐसे पात्र का निर्माण करना चाहता है जो रूसी साम्यवादी शिक्षण शिविर में शिक्षा लेकर भारत में प्रचार का कार्य करे। डा० खन्ना को लेखक ने देश देशान्तरों में भ्रमण तो अवश्य कराया है परन्तु वह उसकी उचित व्यवस्था नहीं कर पाया है। पठानों के बीच से मुक्ति पाने के लिए डा० खन्ना रुपयों के लिए अपनी प्यारी पत्नी 'राज' के पास चिट्ठियाँ लिखता है, परन्तु एक भी पत्र उसको नहीं मिल पाता। उपन्यासकार इन पत्रों के न मिलने की प्रसंगानुकूल व्यवस्था करने में अवश्य ही चूक गया है, जिससे तो यही जान पड़ता है कि वह किसी न किसी प्रकार डा० 'खन्ना' को गज़नी ले जाकर, उसे 'रूस' भेजने की व्यवस्था करना चाहता है। उप-

न्यासों के अन्दर इस प्रकार की आरोपित घटनाओं को चित्रित करने से उनकी सारी स्वाभाविकता समाप्त हो जाती।

राजनैतिक सिद्धान्तो को लेकर तथा साम्यवाद के समर्थन में दिए गए व्याख्यानों से उपन्यास के पृष्ठ के पृष्ठ भरे पड़े हैं। इस प्रकार रोमांटिक प्रसंगों की घूस देकर लेखक ने पाठकों को मार्क्सवादी दर्शन पढ़ने के लिए बाध्य किया है। 'शिवनाथ' के व्यक्तित्व को हल्का करने का उपन्यासकार ने जान-बूझ कर प्रयत्न किया है। युद्ध काल में कम्युनिस्ट पार्टी की नीति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए खन्ना के चरित्र को माध्यम बनाया गया है, परन्तु समर्थन में दी गयी दलीलें अत्यन्त लचर और थोथी हैं।

यशपालजी के उपन्यासों में उनकी सबलता ही सबसे बड़ी दुर्बलता बन गयी है। उनके राजनैतिक सिद्धान्त की ज्वाला वासना की लहरो से बुझ जाती है। उनका नायक सिद्धान्तों के लिए तो क्या जूझेगा, उसके पूर्व ही वह प्रेम की ज्वाला में जल मरता है। 'देशद्रोही' में "उनका नायक विभिन्न देशों की सैर करता हुआ भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम और सिद्धान्त के साथ प्रेम कला के अनेक पाठ सीखता हुआ अन्त में अपने को बलिदान कर देता है। कहा नहीं जा सकता प्रेम की वेदी पर या कम्युनिज्म की वेदी पर। उसी प्रकार 'पार्टी कामरेड' की भी कहानी है। इसमें भी नायक को अन्त में शहादत मिलती है लेकिन इसका निपटारा करना कठिन है कि वह शहादत प्रेम की है अथवा सिद्धान्त और आदर्श की[1]।"

इसमें सन्देह नहीं कि चमत्कार पूर्ण घटनाओं के संघटन से उपन्यास में कौतूहल की वृद्धि हुई है, परन्तु उन घटनाओं में भी संगति तथा स्वाभाविकता का निर्वाह नहीं हो सका है। सभी पात्रों का व्यक्तित्व इतना दुर्बल है कि जिनसे यही अनुमान लगता है कि कम्युनिस्ट समाज में सचमुच ही समाज की व्यापकता और व्यक्तित्व के विकास का मार्ग रुद्ध हो जायेगा। इस उपन्यास के अन्दर रोमांस और साम्यवाद का ऐसा अपूर्व संयोग किया गया है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि लेखक 'समाजवादी यथार्थ' का चित्रण कर रहा है कि रोमाण्टिक यथार्थ का। "देश द्रोही केवल भगवान दास खन्ना के ही रोमांस और भ्रमर-वृत्ति की कहानी नहीं है वरन् उसमें आनुषंगिक रूप से अन्य भी कई रोमांस फूटते हैं। बद्री और राज का रोमांस अन्त में विवाह में परिणत होता है। 'सुजान' और यमुना में भी इसी प्रकार का प्रेम-व्यापार चलता रहता है।[2]"

१—मोतीसिंह—आलोचना उपन्यास अंक पृ० २०६। २—वही।

देशद्रोही के अन्दर लेखक ने खुलकर मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार तो किया है, परन्तु उसने मार्क्स के विचारो की सर्वथा अवहेलना की है। मार्क्स ने कहीं भी अपना ऐसा विचार नही व्यक्त किया है कि लेखक को खुलकर अपने सिद्धान्तो का प्रचार करना चाहिए। कलात्मकता की दृष्टि से लेखक का दृष्टिकोण प्रच्छन्न ही रहना श्रेयस्कर होता है।

'मनुष्य के रूप' यशपालजी का सामाजिक उपन्यास है, जिसमें अपेक्षाकृत वैयक्तिक सिद्धान्तों का आग्रह कम है। परन्तु उपन्यास की मूल प्रेरणा लेखक को 'मार्क्स' के सिद्धान्तों से ही मिली है। 'मार्क्स' के अनुसार मनुष्य के सारे कार्यकलापों का कारण आर्थिक होता है। 'मनुष्य के रूप' में परिस्थितियों के कारण परिवर्तित होने वाले मानव-स्वरूप के मूल में आर्थिक समस्या ही है। 'सोमा' और 'धनसिंह' के स्वभाव में जो जो परिवर्तन आए है, सब उनकी आर्थिक कठिनाइयों के कारण। किस प्रकार पूँजीपति सम्पत्ति का अम्बार लगाकर साधारण लोगों को जीवन मे आर्थिक विषमताओं के कारण घुट-घुट कर मरते देखते हैं और उदारता के नाम पर एक भी डकार नहीं लेते। दुर्बल व्यक्तित्व के मनुष्यों में आर्थिक कठिनाइयों के कारण विकार आ जाता है तथा आर्थिक परिस्थितियाँ ही उसके स्वरूप का निर्माण करती हैं। शरीर सुख की अभिलाषा ने सोमा को व्यभिचारिणी बनाया, जिससे उसे जीवन की अनेक दर्दीली गंदी गलियो से गुजरना पड़ा है।

इस उपन्यास के अन्दर १९४२ के आन्दोलन में किए गए पुलिस के अत्याचारों, कामुक पुरुषों की असहाय स्त्रियों के प्रति कुचेष्टाओं तथा पूँजीपतियो की अनैतिकता आदि का सजीव चित्र खींचा गया है। परन्तु इस अतिसामाजिक उपन्यास में भी यशपालजी कम्युनिस्टों के प्रसंग को लाना भूले नहीं है। इनके सभी उपन्यासों को पढ़ लेने पर यही जान पड़ता है कि किसी भी व्यक्ति का कम्युनिस्ट होना नारी के लिए सबसे बड़े आकर्षण की वस्तु है। नारी की ओर से ही सारे प्रयत्न होते हैं, इनका बेचारा कम्युनिस्ट पात्र तो दया करके प्रेम कर लेता है क्योंकि नारी की कामुक विह्वलता को वह सह नहीं पाता। 'मनोरमा' कम्युनिस्ट प्रेमी 'भूषण' से प्रोत्साहन न पाकर उत्तेजना में एक फिल्म एजेन्ट सुतली वाला से विवाह कर लेती है, परन्तु कुछ ही दिनों बाद उस पुरुस्व हीन पति से सम्बन्ध विच्छेद कर फिर पार्टी के काम में भूषण के निकट आ जाती है।

'पार्टी कामरेड' की एक कम्युनिस्ट लड़की, मावरिया नामक एक लखपती किन्तु लफंगे व्यक्ति को अपने प्रेम से सुधार लेती है। 'गीता' के प्रेम ने

'मावरिया' के जीवन में आमूल परिवर्तन ला दिया, वह स्त्री को केवल मन बहलाव की वस्तु न समझ कर उससे वास्तविक प्रेम करने लगा और इसी कारण वह अन्त में सिपाही-विद्रोह में बलिदान होता है। परन्तु 'लेखक यह नहीं दिखला पाया है कि 'मावरिया' के हृदय में सामाजिक न्याय की प्रेरणा आ गई थी या नहीं। वह अपने सामाजिक संस्कारों के कारण नहीं बल्कि 'गीता' के प्रम को प्राप्त करने के लिए बढ़ा था और अन्य प्रेमियो की भाँति उसने भी अपने को प्रेम की वेदी पर बलि दे दी।

यशपालजी की प्रतिभा बड़ी प्रखर है, उनका अनुभव क्षेत्र विशाल है तथा समाज के मार्मिक चित्रों को चित्रित करने में प्रेमचन्द जी को छोड़कर इनका नाम सर्व प्रथम लिया जा सकता है। परन्तु जहाँ तक इनके वैयक्तिक सिद्धान्त और उपन्यासकला का संबन्ध है, वह अति रोमांटिक प्रवृत्ति के कारण अपने वास्तविक मूल्य की अधिकारिणी नहीं रह जाती। स्पष्ट रूप से न तो हम इनके उपन्यासों को 'समाजवादी यथार्थ' के अन्दर रख सकते हैं, न तो रोमांटिक यथार्थ के और न तो उन्हे मुख्यतः सामाजिक यथार्थ की ही संज्ञा दी जा सकती है।

समाजवादी यथार्थ और कुछ अन्य उपन्यास

'रांगेय राघव' ने अपने 'घरौंदे' नामक उपन्यास में 'भगवती' और जमींदार साहब की प्रजा को विद्रोह के लिए भड़काने के प्रसंग को लेकर एक हल्का सा संकेत राजनैतिक आवश्यकताओं की ओर किया तो अवश्य है, परन्तु वह उपन्यास के अन्य मार्मिक प्रसंगो में इस प्रकार घुल-मिल गया है कि उभड़ने ही नहीं पाया है। 'विषाद मठ' और हूजूर नामक दो उपन्यासों में वर्तमान समाज मे पाये जाने वाले शोषण, नग्नता, दरिद्रता एवं बेबसी का बड़ा ही यथार्थ चित्रण मिलता है। 'विषाद मठ' के अन्दर लेखक ने अपने समस्त राजनैतिक आग्रहों से ऊपर उठकर बंगाल की त्रस्त मानवता का रुला देने वाला चित्र उरेहा है। अकाल के समय किस प्रकार बंगाल के नागरिक एक मुट्ठी अन्न के लिये घर, खेत, शरीर आदि सभी बेचने को तैयार थे आदि दृश्यो का वास्तविक चित्रण इस उपन्यास मे मिलता है। इस प्रसग में आये नर-नारी के नग्न चित्रों से कामुकता नहीं बल्कि करुणा का उद्रेक ही फूटता है। सारी कामुकता तो उस करुणा के आवेग से न जाने कहाँ लुप्त हो जाती है।

इनके 'हुजूर' नामक उपन्यास में प्रस्तुत समाज के विभिन्न स्तरों के चित्रों को उपस्थित किया गया है। इस उपन्यास में लेखक का मुख्य अभिप्राय

आधुनिक परिवर्तनशील युग में समाज की वास्तविक स्थिति को चित्रित करना है। समाज के बाहरी स्वरूप में परिवर्तन तो जान पड़ता है, मनुष्यों के बीच की शासन व्यवस्था मात्र बदली है, "किन्तु समाज के शोषित मानव और प्रताड़ित नारी उसी प्रकार, सम्भवत उससे भी अधिक हीनतर जीवन विता रहे हैं।" लेखक ने समाज की नवीनतम आवश्यकताओं को पहचान कर उन्हें अत्यन्त ही व्यग्य पूर्ण ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। इसमें शासक, शौषक, पूँजीपति और पेशेवर नेताओं के जीवन में नैतिक पतन और चारित्रिक ह्रास दिखलाते हुए ऐसे चित्र उपस्थित किये गये हैं कि जिनसे उत्कट विलासिता की गंध आती है। इस प्रकार हमें 'रांगेय राघव' के उपन्यासों में वास्तविक सामाजिक यथार्थ के सफल चित्र मिल जाते हैं। इनमें समाजवादी यथार्थवाद के सकीर्ण शिकंजों में बन्द न करके, सामाजिक यथार्थवाद के अन्दर ही रखना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। शासक, शासित, शोषक और शोषित समाज के ही अंग हैं, जिससे सामाजिक चित्रण करते समय इनका प्रसग आ जाना स्वाभाविक ही है। केवल कुछ शव्दावलियों के भ्रम से उसे गलत नाम देना उचित नहीं है।

वलचनमा

'नागार्जुन' का यह उपन्यास उनके मार्क्सवादी सिद्धान्तों के बोझ से दबा अवश्य है, परन्तु सोशलिस्ट आन्दोलन का लेखक ने जो इसमें समर्थन किया है इससे बात अस्पष्ट ही रह जाती है। कोई भी कम्युनिस्ट भूमि आन्दोलन का श्रेय अन्य राजनैतिक दलों को देने के लिये कभी भी तैयार नहीं हो सकता। 'नागार्जुन' ने इस उपन्यास में और दूसरे भी उपन्यासों में कहीं-कहीं उच्छृंखलता का परिचय दिया है। रतिनाथ की चाची में अप्राकृतिक व्यभिचार का और इसमें अत्यन्त फूहड़ शव्दो के प्रयोग का। यदि लेखक का ध्येय समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करना है, तो उसे अपनी शैली में प्रकृतवादी होने की क्या आवश्यकता है, वात समझ में नहीं आती। 'नई पौध' इनकी नवीनतम रचना है, जिसमें लेखक ने सामाजिक समस्याओं को ही मुख्यत अपनाया है।

नागार्जुनजी का 'बाबा बटेश्वरनाथ' १९५४ में प्रकाशित हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक के सामने रचना करते समय जमीनदारी उन्मूलन के पश्चात् की आई हुई परिस्थितियाँ सामने थीं। किस प्रकार जमीन्दारों ने परती, चरागाह तथा सार्वजनिक उपयोग में आने वाले वृक्षों को वेचकर रुपया बना लिया, जिनके कारण सर्वसाधारण के सामने विकट परिस्थितियाँ उपस्थित

हो गई है। लेखक ने केवल प्रश्न उठाकर ही छोड़ नहीं दिया है वल्कि उसका हल भी उसने अपनी दृष्टि से उपस्थित करना चाहा है। जहाँ तक कथा की स्वाभाविकता का प्रश्न है, बात समझ में नहीं आती कि नागार्जुनजी ऐसे अपने को यथार्थवादी लेखक कहने वाले किस प्रकार भूत-प्रेत के चक्कर में पड़ गये। ऐसा लगता है कि उन्होंने भारतीयों की स्वाभाविक दुर्बलता 'भूतों के विश्वास' से नाजायज़ फायदा उठाना चाहा है। उपन्यास का तीन चौथाई भाग एक वटवृक्ष का उपदेश है जो मनुष्य रूप में जाकर अपनी आत्मकथा जयकिसुन को सुना जाता है। उसने बड़ा ज़माना देखा है। उसे राजनीति, धर्मनीति तथा समाज नीति का अच्छा ज्ञान है। यहाँ तक कि वह नेताओं के ऊपर भी आलोचना करने की क्षमता रखता है और वह साफ-साफ कह सकता है कि जय-प्रकाश की नीति ढुलमुल है। जयकिसुन के पूर्वजों ने उसे लगाया था, उसे कहाँ से किस प्रकार पाया, ठीक-ठीक पैसे की आत्म कहानी है। परन्तु कला की दृष्टि से, वटवृक्ष जो असंख्य भारतीयों के विश्वास और शान्ति तथा शरण का प्रतीक है, इसका चुनाव उपन्यासकार की मार्मिक एवं अत्यन्त सूक्ष्म-कला की परख का द्योतक है।

टुनई पाठक और जैनरायन ने उसे जमीनदार से खरीद लिया है और उसे कटवाना चाहते हैं, यहीं से कहानी में वास्तविक जोर जाता है। किसानों का संगठन वरगद की ममता को लेकर ही आरम्भ होता है। जीवनाथ नामक युवक भी जैकिसुन के साथ आकर किसान आन्दोलन में भाग लेता है और शीघ्र ही अपनी कर्मठता के कारण सब का नेता बन जाता है। दयानाथ की पूरी आस्था कांग्रेस के साथ थी। उसने सत्याग्रह आन्दोलन में बाईस रोज के जीवन नागपुर जेल में विताये थे, परन्तु वह भी किसानो के साथ आ मिलता है। नीलाम्बर ने, जो टुनई पाठक का लडका था और मुजफ्फरपुर में इनकम टैक्स आफिसर था, अपने प्रभाव से जिले के सभी अधिकारियों के दरवाजे किसानो के लिये बन्द कर दिये थे। "कांग्रेसियों का स्वार्थी रुख देखकर जीवू का दिल उनकी ओर से कटने लगा।" रुपये-पैसे वालो के पास लोगों को परेशान करने के कितने हथकंडे होते हैं और वेगुनाह लोग किस प्रकार उससे पिस जाते हैं, का सजीव चित्र लेखक ने पाठक के षड्यंत्र को चित्रित कर उतारा है। "शत्रुओ को फंसाने की नीयत से पाठक ने डेढ़ सौ रुपये में उससे गूंगे की जान का सौदा किया और दो ही रोज बाद वेचारा बांसों के झुरमुट में वेजान पाया गया।" हत्या के अभियोग में पांच आदमी गिरफ्तार हुए जिसमें जीवनाथ राय और जयकिसुन भी थे।

काग्रेमी एम० एल० ए० ने किसानों की कुछ भी मदद नहीं की और अन्त में उन्हें शरण यदि कहीं मिली तो वह थे श्याम सुन्दर वावू वकील जो जनवादी नौजवान सघ की जिला कमेटी के प्रेसीडेन्ट भी थे। इस प्रकार समस्त घटनाओ को सामने रखकर लेखक इस परिणाम पर पहुँचता है कि वर्तमान राजनीतिक पार्टियों से अब देश का कल्याण होने को नहीं। किसानों का एक ऐसा सयुक्त मोर्चा बनाना है जो पूंजीपतियों और सत्ताधारियों से मोर्चा ले। जीवू के नेतृत्व में वेदखली के खिलाफ गांव वालों का वैसा ही मोर्चा बना। ग्राम कमेटी बनी, हाजी करीम बख्श सदर चुने गये, दयानाथ उपसभापति हुआ और जीवनाथ सेक्रेटरी। एक दिन के अन्दर ही पन्द्रह मन धान भी स्थायी कोष में आ गया, अखबारों के लिये शुल्क भी भेज दिये गये और उन लोगों ने अपनी सारी समस्याओ को स्वयं हल करने की सफल योजना बना ली।

इस प्रकार लेखक ने जिस समाज और व्यापक सघर्ष की कल्पना की है, उससे निश्चित ही एक विशिष्ट राजनैतिक दल की ओर संकेत मिलता है जिसका नाम है साम्यवाद उपन्यासकार ने सारी प्रस्तुत समस्याओं का एक-मात्र समाधान साम्यवाद के सिद्धान्तों को समझा है। इसकी जो सवसे वड़ी विशेषता है वह यह कि लेखक इसमें नारी संवन्धी अश्लील प्रसगों को वचा ले गया है, जो समाजवादी यथार्थ का चित्रण करने वाले भारतीय प्रमुख कलाकारों का विशेष दुर्बल विंदु है।

भैरव प्रसाद गुप्त के भी उपन्यास समाजवादी यथार्थवाद को लक्ष्य करके लिखे गये हैं। इनके मशालको पढ़कर ऐसा लगता है कि इनका कलाकार रूप अभी परिपक्व नहीं हो पाया है।

कतिपय उपन्यासों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के उपन्यासकारों की प्रतिभा भ्रम में पड़कर उपयोग में नहीं आ पा रही है। सिद्धान्तो के चक्कर में पड़ने के कारण इनकी स्वाभाविकता भी नष्ट हो जाती है और ये पाठकों का विश्वास प्राप्त कर लेने में भी असमर्थ रहते हैं। किसी समसामयिक सिद्धान्त का समावेश हो जाना उपन्यासों के लिये अहितकर नहीं है, यदि वे सिद्धान्त कला के माध्यम से लाये जायँ जिससे लेखक के विचार पाठको को आरोपित न जान पड़ें वल्कि पाठक स्वय व्यंजित विचारों को ढूढ निकाले।

पन्द्रहवाँ अध्याय

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

मनोविज्ञान के व्यापक अध्ययन के कारण साहित्यकारों के दृष्टिकोण में महान परिवर्तन उपस्थित हुआ। उपन्यासों के अन्दर कथा कहने की प्राचीन ऐतिहासिक प्रणाली, सुधारवादी कथानकों की व्यवस्था तथा व्यापक सामाजिक चित्रों के अंकन के स्थान पर स्मरण करने योग्य चरित्रों का निर्माण होने लगा। आधुनिक उपन्यासकार इन्हीं चरित्रों के द्वारा नैतिकता का संकेत तथा अपनी कथा का शृंगार करते हैं। मनुष्य के असली रूप का ठीक-ठीक पता लगाना इन उपन्यासकारों का मुख्य लक्ष्य रहता है अथवा वे अपनी अन्वेषित अनुभूतियों की एक सूची तैयार करना चाहते हैं। वे मनुष्य के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक खोज करना चाहते हैं तथा मानव मन के अन्तर्तम प्रदेशों में चलनेवाले गहनतम रहस्यपूर्ण विचारों को यथावत् चित्रित कर उसे सर्व सुबोध बनाना चाहते हैं। इस प्रकार आधुनिक उपन्यासकार अपनी खोजों के द्वारा जानना चाहता है कि वह कौन सा तत्व है जिसके कारण मानव सहज साधारण जीव नहीं बन पाता, तथा वह पूर्ववर्ती उपन्यासों में आये हुए मनुष्यों से सर्वथा भिन्न है, जिनमें अच्छे और बुरे की पहचान करना अत्यन्त सरल था। पहले जब मानव में इतनी ग्रन्थियाँ नहीं थीं और उनके जीवन में कुछ थोड़े से ही आवश्यक तत्व थे तो दो प्रकार विशेष के व्यक्तित्व सामने रखकर अच्छे बुरे का पता लगा लेना अत्यन्त ही सरल था, जिससे हम किसी भी पुस्तक को समाप्त कर लेने पर निर्भ्रान्त भाव से निर्णय दे सकते थे कि कौन व्यक्ति बुरा और कौन अच्छा है। परन्तु आज के नवीनतम उपन्यासों में स्थिति बिल्कुल बदल गई है।

यदि सच पूछा जाय तो वास्तव में लोग न तो पूर्णतः अच्छे ही होते हैं और न तो बुरे ही। उनका चरित्र न तो साधारण ही होता है, और न तो मिश्रित ही। मनोविज्ञान के अनुसार मानव अधिक अर्थों में नदी के समान है, वह उन तत्वों का गट्ठर मात्र नहीं है जिसे गुण कहते है[1]। जो कभी

1—Psychology teaches A human-being is more like a river than a bundle of qualities.

C E M. Joda. Guide to Modern Thought.

तीव्र और कभी मंद गति से प्रवाहित होता है, जो कभी स्वच्छ है तो कभी गँदला। वह नदियों की भाँति प्रत्येक क्षण विभिन्न धरातल उपस्थित करता रहता है। किसी क्षण तो उसके अन्दर नेता के सर्व श्रेष्ठ गुण आ जाते हैं और दूसरे ही क्षण वह निम्नतम प्रवृत्तियो का प्रतिमूर्ति बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तथा उसके पारस्परिक सम्बन्धों में यह बात लागू हो सकती है।

विक्टोरियन उपन्यासों मे एक रूपवती आकर्षक स्त्री के प्रति मनुष्य की भावना या तो पवित्रतम रहती थी, या तो वह अत्यन्त ही निम्न पंकिल दृष्टियों से देखी जाती थी। प्रत्येक प्रेम प्रसग स्वर्णिम तत्वों से भरे होते थे अथवा उससें पकिलता ही रहती थी। या तो उसके अन्दर सूर्य के प्रकाश की भाँति जीवन ज्योति रहती थी अथवा जंगली पन से पूर्ण वर्बरता। इसके विपरीत आधुनिक व्यस्त मानव जीवन में स्त्रियाँ साबुन के फेन की भाँति प्रयोग कर लेने के पश्चात् परित्यक्त कर दी जाती हैं अथवा उनका मानव प्रगति को बाधा पहुँचाने वाला स्वरूप ही सामने आ पाता है।

मानव मस्तिष्क जो साठ वर्ष पूर्व था वह आज नहीं है। उसके अन्दर पूर्व की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मदर्शिता आ गई है। वह प्राचीन साधारण नैतिक चरित्रों की माँग नहीं करता और न तो मानव जीवन सम्बन्धी सूचनाओं की ही अब उसे आवश्यकता रह गई है। वह मनुष्य के बाह्य जीवन की अपेक्षा उसके नित्यप्रति के अन्तरिक जीवन के अनुभवों तथा एक ही व्यक्ति के विभिन्न तत्वो के सघर्षों को अधिक जानना चाहता है। उसका एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति से होने वाले सघर्षों के प्रति उतना आकर्षण नहीं रह गया है, जितना कि वह जीने वाले के द्वारा उसकी जिन्दगी का अनुभव जानना चाहता है, जो वह जी रहा है। सदैव उपन्यासकार सच्चे जीवन के निकटतर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहते हैं।

मनोविज्ञान का आन्दोलन हिन्दी साहित्य में जीवन चरित्रात्मक उपन्यासो से ही आरम्भ हुआ। प्राय ऐसी ही स्थिति विश्व के प्रत्येक साहित्य की रही है। इस प्रकार के उपन्यासों में उपन्यासकार एक व्यक्ति की कथा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करना ही अपना चरम लक्ष्य मानता है। मानव-चरित्र विकास के विभिन्न स्तरों को स्पष्ट करने के लिए, लेखकों ने पाठकों के सामने अनेक चित्रों की एक सूची उपस्थित की, जिसका सम्बन्ध एक व्यक्ति के जीवन से ही रहता है। उसे पलने पर खेलते, दाई की उपेक्षा करते, माता को प्यार करते, पिता पर क्रोधित होते, प्रथम बार स्कूल में जाते, धार्मिक दीक्षा लेते,

प्रेम करते, व्याह करते, तलाक देते, सफल असफल होने से लेकर मृत्यु आदि अवस्थाओं के सजीव चित्रों को उपस्थित करना उपन्यासों के द्वारा सम्भव हो सका। इस प्रकार उपन्यासों के अन्दर घटनाओं ने कथा वस्तु का स्थान ग्रहण कर लिया है। उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों की भाँति कथानक का महत्व अक्षुण्ण नहीं रह सका, बल्कि उसका स्थान अत्यन्त गौण ही रहा। इस वर्ग के लेखकों ने प्रत्येक वस्तुओं को साहित्य के लिए समीचीन माना। मनुष्य के जीवन में जिन-जिन वातों का जिस प्रकार स्थान वनता रहता है, उसी प्रकार उन वस्तुओं को साहित्य के अन्दर स्थान मिलना आवश्यक है। इस प्रकार की मान्यताओं को स्वीकार करने का यह परिणाम हुआ कि आज के उपन्यास घटनाओं तथा धारणाओं से युक्त उलझे हुए थैले बनते जा रहे हैं, जिसका एकमात्र संबंध नायक के जीवन तथा व्यक्तित्व के विकास से ही रह गया है [1]।

प्रथम विश्व महायुद्ध के आरम्भ के साथ-साथ साहित्य के अन्दर यह भावना बढ़ने लगी थी कि प्रत्येक वस्तु को साहित्य के अन्दर उचित स्थान प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार यदि लेखक का लक्ष्य साहित्यिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तुओं को एक ही व्यक्ति के जीवन में रखना है, तो यह एक इतना विशाल घेरा है, कि जिसको पूर्ण करने के लिए लेखक को काफी दौड़ लगानी पड़ेगी। इसका अभिप्राय तो यही हुआ कि एक उपन्यासकार का क्षेत्र विस्तार संक्षिप्त होना चाहिए परन्तु इस प्रकार के उपन्यासो से लक्ष्य की पूर्ति किस सीमा तक होगी, यह उपन्यासकार की उभड़ती हुई नई पीढ़ी अपनी कृतियों के द्वारा ही वतलायेगी। इस प्रकार हम यह भी आशा कर सकते हैं कि उनके अन्दर एक दिन, एक घन्टे और एक क्षण की घटनाओं एवं मनोदशाओं को भी समावहरित किया जाय। यही कारण है कि अनुभव के एक क्षण को सम्पूर्ण रूप से उसकी विभिन्नताओं एवं अधिकताओं के साथ उद्धृत करना उपन्यासकार का क्रमिक आदर्श वनता जा रहा है।

सभ्यता के आवरण में मनुष्य ने अपनी पाशविक प्रवृत्तियो को ढक अवश्य लिया, परन्तु उसके अवचेतन मन में वे अत्यन्त सजग रूप से विद्यमान हैं, जो थोड़ा भी अवसर पाकर गेंद की भाँति उछल कर वाहर आने का प्रयत्न करने लगती हैं।

1 Hence the Novel tended to become a rag bag of inciden ts and impressions linked together by nothing but the developing personality of the Hero
C. E. M. Joad Guide to Modern Thought p. 292.

"मनुष्य के सारे कार्य व्यापारो में अन्तर मन के अतल में दबी पड़ी इन प्रवृत्तियों का विशेष हाथ होता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से प्रभावित हो योरप के उपन्यासकार बड़े वेग से अपनी रचनाओ में इसकी सत्यता प्रतिपादित कर चले। एक समय ऐसा आया कि मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति संक्रामक रोग की तरह वहाँ के उपन्यास वाङ्मय में फैल गयी। विज्ञान का ज्ञान कला का साधक होता है। किन्तु इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि कलाकार उस ज्ञान को पूर्ण आत्म निमज्जित करके ही कलात्मक अभिव्यजना करे। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रकाश में व्यक्ति को देखना बुरा नहीं। डास्टायवस्की जैसे सिद्ध कलाकार सदैव ऐसा करते रहे हैं किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि ध्यान व्यक्ति पर रहे सिद्धान्त पर नहीं[1]।" फ्रायड के मनोविश्लेषण ने मनुष्य को और भी एक बड़ा आश्रय दे दिया है। उसने अच्छी प्रकार समझ लिया, मनुष्य ने सबसे गलत अत्यधिक महत्व अगर किसी चीज को दिया है तो सेक्स को और उसकी यही गलती दिनों-दिनों समाज को और भी जर्जरित करती जा रही है। एक दिन ऐसा आयेगा जब सेक्स को इतना अधिक महत्व देने के कारण ही सारा सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जायगा। उसे अफसोस इस पर होता था कि समाज में दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक दिन-रात चलने वाले उच्छृंखल असामाजिक यौन व्यापार को देखते हुए भी मनुष्य और समाज ने अपने को ऐसा अधा बना रखा है कि अपने सिद्धान्तों की पुन· परीक्षा करने के बजाय, उन्हीं दकियानूसी सिद्धान्तो पर दृढ़ है। वास्तविकता को देखने का साहस और यथार्थता की रोशनी में नए सिद्धान्तों को कायम करने की प्रवृत्ति न रहने के कारण ही समाज को इतनी हाय-हाय करनी पड़ती है।

मनुष्य के होने वाले कार्य व्यापारों को लेकर ही नहीं बल्कि उसके विचारों को लेकर ही उपस्थित किये गये चित्र मानव जीवन के यथार्थ चित्र कहे जा सकते हैं। "आदिकाल से लेकर आज तक के विकास काल में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्व मानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गईं, उनमें समयानुक्रम से सस्कार परिशोधन हुआ वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना लोक में सञ्चित होती चली गईं। विकास की प्रगति के साथ ही साथ परिशोधित वृत्तियों का भी पुन परिशोधन होते चले गये। पर जिन प्रारंभिक प्रवृत्तियाँ का परिशोधन हुआ और इस नये परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी

१—हिन्दी उपन्यास पृ० २५४ तृतीय संस्करण शिवनारायण श्रीवास्तव।

अतल लोक में छिपकर अज्ञात ही रूप में संचित हो गई। यह क्रम आजतक बराबर प्रवर्तित होता चला गया। इस अपरिमित दीर्घकाल के भीतर असंख्य मूल पशु प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना लोक में दबे और भरे पड़े हैं। आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी संस्कारों के लेप से अपने मन में अवश्य सफेद पोशी कर ली है, पर जिस परदे पर वह सफेद पोशी की गई है वह इतना झीना है कि जरा सी बात में वह फट जाता है, और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पड़ी पशु प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फुटित होने लगती है। इन मूल पशु प्रवृत्तियो को जितने ही जोर से सभ्य मनुष्य नीचे को दबाता है उतने ही प्रवेग से वे रबर की गेंद की तरह ऊपर से उछाल मारने लगती हैं[1]।"

जहाँ तक यथार्थ चित्रण का प्रश्न है, उपन्यासकार यदि मनुष्य के कार्यों का तद्वत् चित्र उतारना चाहेगा, तो उसे उसके कार्य व्यापारों की भाँति ही, उसके विचारों का भी लेखा जोखा लेना ही पड़ेगा कि वे करने के साथ ही साथ सोच क्या रहे हैं। इस प्रकार उपन्यासकार को बाध्य होकर लोगों के मस्तिष्क से भी सम्बन्ध रखना पड़ेगा और उसके भीतरः (उपन्यासों में) अधिक पृष्ठों की व्यवस्था उसे केवल मनोवैज्ञानिका सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानसिक क्रियाओं तथा दिवा स्वप्न आदि को चित्रित करने के लिये सुरक्षित रखनी होगी। इसका संकेत ऊपर कर दिया गया है कि मानव का क्रियाशील जीवन ही उसका सम्पूर्ण जीवन नहीं है, यहां तक कि वह सबसे महत्वपूर्ण जीवन भी नहीं है। सबसे अधिक महत्व है विचारों तथा भावनाओं से निर्मित आन्तरिक जीवन का। इसलिये उपन्यासों को यथार्थवादी बनने के लिये, उन्हें मनोवैज्ञानिक बनना ही पड़ेगा। अर्नोल्ड बेनेट के विरोध में जो मत प्रस्तुत किया जाता है, वह यही[2] कि उपन्यासकार को विचारों एवं भावों से युक्त आन्तरिक जीवन का अंकन करना चाहिये।

यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो आज तो यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि, जीवन का सत्य न तो मनोविश्लेषण में पाया जा सकता है, न तो मस्तिष्क की क्रिया और विकास में और न तो मनोवैज्ञानिक मनोभावों में, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक क्षणों में पाया जाता है। एक प्रतिभावान

१—इलाचन्द्र जोशी—'प्रेत और छाया' की भूमिका से।

2—Novelist should seek to record the inner life of thought and feeling.

C E.M. Joad, Guide to Modern Thought.

उपन्यासकार जब अपनी कृति में एक अपना संदेश देना चाहता है, तो वह जीवन किस प्रकार का होना चाहिये, के प्रति अपनी एक निश्चित धारणा बना रखता है। परन्तु साथ ही साथ जोवन किस प्रकार का है, इस ओर से भी उपन्यासकार अपनी आखें मूँद नहीं लेता। जीवन के रहने का उसका सिद्धान्त फ्रायड से प्रभावित है। यहाँ उसके सिद्धान्त से हमारा तात्पर्य अर्नोल्ड बेनेट से है। इन्होंने फ्रायड से अपने दो सिद्धान्त लिये हैं। १—मनुष्य का चारित्रिक स्रोत, विचार और भावना से जो अवचेतन मन में रहता है। २—दूसरा वह कि मानव जीवन यौन व्यापारों से अत्यधिक प्रभावित रहता है। 'लारेंस' ने अवचेतन मन को एक 'अन्डर ग्राउन्ड' कैदी के समान माना है, जो जमीन के अन्दर रहते रहते अस्वस्थ हो गया है, जो सामाजिक जीवन से बहिष्कृत कर दिया गया है, परन्तु कभी कभी उन्माद के क्षणों में, मुख्यत यौन सम्बन्धी शारीरिक भूख के क्षणों में वह दीवाल तोड़ कर बाहर आ जाता है, जहाँ वह जोर जोर से चिल्लाता है। बहुत से लोग सोचते हैं कि वे उसी प्रकार प्रसन्न हृदय वाले व्यक्ति हैं, जिस प्रकार बन्दी श्वान अपने स्वामी की इच्छाओं के अनुसार प्रसन्न रहता है, क्योंकि वे भी सामाजिक परतंत्रताओं को उसी श्वान की भाति ही स्वीकार कर लेते हैं, उन्हें जगली कामोतेजना से रोका गया है, और इच्छा रूपी लौह द्वार से उन पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। जिन प्रतिबन्धों के भीतर कुलाचने वाली स्वाभाविक प्रवृत्तियों के सहज चलने वाले कार्य व्यापारों की अभिव्यक्ति से बहुत लोगों को सतोष मिला है और उन्होंने अपने जीवन के शुष्क क्षणों के अभाव की इससे पूर्ति की है। लारेन्स ने आत्म सयम को अच्छा नहीं माना, उसके अनुसार "इच्छाओं का दमन और त्याग करके मनोवृत्तियों को संतुष्ट करना बुरा है। मनुष्य के जीवन को बन्द कैदी की भाँति रखने की अपेक्षा यदि उसे खुली धूप में रखा जाय, तो उससे मानव जीवन कहीं अधिक सुखी हो सकता है।"

डायकाट का कहना है कि मैं किसी भी चीज को तब तक सत्य नहीं मानता जब तक कि उसका पूरा ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता। मैं हर एक विषय पर ऐसी

1—'His view is that the supression and renunciation of instinctive satisfactions which society demands of human beings are bad for them, and men s lives would be happier and freer if the unconscious instead of being kept a cabin—prisoner withheld from the light were, given free access to consciousness"

C.E.M Joad Guide to Modern Thought p 310

छान-बीन करना चाहता हूँ कि कोई भी वस्तु कहीं छूट न जाय। वह मनुष्य के जीवन का कोई ध्येय नहीं मानता। वह मनुष्यों को इन्द्रियों की कठपुतली मात्र समझता है। मनुष्यों के अधिकतर कार्य उसके अनुसार स्वेच्छा पर निर्भर हैं। मनुष्य वही कार्य करता है जो उसकी अन्तर वृत्तियों को प्रिय लगता है। 'हाब्स' के अनुसार मनुष्य की सब प्रवृत्तियाँ तथा भावनायें इन्द्रियों पर आश्रित हैं। इच्छा और घृणा मनुष्य की दो मूल वृत्तियाँ है, जिनके आधार पर भूख, वैभव, रोना, हँसना, दया, क्रोध, प्रेम, दान, लज्जा, दुःख और सुख आश्रित है। 'हाब्स' ने मानव जीवन की तुलना घोड़े की दौड़ से की है। इस दौड़ का एक मात्र ध्येय सर्व प्रमुख होना है। अधिकार सुख की मादकता ही ही मनुष्य जीवन को अनेक मार्गों पर चलने के लिए प्रेरित करती है। व्यक्ति के प्रत्येक कार्य जीवन रूपी दौड़ में सर्व-प्रथम होने के लिए ही होते हैं। मनुष्य का अपना कोई लक्ष्य नहीं होता, उसके सारे कार्य उसकी अन्तर प्रवृत्तियो के संकेतों पर होते हैं। वह इतना चैतन्य नहीं है कि बैठकर सुख-दुख की मात्राओं की नाप-जोख करता रहे और तब कोई कार्य करे।

मनुष्य प्रकृति से ही एकाकी होता है। उसे साथ-साथ रहने में दुख होता है, सुख नहीं, जब तक कि कोई शक्ति उसे रहने के लिए बाध्य न करे। हाब्स का व्यक्ति घर से बाहर निकलता है तो पूरब में एक आकर्षक वस्तु दिखलाई पड़ती है, वह उसी ओर बढ़ने लग जाता है। फिर दक्षिण की ओर इसी ध्येय से उठता है, इस प्रकार वह टकराता हुआ कहीं का कहीं पहुँच जाता है। मेकियावेली के अनुसार मनुष्य स्वभावतः कृतघ्न, सनकी, धोखेबाज, भीरु और लालची होते हैं। उनमें इच्छायें होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वे निरन्तर प्रयत्न शील रहते हैं। मनुष्य को साधारणतः धर्म या अधर्म का विचार नहीं रहता। प्रेम के बंधन को वे अनेक ऐसे अवसरों पर तोड़ देते हैं जहाँ उनके स्वार्थ पर आघात होने लगता है। उन्हें सुगमता से धोखा दिया जा सकता है। "यदि मनुष्य किसी को धोखा देना चाहता है, तो उसे कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य मिल जाते हैं, जो धोखे में पड़ जाते है।" ऐसी प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को बल प्रयोग द्वारा ही अच्छा बनाया जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपने परिवार को अपना ही वृहत्तर रूप समझता है, यही कारण है कि वह इससे उतना एकान्त नहीं ग्रहण करना चाहता।

जहाँ तक सभ्य समाज का प्रश्न है, सभ्य लोगों की रुचि भावुकता से नहीं बल्कि बुद्धि से सीमित होती है और किसी भी वस्तु को सत्य मानने के पूर्व वे उसे तर्क की कसौटी पर पूर्ण रूपेण कस कर देख लेते हैं। भावुकता और भूख

के समय विश्व के सभी प्राणी समान स्तर पर आ जाते है। वह भूख चाहे क्षुधा सम्बन्धी हो अथवा यौन सम्बन्धी। भूख में अच्छे भोजन और पीने (नशा) के बाद एक सुन्दरी की कामना सभी करने लगते हैं।

मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के माध्यम से उपन्यासों के अन्दर किस प्रकार मानव जीवन का यथार्थ चित्रण किया जा सकता है, इसके सिद्धान्तों की विवेचना ऊपर की जा चुकी। अब इसकी परीक्षा करके भी देख लेना है कि कहाँ तक उपन्यासकार अपने प्रयत्नों में इस प्रकार सफल हो सका है। मानव जीव विज्ञान की अपेक्षा कला के अधिक निकट है, क्योंकि मन एवं विचार सम्बन्धी उसके जितने भी कार्य कलाप हैं, वे विज्ञान के नियमों की भाँति निश्चित नहीं बल्कि कला के नियमों की भाँति अनिश्चित हैं। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास जिनका कि मूल आधार वैज्ञानिक है, कभी भी व्यापक मानव जीवन का स्पर्श करके चल ही नहीं सकते। कोई भी उपन्यास कितना ही यथार्थ क्यो न हो यदि उसके अन्दर मनुष्य की जीवन्त चेतना नहीं है तो सामाजिक दृष्टि से उसका कोई मूल्य नहीं। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों का कहना है कि हम इसके द्वारा मनुष्य के अवगुणों को उसके सामने खोल-कर रख देते हैं, जिससे उसे स्वय अपने अवगुणों के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हम वह प्रयत्न करते हैं कि अपने आप समाज के दोष दूर हो जायँ। परन्तु यही एक सिद्धान्त अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ पर किसी एक व्यक्ति के मन में स्त्री के नग्न स्वरूप को देखकर विकर्षण एवं विराग उत्पन्न हो सकता है, वहाँ दूसरे ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं जिनके अन्दर प्रबल आकर्षण एव आलिंगन की उत्कट अभिलाषा भी जग सकती है।

इस प्रकार के उपन्यासों के अन्दर मनुष्य समाज की अपेक्षा एक व्यक्ति के यथार्थ जीवन चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है। इस सीमा तक तो बात समझ में आ जाती है कि किसी एक वस्तु को लेकर उसका सूक्ष्म विवेचन अधिक ईमानदारी के साथ किया जा सकता है, जितनी ईमानदारी कि वस्तु समूह के साथ सम्भव ही नहीं है। परन्तु व्यक्ति जड़ वस्तु नहीं है, वह एक चेतन शील जीव है। मनुष्यों के अन्दर एकता होते हुए भी उसके विचारों में अनेकता है। जहाँ तक निर्जीव वस्तु का प्रश्न है एक वस्तु का विवरण उपस्थित कर देना, उस प्रकार की अनेक वस्तुओ के लिए पर्याप्त ही नहीं सत्य भी हो सकता है, परन्तु एक व्यक्ति का विवरण उपस्थित करके मानव मात्र के विवरण कर देने अथवा जान लेने की कामना कर लेना असत्य ही नहीं,

निर्मूल और अपर्याप्त भी है। समाज के अन्दर व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं, एक तो साधारण औसत व्यक्ति से कम मस्तिष्क (सब नार्मल माइंड) रखने वाले और दूसरे साधारण औसत व्यक्ति से अधिक मस्तिष्क (अब नार्मल माइंड) रखने वाले व्यक्ति। मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के अन्दर साधारण औसत व्यक्तियों का चित्रण नहीं होता बल्कि उपन्यासकार असाधारण व्यक्तियों को लेकर ही उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करता है, । जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के उपन्यासों के अन्दर समाज में पाये जाने वाले एक प्रकार के सब व्यक्तियों का भी चित्रण नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में यदि हम ऐसे उपन्यासों के ऊपर विश्वास कर सम्पूर्ण मानव समाज के वास्तविक जीवन का अनुमान लगा बैठें तो बड़ा ही धोखा होगा।

ऐसे उपन्यासों के द्वारा एक भी ऐसा चित्र नहीं उपस्थित किया जा सकता जो सम्पूर्ण मानव का चित्र हो, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस प्रकार के चित्रणों का कोई मूल्य नही है। जब तक उपन्यासकार इसे अपने चित्रण का साधन समझ कर प्रयोग में लाता है, वह उपन्यासो की दुनिया के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करता है, क्योंकि उपन्यासों के अन्दर बाह्य यथार्थ का व्यापक चित्र तो आ चुका था परन्तु आभ्यन्तरिक यथार्थ का चित्रण इन्हीं मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के द्वारा ही सम्भव हो सका, परन्तु जब लेखक इसे साध्य के रूप में स्वीकार करने लग जाता है तो वही कला से विकार उत्पन्न हो जाता है, जिससे साहित्य मंगल के स्थान पर असंगलकारी हो जाता है।

साहित्य में आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रणाली के समर्थकों ने मानव जीवन के यथार्थ चित्रण के प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने में काफी छानबीन की है और इसमें सन्देह नहीं कि उसमें तथ्य भी है, परन्तु इस प्रणाली द्वारा "मनोविज्ञान शास्त्र की प्रगति अवश्य हुई है और अनेक कलात्मक कार्य करने का एक नया आधार साहित्य को भी मिला। परन्तु स्वतः साहित्य का लाभ क्या हुआ, कहना कठिन होगा[1]।" "जब कृति के अन्दर कृतिकार के सिद्धान्त साधन न होकर साध्य हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में साहित्य अपने लक्ष्य से दूर चला जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय कलाकार के लिए आवश्यक है कि वह अपने पात्रों के विकास क्रम में स्वयं अपनी मानसिकता का दुर्बल पहलू अज्ञात रूप में सामने न रख दे[2]।" मनोविज्ञान के सहारे साहित्य के अन्दर जहाँ तक

१—एस० पी० खत्री 'आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त' पृ० ४५७।
२—श्री गंगा प्रसाद पाण्डेय एम० ए० 'आधुनिक कथा साहित्य' पृ० २०५।

स्वाभाविकता लाने के लिए चित्रण किए जाते हैं, वहाँ तक यह प्रणाली साहित्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य के अन्दर कुछ उपन्यासों द्वारा प्रेमचन्द युगीन कला संबंधी अभावों की पूर्ति हुई है। आचार्य पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल को भी यह अभाव खटका है। उन्होंने पूर्ववर्ती उपन्यासकारो के सम्बन्ध में लिखा है कि "मनोवृत्ति की अस्थिरता का वह चित्रण अभी बहुत कम दिखायी पड़ा है जिसके अनुसार कुछ परिस्थितियों में मनुष्य अपने शील स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध आचरण कर जाता है[1]।" जिसका चित्रण मनोवैज्ञानिक प्रणाली द्वारा संभव हो सका है।

यदि हम मनोविज्ञान के सामान्य अर्थ को लें तो इसका प्रयोग हमें पात्रों के चरित्र निर्माण में प्रेमचन्द के उपन्यासों से ही मिलने लग जाता है। प्रेमचन्द जी ने पात्रो का निर्माण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढग से किया है। उदाहरण के लिए हम उनके 'निर्मला' उपन्यास के पात्रों को ले सकते हैं। 'जैनेन्द्र कुमार' के उपन्यासों में हमें इससे कुछ भिन्न प्रणाली के दर्शन होते हैं, क्योंकि उनके उपन्यासों की आधार भूमि प्रेमचन्द की भाँति व्यापक न हो कर वैयक्तिक है। इनका प्रधान लक्ष्य कहानी सुनाना नहीं है, अत. इसमें वाह्य संघर्ष का प्राधान्य नहीं है। 'सुनीता' इसी प्रकार की रचना है, जिसमें अन्त.संघर्प है। इनके उपन्यासों को चरित्र प्रधान उपन्यास कहना ही संगत होगा। चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व दिखलाने में शरद् की भाँति जैनेन्द्र कुमार को भी कमाल हासिल है।

आज जिन उपन्यासो से हम मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अर्थ लेते हैं, उनकी रचना पद्धति एवं वस्तु विन्यास सर्वथा नवीन है मनोविज्ञान की चरम उन्नति और उससे पाई हुई मनोविश्लेषण पद्धति इस काल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना है, जिसमें अन्तर्जगत जो वाह्य जगत से कहीं अधिक जटिल है, पर ही विशेप आग्रह दिखलाया जाता है। इस प्रकार की शैली को लक्ष्य मान कर लिखने वाले उपन्यासकारो में 'इलाचन्द्र जोशी' अज्ञेय तथा डा० देवराज के नाम प्रमुख हैं।

इलाचन्द्र जोशी

जोशीजी के 'पर्दे की रानी' का इन्द्रमोहन एक 'शरीफ बदमाश' का अच्छा उदाहरण है। वह 'निरंजना' के शरीर का उपभोग करने के लिए सभी

१—आचार्य पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ५३९।

छलछंदों का प्रयोग करता है, 'शीला' की झूठी मृत्यु का प्रचार करता है तथा दाढ़ी मूँछ बढ़ाकर आधुनिक युग में देखे जाने वाले निराश एवं अतृप्त तथा प्रेमिका के द्वार से लौटाये हुए सच्चे प्रेमी का सा स्वांग बनाकर निरंजना को अंकस्थ करना चाहता है। उसके अन्दर काम की अदम्य वासना ने उग्र रूप धारण कर लिया है और वह अपनी जिस इच्छा को प्रथम बार होटल में नहीं पूरी कर सका था, उसकी पूर्ति नैपाल जाते समय ट्रेन में ही निरंजना का कौमार्य भंग करके पूरी करता है।

अपने निश्चय एवं विश्वास को टूटते देखकर किस प्रकार व्यक्ति का हृदय टूट जाता है इसका एक पूर्ण चित्र उस समय उपस्थित हो जाता है जब इन्द्र मोहन ने शैतानी प्रवृत्तियों की प्रेरणा से 'शीला' के मृत्यु की वास्तविक कथा निरंजना को सुनाई और जिसे सुन कर वह घृणा एवं क्रोध से पागल सी हो उठती थी। उसके मन के अन्दर माता पिता की पतित कहानी जान लेने के कारण जो एक विचित्र ग्रन्थि पड़ गई है वह अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है।

इस प्रकार के उपन्यासों की गतिविधि मूलतः यौन समस्याओं को ही लेकर चलती दिखलाई देती है। जोशी जी के 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास में सारा का सारा कथानक इसी पर आधारित है। पारसनाथ ऐसा सुशिक्षित व्यक्ति जिसने कि एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है, पिता द्वारा यह सुनकर कि वह उसका पिता नहीं है बल्कि वह एक वैद्य की अवैध सन्तान है जिससे उसकी माता का अनैतिक यौन संबंध था, भी अपना मानसिक संतुलन खो देता है। अपने जन्म की कलंक कथा को सुनकर तथा पिता के प्रत्यक्ष पाप कर्मों को देखकर वह एक असामान्य व्यक्ति बन जाता है। उसने न जाने कितनी स्त्रियो के साथ यौन संबंध स्थापित किया और तोड़ा। 'मंजरी' नामक एक दीन छात्रा पर जो कि पैसे के लिए होटल में अपने रूप से लोगों का मनोरंजन करने के लिए आया करती थी, वह विशेष करुणार्द्र हो उठता है और जब वह उसके साथ रहने लग जाती है तो उससे भी यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और उसे गर्भवती छोड़कर 'नन्दिनी' नामक वेश्या के साथ चला जाता है। परन्तु उसके सर पर से प्रेत की छाया तभी हटती है जब वह पुनः पिता द्वारा सुन लेता है कि वह अपने पिता की ही सन्तान है, वैद्य की नहीं और उसी क्षण से वह 'मंजरी' की बहन हीरा के साथ एक सच्चे गृहस्थ का सा वैवाहिक जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार के उपन्यासकार मानसिक रोगियों का निदान रहस्योद्घाटन करके ही करना चाहते हैं। इस

प्रकार की पद्धति कला की दृष्टि से भले ही श्रेष्ठ हो पर नैतिकता की दृष्टि से इसे श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

जोशीजी के 'संन्यासी' का नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' का निरजन और 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ न्यूरोटिक चरित्र हैं। इनकी गाँठें खुल जाने पर इन्हें अपेक्षित मार्ग मिल जाता है।

अज्ञेय

अज्ञेयजी के उपन्यासो वैयक्तिकता का अधिक चित्रण है। वे सम्पूर्ण समाज को उसके वास्तविक रूप में चित्रित करने की अपेक्षा एक व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियो में रखकर उसके वास्तविक जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म छान-बीन करना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। उनके 'शेखर एक जीवनी' का शेखर ऐसा ही एक व्यक्ति है जो जीवन भर विद्रोही रहता है। परन्तु 'अज्ञेय' जी ने केवल उसके विद्रोही जीवन का चित्र ही नहीं उरेहा है बल्कि उसका निर्माण भी दिखलाया है। 'शेखर' की जीवन सरिता का पाट इतना चौड़ा है कि जिसके अन्दर देश काल सम्बन्धी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक सभी समस्याएँ सिमट कर आ गई हैं अन्यथा लेखक का एकमात्र लक्ष्य नायक की वैयक्तिकता का चित्रण मात्र ही है।

'शेखर' के अन्दर एक सशक्त कौतूहल है। वह किसी वस्तु को देखकर या उसके बारे में किसी से सुनकर ही सन्तोष नहीं करता बल्कि उसके मूल में क्या है उसे जानने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। जब तक उसने माँ और पिता को दोपहरी में एक चारपाई पर सटे देख नहीं लिया तब तक 'बच्चे कहाँ से आते हैं' की जिज्ञासा उसे पागल बनाये रखती है। यह बाल स्वभाव है कि जिस किसी वस्तु के लिये निषेध किया जाय उसके लिए उत्सुकता में वेग अधिक आ जाता है। शेखर का 'गीत गोविन्द' छिपाकर पढ़ना अत्यन्त स्वाभाविक है। वह अपनी प्रकृति का राजा है, जिसने उसे अत्यन्त अहंवादी बना दिया है। बालक 'शेखर' के सभी गुण सामान्य बालक के गुण नहीं, वह आरम्भ से ही असाधारण बालक के रूप में हमारे सामने आता है, जिससे कहीं-कहीं पाठक लेखक के साथ अपनी सहमति नहीं प्रकट कर पाता।

लेखक का मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन कहीं-कहीं अधिक गम्भीर हो जाने के कारण, इस सीमा तक पहुँच गया है कि बहुत से अवांछित चित्र आ गये हैं। इस प्रकार के लेखकों के अन्दर यौन (सेक्स) सम्बन्धी सबसे बड़ी दुर्बलता है। 'शेखर' का विद्रोह जीवन के हर क्षेत्र में होता है, परन्तु उसने कभी भी अपना विराग नारी के प्रति नहीं दिखलाया, बल्कि लड़कपन से ही उसमें नारी-

आकर्षण विद्यमान है। 'अज्ञेय' जी को जब अनेक नारियों से तृप्ति नहीं मिली, तो उन्होंने पुरुष के प्रति पुरुष के आकर्षण की परिपाटी निकाल ली। समुद्र के किनारे 'शेखर' कुमार का साधिकार चुम्बन लेने के बाद कहता है कि "कुमार, यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसी के हुए तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगा।"[१]

लेखक ने मनुष्य की तीन मूल प्रवृत्तियों को पकड़ा है, जो उसके जीवन का संचालन करती हैं। अहम्, भय और काम मनुष्य की शाश्वत प्रवृत्तियाँ हैं। आगे चलकर उसने शेखर के बाल्यकाल से तीनों के उदाहरण दिए हैं। यदि आप ध्यान से देखें तो इन तीनों वृत्तियों पर अधिकार पाने का शेखर प्रयत्न कर रहा है। भय तो एक दम उसके जीवन से एक दिन निकल ही गया, काम भावना भी धीरे-धीरे प्रेम में बदल गई।''''समीक्षकों को जो एक बहुत बड़ा दोष दृष्टिगत हुआ है वह है उसका अहम्। यह अहम् की भावना भी आत्मविश्वास में परिणत हुई है। शेखर का ईश्वर में विश्वास चाहे डिग गया हो, अपने में बना हुआ है। परन्तु सबसे आवश्यक बात जो इसमें कहने को रह जाती है, वह यह कि 'शेखर' के चित्रण में लेखक ने वैयक्तिक का रंग इतना गहरा कर दिया है कि वह समाज के लिए कोई भी एक निश्चित मानदंड उपस्थित करने में समर्थ नहीं हुआ है।

इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक उपन्यास लिख कर हिन्दी उपन्यास संसार में किसी भी लेखक को उतनी ख्याति नहीं मिली, जितनी कि अज्ञेय जी को 'शेखर एक जीवनी' लिख कर मिली। 'शेखर एक जीवनी' हिन्दी उपन्यास संसार में एक नया प्रयोग है, जिससे इसके मूल्यांकन में विशेष सतर्क एवं सूक्ष्म दृष्टि से काम लेना होगा। लेखक का इसकी शैली का अपना नया प्रयोग है। सारी कथा एक जीवनी के रूप में लिखी गयी है, जिसे स्वयं 'शेखर' ने बड़े होने पर मृत्यु की छाया में बैठ कर लिखा है। इसके पहले भाग में तो उसके स्मृतिपटल पर आने वाले संस्मरण हैं, परन्तु दूसरे भाग में शशि और शेखर की कथा उपन्यास का रूप धारण कर लेती है, जिसे साधारण पाठक अपेक्षा कृत अधिक पसंद करता है। शेखर के जीवन को लेकर लेखक ने जो एक बालक की विकसित होने वाली मनोवृत्तियों का चित्रण किया है, उसमें ही उसकी वास्तविक मौलिक प्रतिभा का चमत्कार दिखलाई पड़ता है। यदि लेखक का दावा है कि सभी बालकों की मानसिक प्रतिक्रिया एक सी होती है तो उसे किसी अंश तक स्वीकार किया जा सकता है परन्तु 'शेखर' साधारण नहीं बल्कि एक असाधारण बालक है जो सहस्रों में कहीं एक होता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक स्तर में असमानता

पाई जाती है, जिससे इस प्रकार के चित्र कभी भी समाज के व्यापक चित्र नहीं हो सकते। उसकी धारणा है कि मनुष्य बनाये नहीं जाते बल्कि वे वैसे उत्पन्न ही होते हैं "मैं समझता हूँ विद्रोही बनते नहीं, पैदा होते हैं।" 'शेखर' के पढ़े लिखे माँ-बाप प्रयत्न कर के भी उसके चरित्र का निर्माण अपनी इच्छा के अनुसार नहीं कर पाये और बालक का चरित्र अपनी स्वाभाविक गति से अपनी विशेषताओं के साथ विकसित होता गया।

'शेखर' के स्वभाव ने किसी के आधिपत्य में रहना नहीं सीखा है, बल्कि दबाव का उल्टा प्रभाव उसके ऊपर पड़ता है। मास्टर साहब को परेशान करने के अपराध में जब वह पीटा जाता है तो और भी उसका 'धुक्कू' कह कर चिढ़ाना बालको की प्रवृत्ति के अनुकूल ही है। विवश होकर किसी कार्य का करना उसके स्वभाव के प्रतिकूल है। अनुकरण तथा प्रतियोगिता की भावना का होना बालकों का स्वाभाविक गुण है। भय के हट जाने पर शेखर अपनी बहन तथा भाई को पढ़ने सुन कर, उनका पाठ जबानी सुना देता है और सम्मान प्रिय तो इतना है कि लेखक बनने के लिए एक पुस्तक भी तैयार कर लेता है। 'शेखर' की ये ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो अधिकांशत बालकों में पाई जाती हैं, जिससे लेखक के इन चित्रों को असाधारण बालक के चित्र न कह कर साधारण बालक के चित्र ही कहना चाहिये, किन्तु जहाँ उसने उसकी अवस्था और मानसिक सीमा का ध्यान छोड़ कर, उससे दार्शनिक जैसी बातें करानी चाही हैं, वे चित्र अवश्य ही अस्वाभाविक लगते हैं।

बालक 'शेखर' की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ समय पाकर धीरे धीरे जगती हैं, परन्तु उसके अन्दर यह कैसा परिवर्तन होता जा रहा है, उसका उसे ज्ञान नहीं, किन्तु यदि वह शारदा से नहीं मिलता तो इतना जान सका है कि उसे चैन नहीं पड़ता। एकान्त निर्जन घास पर शारदा के पास बैठा वह कामातुर हो जाता है, उसका सारा शरीर झनझना उठता है, वह कस कर धरती से औंधा होकर चिपट जाना चाहता है, शारदा को स्पर्श करता है तो शारदा भी काँपती हुई दिखलाई पड़ती है, किन्तु यह सब क्या है और क्यों है उसे ज्ञात नहीं। अत्ती की नंगी पीठ तथा उसके केशों का सुगंध आदि का प्रभाव, सावित्री का मौन, शशि का आग्रह, शारदा का कम्पन, सब क्या था, तब उसके समक्ष में आया जब उसने अपनी पहले देखी हुई एक पुस्तक पढ़ी।

जिससे नारी का सम्पर्क उसके लिये वरदान सिद्ध हो गया और वह प्यार की शक्ति को पहचान पाया। मानव जीवन में प्रेम ही एक ऐसा सूत्र है जिसके द्वारा समाज का गठन सम्भव हो सका है और प्रेम की प्रधान वृत्ति वासना ही

वह ऐसी शक्ति है जिसके कारण सृष्टि सम्भव हो सकी है। हमें 'शेखर' के जीवन विकास से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के लिये कामनामय वृत्ति की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। विद्रोही शेखर का सम्पूर्ण जीवन नारी प्रभावों से आहत रहा है। जीवन में प्रेरणा लाने के लिये नारी का प्यार एक अपूर्व साधन है। नारी जाति में बहुतों के सम्पर्क में 'शेखर' आता है। उदाहरण के लिये उसकी माँ, मौसी विद्यावती, उसकी बड़ी बहन सरस्वती, आया जिन्निया, नौकरानी अत्ती, फूला, सावित्री, मिस प्रतिभालाल, मणिका शान्ति, शीला, शारदा और शशि को हम ले सकते हैं। इनमें कुछ ऐसी हैं जो पथ में आती हैं और चली जाती हैं, कोई गहरा, विशिष्ट या स्थायी प्रभाव वे नहीं छोड़ती। इनमें से माँ एक ऐसी है जिसके प्रति शेखर की मानसिक प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि माँ ने शेखर के स्वभाव को नहीं समझा। वह दबाकर शेखर को अपनी इच्छानुसार आचरण करने के योग्य बनाना चाहती थी, परन्तु उसके दबाव का विपरीत प्रभाव ही पड़ता गया। शेखर के जीवन में यदि सुधार आये तो वे उसके वैयक्तिक अनुभवों के द्वारा ही। जीवन में झटके खाने पर उसकी दिशा मुड़ी और वह सुधार कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ और लिखने-पढ़ने की भी रुचि उसमें जगती है। आरम्भ से अन्त तक यदि किसी प्रवृत्ति में विकास होता रहा, तो वह है प्रेम की प्रवृत्ति। मनुष्य की वासना प्रबल होती है, वह गिरती पड़ती नाना रूप बदलती रहती है। लोग कहते हैं प्रेम अमर होता है; वह तो जीवन में एक बार होता है और मर कर फिर नहीं होता, परन्तु अमर है वासना जो मरती ही नहीं और अवसर पाकर उठ खड़ी होती है।

उपन्यास के प्रथम खंड में लेखक का मनोविश्लेषणात्मक चिंतन कहीं-कहीं अधिक गम्भीर हो गया है, जिससे ऐसे भी चित्र उपस्थित हो गये हैं जिनका कि न प्रस्तुत करना ही उचित था। अतियथार्थ चित्रण में लेखक को कभी भी यह न भुला देना चाहिए कि उसका संग्रह समाज की दृष्टि से अनुपयुक्त है। शेखर की लम्बी जीवन यात्रा में जो अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक चित्र आये हैं, वे लेखक को इसलिए लाने पड़े हैं, कि उन्हीं चित्रों के बीच उसे शेखर के जीवन का विकास दिखलाना है। स्वतंत्र रूप से तत्कालीन समसामयिक सामाजिक चित्रों को उतारना कभी भी इस उपन्यास लेखक को इष्ट नहीं है। वे सभी समस्याएँ और चित्र जिनका कि शेखर से सम्बन्ध है किसी न किसी प्रकार उसके जीवन को प्रभावित करती हैं। पंजाब में शेखर जब पढ़ने के लिए होस्टल में पहुँचा तो उस प्रसंग को लेकर लेखक

ने जो बालकों से उसका परिचय कराया है, वह निश्चित ही यूनिवर्सिटी स्टूडेन्टों का एक सफल व्यंग्य चित्र है। उनके ठाट-बाट, आधे तथा उपनामों को लेकर पुकारने की प्रवृत्ति, आपस में महिला छात्रों की ही चर्चा तथा उनकेनैकट्य की होड़ आदि दुर्व्यसनों का सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। जिसे देख कर शेखर को उस प्रकार के समाज से एक प्रकार की विरक्ति ही होती है और वह अपनी सामाजिक सीमा कुछ इने गिने लोगों तक ही सीमित कर लेता है।

स्त्री 'मणिका' का एक कारुणिक चित्र उपन्यासकार ने खींचा है। मणिका ने विदेशी उपाधि प्राप्त की है और आधुनिक कहलाने वाले समाज में उसका एक प्रतिष्ठित स्थान भी है। वह शराब भी पीती है, इतना ही नहीं बल्कि वह अपटूडेट समाज के योग्य सभी आवश्यक साज-शृगार करती है। यदि हम मणिका के वाह्य स्वरूप को ही उसका वास्तविक स्वरूप मान लें तो आज के आधुनिक समाज से हमारी आस्था ही बिल्कुल छूट जायेगी। उसे वास्तविक रूप में देखने के लिए उसके मन की आँधी को जानना होगा जो निरन्तर उठ रही है। हम देखते हैं कि उसका हृदय बिल्कुल मर नहीं गया है। सर्वप्रथम वह भले ही शेखर को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है, किन्तु शीघ्र ही उसकी मानवता जगती है और वह उसकी सादगी तथा शालीनता की ओर आकर्षित हो जाती है। छिछले समाज में प्रतिष्ठा पाने की इच्छा ही ऐसे जीवन को बनाने वाली है, जिस समाज प्रति शेखर का कभी भी आकर्षण नहीं हुआ, वह वास्तविक स्थिति का अनुभव करता है, जिससे मणिका के प्रति उसे कभी भी घृणा नहीं होती।

एक चबूतरे पर अर्द्ध नंगे दो लड़कों की वीभत्स मुद्रा तथा उनका सटकर बैठना और परस्पर एक दूसरे का चुम्बन करना तथा सामने पानी में पड़ी हुयी लाश के समान चमकती नीली साड़ी में वेश्या की सूरत, भारतीय समाज की पतनोन्मुखी कहानी तो है, जिसे लेखक लगे हाथों दिखला देना चाहता है। परन्तु शेखर के ऊपर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसे ही दिखलाना उपन्यासकार का मुख्य लक्ष्य है। आर्थिक ढाँचे की विषमता किस प्रकार लोगों को पाप कर्म के लिए बाध्य करती, अधनंगी लड़की का बाँह खींचना और पैसे के लिए अपनी प्रतिष्ठा का सौदा करते हुए, एक दूर की कोठरी की ओर इशारा करना आदि, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। शेखर के ऊपर इसका स्थायी प्रभाव पड़ा, जिसके लिए जीवन भर वह व्याकुल रहा।

शेखर के जीवन निर्माण पर प्रभाव डालने वाली सबसे महत्वपूर्ण घटना है उसकी जेल यात्रा। जेल के वातावरण में पड़ कर उसके जीवन तथा चरित्र

का विकास होता है। बाबा मदन-सिंह, मोहिसिन तथा रामजी आदि के चरित्रों का उसके ऊपर प्रभाव पड़ता है। शशि की स्मृति का वास्तविक आनन्द उसे वहीं मिलता है और अन्त में हम देखते हैं कि उसका प्रेम किस प्रकार बहन और भाई के बन्धन की कुछ भी परवाह न करके घनत्व को प्राप्त करने गल जाता है। इस प्रकार उपन्यास के अन्दर जितनी ही समस्याएँ अथवा घटनाएँ आती हैं, उन सभी का स्थायी प्रभाव शेखर के ऊपर किसी न किसी रूप में पड़ता है और इसी लक्ष्य से उपन्यासकार ने उन्हें इस कृति में स्थान दिया है। अन्यथा उपन्यास का मुख्य लक्ष्य शेखर के जीवन की गतिविधि दिखलाना है, जिसका वास्तविक सम्बन्ध उसकी अन्तरवृत्तियो से है।

मानव मन की अन्तर वृत्तियों पर सबसे अधिक अधिकार वासना-जन्य प्रेम का रहता है, जिस सूत्र पर ही शेखर के जीवन की अन्य मालकमणियाँ लटकती दिखलाई पड़ती हैं। उसका विद्रोही सर्वत्र हुआ है, किन्तु कहीं भी नारी के प्रति उसका विद्रोह प्रकट नहीं हो पाया, केवल एक माता को छोड़ कर। नारी को वह स्त्री छोड़कर और कुछ मानने के लिए तैयार नहीं।

शेखर का शशि से जो एक बार साक्षात्कार बालकपन में हुआ वह अवस्था के अनुसार विकसित होता गया तथा आयु के अनुसार सहज भाव से उसमें परिवर्तन भी होता गया। आरम्भ में जब वे शिशु थे तो शेखर ने लोटे से शशि का सिर फोड़ा था और जब वही बड़ा हो जाता है तो मौसी विद्यावती की तीमारदारी करती हुई शशि से मिलने में लज्जा का अनुभव करता है। उसके ये परिवर्तित गुण अवस्था के ही विकसित गुण-धर्म हैं। अन्त में शेखर को एकमात्र प्रेरणा शशि से ही मिलती है। उसी के प्रेम से प्रेरित होकर वह लेखक क्या सब कुछ बनता है। परन्तु दोनों का प्रेम एक दूसरे तक ही सीमित है क्योंकि एकान्त और सर्वाधिकार की भावना ही प्रेम का वास्तविक स्वरूप है। प्रेम व्यापार को बढ़ाने में साहचर्य का सबसे बड़ा हाथ होता है। रामेश्वर द्वारा तिरस्कृत करने पर जब शशि शेखर के निकट आई तो साहचर्य के कारण ही अप्रत्यक्ष प्रेम, प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हो जाता है, जब कि शेखर 'शशि' का सिर पकड़ कर उसके ओठ कई बार चूम लेता है। वह शशि से स्वीकार कर लेता है कि 'जितने स्वप्न मैंने देखे हैं, सब तुममें आकर घुल जाते है।'

इस उपन्यास के ऊपर बुद्धिवादिता, वैयक्तिकता तथा दु:खवादिता आदि के प्रचार का आरोप लगाया जाता है, परन्तु इस कृति के ऊपर सरलता से निणय कर देना उपयुक्त न होगा। आगे आने वाली नवीन उपन्यास

का यह प्रवेश द्वार अत्यन्त ही भव्य बन पड़ा है और यदि आगे विद्वान लेखक अपनी वैयक्तिक कुंठाओं एवं आग्रहों से उठ कर उस ओर आकर्षित हुए तो इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यासों के द्वारा वह आवश्यक कार्य सम्पन्न हो जायगा जिसे प्रेमचन्दजी ऐसे समर्थ उपन्यासकार नहीं कर पाए।

अज्ञेयजी के नवीनतम उपन्यास 'नदी के द्वीप' में हमे उनकी बौद्धिकता का और भी चमत्कार दिखलाई पढता है। 'शेखर' ने जहाँ से सूत्र छोड़ा है 'भुवन' वहीं से प्रारम्भ करता है। इस उपन्यास में देशकाल का नितान्त अभाव है, परन्तु कला की दृष्टि से ऐसे सुन्दर उन्पन्यास हिन्दी में अभी कम ही लिखे गये। भुवन चन्द्रमाधव, रेखा और गौरा की समस्याएँ सेक्स और विवाह में केन्द्रित हैं, किन्तु पारिवारिक, सामाजिक सश्लेप अत्यन्त क्षीण है। 'भुवन' मनोवैज्ञानिक प्रयोगो का पुतला है, हमें उपन्यास के अन्दर उसके बदलते हुए विचारों के कारण का कोई भी सशक्त प्रमाण नहीं मिलता। 'भुवन' शेखर की भाँति अराजकतावादी भी नहीं है। 'शेखर' का सशक्त और प्रखर व्यक्तित्व भुवन में बुझ गया है।

'नदी के द्वीप' में मन स्थिति की गहराई में अत्यधिक प्रवेश करने के कारण लेखक को चिन्तन मुक्ताओं के साथ-साथ अनेच्छित सीप और घोंघ भी बटोरने पढे हैं और वह कुछ ऐसे जुगुप्सित चित्रण कर गया है, जिनको प्रकाश मे न लाना ही उचित था। इसके अन्दर प्राचीन रूढ़ियों तथा परम्पराओं के प्रति लेखक का हृदय विद्रोही हो उठा है। इसमें प्रेम और विवाह दोनों को जीवन से स्वतन्त्र स्थान प्रदान करने की लेखक ने वकालत की है। प्रेमचन्द की भाँति वह प्रेम का अन्त विवाह नहीं मानता। 'रेखा' विवाहिता तथा पति के जीवित रहने पर भी 'भुवन' से प्रेम करती है और पुनः विवाह कर लेने पर भी वह 'भुवन' को पूर्ववत् ही प्रेम करती रहती है। उसका यह प्रेम मानसिक ही नहीं है, बल्कि वह अवसर आने पर अपना सम्पूर्ण शारीरिक समर्पण करती है। यह है अज्ञेयजी का मनोविश्लेपणात्मक शैली पर आधारित मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद।

डा० देवराज

डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' मे थोथे मध्यवर्गीय आदर्शों की पोल बड़े ही कलात्मक ढंग से खोली गई है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास होने तथा मनोविश्लेषणात्मक शैली का अनुगमन करते हुए भी, यह उपन्यास एक मात्र यौन ग्रन्थियों के चित्र उतारने से बच गया है। परन्तु नायक के प्रेम की सीमा प्रस्तुत सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण कर गई है। 'चन्द्रनाथ' का व्यक्तिवाद

लोकाचारों का प्रतिबंध स्वीकार नहीं करता, उसके लिए 'साधना' का प्रेम जीवन की चरम साधना है। परन्तु इस उपन्यास की एक विशेषता यह है कि लेखक अन्य सामयिक प्रश्नों की उपेक्षा नहीं करता। इसके अन्दर यत्र-तत्र मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार की आर्थिक परिस्थितियों का समूल ढाँचा उपस्थित किया गया है।



उपसंहार

'यथार्थवाद' साहित्य में एक व्यापक भावना है, जिसके अनुसार अनुभूति के मूल में स्थूल की चेतना किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। साहित्य में यथार्थवाद का संबन्ध केवल उन्हीं वर्ण्य वस्तुओं से नहीं है, जिनकी कि स्थूल सत्ता का प्रमाण हमारे पास है। यथार्थवादी रचनाओं में हमें परस्पर मात्रा-भेद और गुण भेद देखने को मिलेंगे। कालिदास और सुमित्रानन्दन पंत में से दोनों ने बादल पर कविता लिखी है, परन्तु 'पंत' की बादल कविता में कालिदास की बादल कविता की अपेक्षा यथार्थ कम है। पंत की कविता कल्पना प्रवण अधिक है, उनका बादल धरती के निकट नहीं आता, परन्तु कालिदास का बादल (मेघ) मार्ग में पड़ने वाली प्राकृतिक छटाओं से कभी भी मुँह नहीं मोड़ता तथा दुखी, दीन और शिथिल नागरिकों के श्रम का परिहार भी करता जाता है। साहित्य में कल्पना के अधिक आ जाने पर यथार्थ पर अधिक जोर दिया जाने लगता है। इस प्रकार दो प्रवृत्तियाँ हो जाती हैं एक तो रोमास और दूसरी यथार्थवाद। साहित्य में यथार्थ की मात्रा कितनी है, इस आधार पर यथार्थवाद खड़ा होता है और गुण-भेद के अनुसार इसका स्वरूप निश्चित होता है।

यथार्थ का प्रत्यक्ष गोचर होना आवश्यक नहीं। यदि प्रत्यक्ष गोचर ही यथार्थ हो, तो उसका वर्णन करके सभी साहित्यिक बन जायँ। यथार्थ को देखने का विभिन्न दृष्टिकोण होता है। हवा से पेड़ की पत्तियाँ हिलती हैं, यथार्थ है, परन्तु जगली असभ्य व्यक्ति के लिए यह यथार्थ नहीं हो सकता क्योंकि उसके अनुसार पेड़ के हिलने से पत्तियों का हिलना यथार्थ है। इस प्रकार कार्य और कारण का भेद करना अत्यन्त कठिन होता है। कार्य-कारण-भेद को न समझने वाले साहित्यकार का साहित्य उथला होगा। प्रत्येक साहित्यकार अपनी प्रतिभा और सूझ-बूझ के अनुसार इस कार्य-कारण का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है। भूख, अकाल, गरीबी और अश्लीलता आदि समाज में क्यो हैं? का समाधान प्रत्येक साहित्यकार अपनी दृष्टि से उपस्थित करता है। इस प्रकार कारण बतलाने में भेद होने लग जाता है।

वेश्या जीवन की समस्या को लेकर कुछ लोग कह सकते हैं कि वह पतित होती है, वेश्यावृत्ति उसकी मूल प्रवृत्ति होती है, हर नारी वेश्या होती है, तथा दूसरो के अनुसार, सामाजिक कारणों से वह लाचार है, वेश्या होने

के लिये अथवा इसकी जिम्मेदारी समाज और व्यक्ति पर है। इस प्रकार प्रवृत्तियों में भेद हुआ। परिस्थितियों के विश्लेषण पर यथार्थ का रूप बनता है, जो युग के अनुसार बदलता रहता है। मजदूरो की हड़ताल को सेठ बुरी चीज़ मानता है क्योंकि उसे आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है और शहर के नागरिक असुविधा की दृष्टि से उसे बुरा बताते हैं तथा पुलिस परेशानी के कारण उसे अनुचित समझती है, परन्तु वह मज़दूरो के लिये रोटी की समस्या है। वास्तविकता क्या है? जिस वर्ग का साहित्यकार होगा उसी का समर्थन करेगा।

यथार्थवाद को समझने के लिये इसकी दो साहित्यिक प्रवृत्तियों 'आदर्श और कल्पना' का नाम भी लिया जाता है। आदर्श के अन्दर अभाव जिसे हम अपने लिये महान समझते हैं को प्राप्त करने की कामना रहती है और कल्पना के अन्दर ऐसी भी वस्तु को प्राप्त करने की की कामना होती है, जिसका मिलना असम्भव है तथा जिसका स्वरूप भी हमारे लिये अनदेखा और अनसुना है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि ये प्रवृत्तियाँ नितान्त विरोधी ही हैं। कामना का अंश अनिवार्य होने तथा अभावों का एक स्थायी चित्र मस्तिष्क में रहने से जो स्थिति उत्पन्न होती है उसे हम आदर्श, यथार्थ और कल्पना के बीच की स्थिति कह सकते हैं। यथार्थ के आधार पर ही आदर्श की सृष्टि होती है और दोनों के अन्दर प्रगति की चेतना का होना अनिवार्य है, परन्तु कल्पना के क्षेत्र में प्रगति की चेतना का होना अनिवार्य नहीं है।

यथार्थवाद' के अन्दर जीवन का वास्तविक चित्र होता है और वह अपनी वर्ण्य वस्तु वास्तविक संसार से ही प्राप्त करता है, काल्पनिक से नहीं। यथार्थवादी साहित्यकार विश्वस्त चित्रों को उपस्थित करने के लिए, स्थानीय वातावरणों, समसामयिक घटनाओं, प्रसंगानुकूल व्यक्तियों एवं स्थानों तथा स्वाभाविक भाषा आदि के प्रयोग में बड़ी ही सावधानी एवं सूक्ष्म दृष्टि से काम लेता है। वह जब उचित संगति में अपने चरित्र की कल्पना या भावुकता का चित्रण करता है, तो उसे हम यथार्थ का ही चित्रण कहेंगे। परन्तु जब वह जीवन की सगति को छोड़कर वायवीय कल्पनाएँ करने लग जाता है तथा असंगति पूर्ण चित्रों को उपस्थित करता है, तो उसकी रचना यथार्थ से दूर हट जाती है। आज का मानव जीवन अत्यन्त जटिल है, इसलिए जीवन का वास्तविक चित्रण भी कठिन हो गया है। १६ वीं शताब्दी में यह विषमता नहीं थी, बैंकों का उदय नहीं हुआ था, छोटे-छोटे स्कूलों में अध्यापक थे, प्रोफेसर नहीं, परन्तु वैज्ञानिक विकास के कारण परिस्थितियाँ बिल्कुल उलट गई है। देश और काल से निर्धारित प्रत्येक देश मे विकास अपनी गति से होता है। **विश्व के प्रत्येक** कोनो में विकास से क्रम का एक होना आवश्यक नहीं है।

यूरोपीय साहित्य में यथार्थवाद के विकास का जो क्रम दिखलायी पड़ता है, वह हिन्दी साहित्य में नहीं पाया जाता, क्योंकि हिन्दी साहित्य के अन्दर यथार्थवाद का विकास एक स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार नहीं हुआ, बल्कि उसका विकास तत्कालीन परिस्थितियों एवं लेखकों की वैयक्तिक प्रतिभा के कारण हुआ है। इग्लैंड में रोमांस के ठीक बाद ही यथार्थवाद आ गया और अंग्रेज जाति की उनकी अपनी विशेषताओ के कारण प्रकृतवादी प्रवृत्ति का विकास ही नहीं होने पाया। फ्रांस के अन्दर यथार्थवाद और प्रकृतवाद का विकास साथ-साथ दिखलाई पड़ता है। रूसी साहित्यकारो ने यथार्थवाद की प्रेरणा फ्रास के उपन्यासों से ही ग्रहण की।

वोर यथार्थवादी शैली को अपनाने पर भी रूसी उपन्यासकार उसी यथार्थवाद के भीतर, अन्त सलिला सरिता की भाँति आशाप्रद आदर्शवाद की प्रवहमान धारा बहाते रहे। ताल्स्ताय और डास्टाएवस्की ने मनुष्य को तत्कालीन सामूहिक सामाजिक परिस्थितियों के धरातल पर लाकर खड़ा किया। गोर्की ने अपना एक दम नया मोड़ लिया जहाँ से हमें साहित्य में मजदूर और निम्न स्तर के लोग दिखलाई पड़ते हैं। इस समय तक बूर्जुवा समाज अपना दाँव हार चुका था और निराश होकर वह क्रमश फ्रायड की शरण में जाने लग गया 'गैलिलियो' तथा 'डार्विन' के सिद्धान्त मनुष्य के सामाजिक अन्तर को दूर ही कर रहे थे कि साहित्य में मार्क्स के सिद्धान्तों का आगमन हो गया। इस प्रकार फ्रायड के मनोविश्लेषण और मार्क्स के सिद्धान्त से बूर्जुआ वर्ग के आशा की कमर ही टूट गई।

हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद पूर्णरूपेण आया ही नहीं, क्योंकि धर्म प्राण देश होने के कारण, यहाँ के श्रेष्ठ कलाकार आदर्श को साथ लेकर चलते हैं। यूरोपीय समाज तथा साहित्य के प्रभाव से यथार्थवादी साहित्य को लक्ष्य मान कर हिन्दी में भी रचनाएँ हुई हैं, परन्तु जिस प्रकार का स्वाभाविक क्रमिक विकास यूरोपीय साहित्य में ऊपर दिखलाया गया है, वैसा विकास क्रम हिन्दी में नहीं रहा है। देश के अन्दर जैसी-जैसी परिस्थितियाँ आती गईं वैसे-वैसे साहित्य का रूप भी बदलता गया है। कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत होता है। जिससे प्रधानत यथार्थवाद की अभिव्यक्ति उपन्यास साहित्य में ही हुई है।

हिंद 'उपन्यासों का आरम्भ यों तो "परीक्षा गुरू" से माना जाता है, जिसमे मध्यवर्गीय समाज की दुर्बलताओं की ओर सकेत है, परन्तु इस पहले

खेवे में जिस प्रकार के उपन्यासों की बाढ़ आई वे 'रोमांस' के अन्दर ही आते हैं। तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी तथा खूनी आदि उपन्यासों की घटनायें एवं कथाएँ रोमांस प्रधान ही हैं। रोमांस के बाद हिन्दी उपन्यासों के अन्दर जिस साहित्यिक प्रवृत्ति का विकास हुआ उसे हम उपदेशात्मक कहते हैं। उपन्यासों का यह ऐसा काल था जबकि देश के अन्दर राष्ट्रीय जागरण आरम्भ हो गया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक दोषों को स्पष्ट रूप में सामने लाने का आन्दोलन चलाया था, जिसका प्रभाव तत्कालीन लेखको पर प्रभूत मात्रा में पड़ा। बालकृष्ण भट्ट तथा ब्रजनन्दन सहाय आदि की रचनाओं में हमें 'उपदेश' स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है।

उपन्यासों में यथार्थ की वास्तविक अभिव्यक्ति का आरम्भ प्रेमचन्दजी के उपन्यासों से मानना चाहिये। पहले-पहल जब प्रेमचन्दजी ने लिखना आरम्भ किया तो वह ऐसा काल था जिसमें कि देश के अन्दर ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज जैसी अनेक धार्मिक तथा समाज सुधारक संस्थाएं कार्य कर रही थीं, जिसका स्पष्ट प्रभाव 'सेवा-सदन' पर है। यह प्रेमचन्द का पहला महत्वपूर्ण उपन्यास प्रकारान्तर से 'परीक्षा गुरू' और सौ अजान एक सुजान की समस्या को ही उपस्थित करता है। इसके पश्चात् लेखक ने प्रस्तुत समाज और राष्ट्र की आवश्यकतों को पहचान कर, उसकी प्रमुख समस्याओं को सामने लाते हुए, जहाँ तक हो सका है उसका समाधान उपस्थित किया। प्रेमचन्द की दृष्टि मूलतः सुधारवादी रही। चरित्रों के निर्माण में प्रेमचन्दजी का यथार्थ आदर्श की ओर उन्मुख रहा है, जिसे उन्होंने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की संज्ञा दी है। प्रेमचन्दजी से प्रभावित उपन्यासकारों का एक दल ही तैयार हो गया था, जिसमें 'कौशिक' और 'प्रसाद' प्रमुख हैं। प्रेमचन्द के जीवन काल में राष्ट्रीय आन्दोलन अपने तरुण रूप में था, जिससे उनके उपन्यास साहित्य में हमें उन दो दशकों के राजनीतिक और सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण चित्र देखने को मिलता है।

कल्पना और रोमांस की औपन्यासिक भूमि पर प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख सामाजिक यथार्थवाद का जो महल खड़ा हुआ था, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों ने उसे छोड़कर नूतन बँगलों का निर्माण किया। इस समय तक प्रेमचन्द युगीन सामाजिक परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गई थीं। जीवन के अपेक्षाकृत जटिल हो जाने के कारण सामाजिक मान्यतायें भी बदलीं। प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ जो बिल्कुल पीछे पड़ती जा रही थीं, के प्रति व्यक्ति विद्रोही हो रहे थे। 'जैनेन्द्र' जी के उपन्यासों में ऐसे ही सामाजिक विद्रोह उभड़ कर आये हैं, जो व्यक्ति

तक ही सीमित हैं। समस्याओं के विषम हो जाने के कारण तथा नवीन सामाजिक मान दण्डों की स्थापना करने की कामना से, एक एक समस्या को लेकर उपन्यास लिखने की आवश्यकता हुई, जिसने समस्यात्मक उपन्यासों को जन्म दिया। फलस्वरूप भगवतीचरण वर्मा जैसे उपन्यासकार ने 'चित्रलेखा' ऐसे समस्या प्रधान उपन्यासों की आवश्यकता को परखा।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद की इस लम्बी विकास यात्रा को देखकर हम यूरोपीय विकास क्रम से इसका अन्तर जान सकते हैं। यूरोपीय साहित्य के अन्दर यथार्थवाद की प्रवृत्तियों का जहाँ क्रमिक विकास हुआ है, वहीं हमें उसकी बहुत सी प्रवृत्तियों का एक साथ विकास हिन्दी उपन्यासों में दिखलाई पड़ने लग जाता है। इसका एक मात्र कारण यही कि हिन्दी के उपन्यासकार स्वदेशीय उपन्यास साहित्य के स्वाभाविक विकास को पहचान नहीं पा रहे हैं और अपने उपन्यासों मे यथार्थवाद की अभिव्यक्ति, एक मात्र कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये ही कर रहे हैं। अधिकांश यथार्थवादी साहित्यकार पश्चिम के अनुकरण पर ही अपनी रचनायें प्रस्तुत कर रहे हैं परन्तु कला के अभाव में वे लक्ष्य से बहुत दूर हैं। यथार्थवादी कला तेज तलवार की धार के समान है, जिस पर चलने वाला साहित्यकार कौशल के अभाव में विचलित होकर जीवन से हाथ धो सकता है।

उपन्यास साहित्य पर यथार्थ का ऐसा आतंक छा गया है कि लेखक इसे साधन के स्थान पर साध्य मानने लग गये हैं। यथार्थवादी कला समर्थ लेखकों के लिये है। अधकचरे लेखक कला के अभाव में पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। पथभ्रष्ट यथार्थवादी साहित्यकार कला के नाम पर अपनी ही मानसिक ग्रन्थियों तथा वैयक्तिक दुर्बलताओं का ही प्रचार करता है। ऐसे उपन्यासो की हिन्दी साहित्य में कमी नहीं है जिनमें जीवन के हेय प्रसगों और अश्लील व्यवहारों की ही चर्चा की गई है। बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन 'शास्त्री', इलाचन्द्र जोशी, यशपाल तथा 'अज्ञेय' के कुछ उपन्यासों में ऐसे स्थल आये हैं जो कला के अभाव में घृणा ही उत्पन्न करते हैं। परन्तु एक साथ इतनी प्रवृत्तियों का विकास जैसा कि हिन्दी उपन्यासों में हो रहा है, किसी भी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु है।

हिन्दी के अन्दर यथार्थवाद के लिये उपन्यास साहित्य का विशाल क्षेत्र पड़ा है। अभी हिन्दी मे श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों का अत्यन्त अभाव है। यद्यपि यशपाल की 'दिव्या', हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तथा वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास हमें उपलब्ध हैं, परन्तु

उपन्यास साहित्य की आधुनिक प्रगति को देखते हुये, इन्हें ही पर्याप्त मान लेना उचित नहीं है। बँगला साहित्य को देखते हुये हिन्दी में एक भी ऐसा ऐतिहासिक उपन्यासकार नहीं है जिसे 'राखालदास' बंद्योपाध्याय जैसे उपन्यासकारों की श्रेणी में रखा जा सके। राजनीतिक सिद्धान्तों तथा निम्नस्तर के व्यक्तियों के समर्थन में लिखे जाने वाले कलात्मक उपन्यासो की भी न्यूनता है। अभी तक ऐसे जितने उपन्यास लिखे मिलते हैं, उनमें लेखक का व्यक्तिगत आग्रह ही इतना प्रधान हो उठा है कि जिससे स्वाभाविकता बिल्कुल नष्ट हो गई है।

वर्तमान लेखकों को अपने देश के विकास को देखना चाहिये, तभी वे अपनी कृतियों में वास्तविक यथार्थ का चित्रण कर सकेंगे। यथार्थवादी साहित्यकार का कार्य अनुकरण करना नहीं, बल्कि बदली हुई परिस्थितियों को पहचानना है। बदली हुई परिस्थितियों की उपेक्षा करके लिखने वाला उपन्यासकार एक भी ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकता जिनके 'चरित्र दृढ़ हों, जो प्रलोभनों के सामने सिर न झुकायें, बल्कि उनको परास्त करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय नाद करते हुये निकले[1]।'



१—स्व० प्रेमचन्द।

परिशिष्ट

उपन्यास-साहित्य का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अधिक दूर तक यथार्थ की उपेक्षा करके नहीं चल सकता। यों तो रचनाकार की कृति में स्रष्टा की कल्पना का विलास रहता ही है, किन्तु उपन्यासों के अन्दर अन्य साहित्य-अंगों की अपेक्षा कल्पना का विलास कम रहता है। "कल्पना आदर्श द्वारा अनुप्राणित भी हो सकती है और उससे रहित भी। आदर्श की प्राप्ति के पीछे सदा वर्त्तमान-यथार्थ से आगे प्रगति करने की चेतना निहित रहती है। कल्पना के क्षेत्र में प्रगति की चेतना का होना अनिवार्य नहीं। कल्पना चेतना की वह स्थिति है जो किसी भी असगति को सगति में बदल लेती है। जो संगति संम्भव को लेकर चलती है वह आदर्श या उसके विपरीत हो सकती है। पर जो संगति असम्भव को लेकर चलती है वह कोरी कल्पना रह जाती है।" जिन उपन्यासों के अन्दर कोरी कल्पना का ही विलास रहता है उन्हें हम भले ही यथार्थ के निकट न मानें, परन्तु जिनमें सम्भावित संगति को कल्पना के माध्यम से उतारा गया है, उन्हें यथार्थ के निकट स्वीकार करने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होना चाहिये। "भेद वहाँ पैदा होता है जहाँ लेखक जीवन की संगति को छोड़कर किसी अप्राप्त या अप्राप्य संगति को सामने ले आता है। जिस मात्रा में वह जीवन की प्राप्त संगति से दूर जाता है, उसी मात्रा में उसकी रचना यथार्थ के दूर हट जाती है।" ऐसे बहुत से उपन्यासों की सृष्टि हुई है जो जीवन की प्राप्त सगति के अत्यन्त निकट हैं किन्तु उनकी चर्चा पुस्तक में इसलिये नहीं हो पायी है कि वे किसी निश्चित प्रवृत्ति को लक्ष्य करके नहीं लिखे गये हैं।

'रेणु' जी का 'मैला आँचल' नामक एक आञ्चलिक उपन्यास अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है, जिसे लेकर साहित्य-कारों में बड़ी चर्चा है। बिहार-सरकार ने इसे सम्मानित भी किया है। जहाँ तक इसकी कथा वस्तु का प्रश्न है मुझे कुछ नहीं कहना है, किन्तु इस उपन्यास के वे स्थल, जिसमें स्थान एवं वातावरण का चित्रण है इतने यथार्थ हैं कि जिन्हें पढ़ कर उस स्थान का वातावरण अत्यन्त सजीव हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक को उपन्यासकार की प्रतिभा मिली है। यदि वह इसी प्रकार अपनी साधना के पथ

पर बढ़ता जायगा तो भविष्य में अवश्य ही हमें श्रेष्ठतर यथार्थवादी कृतियों के दर्शन होंगे।

उपन्यासकों के शिल्प-विधान को लेकर भी नये प्रयोग किए जा रहे हैं। परन्तु ये प्रयोगवादी उपन्यासकार भी इसका अनुभव कर रहे हैं कि केवल प्रयोग के लिए लिखी गयी कृति का कोई मूल्य न होगा, यदि उनमें किसी प्रकार के यथार्थ का चित्रण नहीं किया जाता। शांतिप्रिय द्विवेदी का 'दिगम्बर' इसी प्रकार की रचना है। द्विवेदी जी आलोचक, निबंधकार एवं कवि के रूप में साहित्य-जगत में बहुत पहले से परिचित हो चुके हैं। परन्तु उपन्यास के क्षेत्र में इनका यह नया प्रयास है जो एक नयी 'थीम' लेकर प्रकट हुआ है। लेखक का दावा है कि वह वस्तु-विन्यास एवं शिल्प-विधान की दृष्टि से उपन्यास-साहित्य को एक नयी देन दे रहा है। ऐसी स्थिति में इस पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है। जैसा लेखक ने भूमिका में स्वीकार किया है कि 'आधुनिक उपन्यास-कला और पुरानी उपन्यास-कला का इसमें यत्किञ्चित सम्मिश्रण है।" जिससे हम यह तो नहीं कह सकते कि यह उपन्यासों की दुनियाँ में कोई नया प्रयोग है, पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि लेखक ने जो प्राचीनता और नवीनता का रसायन तैयार किया है वह अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। पुस्तक यदि उपन्यास के रूप में न होती तो निश्चित ही यह लेखक की संस्मरणात्मक आत्म-कथा थी। इस प्रकार के संस्मरण अभी हिन्दी में बहुत कम हैं। लेखक ने बिखरे संस्मरणों को इकट्ठा करके जो कवि 'विमल' के जीवन के साथ सम्बद्ध कर दिया है, उसमें विभिन्न स्थानो, समाजो तथा धार्मिक परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उतर आया है।

भूमिका में इसका भी सकेत मिल जाता है कि लेखक इसे पहले यथार्थवादी दृष्टि से लिखना चाहता था। अच्छा हुआ कि उपन्यासकार ने अपना विचार बदल दिया जिससे हमें वह एक उत्तम-नवीन अनुभव देसका, नहीं तो जिस यथार्थवाद का उसने आरम्भ में परिचय दिया है, यदि उसका आद्योपान्त निर्वाह हो गया होता तो बहुत से नाक भौं सिकड़ने वाले मिल जाते।

जिस यथार्थवाद की उसने उपेक्षा की है वह सम्भवतः ऐसा ही यथार्थवाद होता जो एक अच्छे साहित्य के लिए वांछनीय नहीं। आरम्भ में दो एक ऐसे चित्र आ गये हैं जिनमें लेखक घोर यथार्थवादी बनने की चेष्टा करता जान पड़ता है। विमल के बाल जीवन की चर्चा करता-करता वह अपने शैशव में उतर आया है जिससे वह भूल गया कि उसकी यह कृति वयस्क पाठकों के हाथ में जायगी जो उस स्थिति को पार कर चुके हैं, जिसे वह बतलाना या

दिखलाना चाहता है। "विमल को दो लड़कियों का सामीप्य मिला—धिरजिया अननरिया! न तो इनकी देह खिली थी, न मनसिज की गुदगुदी इन्हें गुदगुदा सकी थी। लेकिन यह क्या! खेतों के मचान पर धिरजिया विमल को अपनी पंखड़ियों सी इन्द्रिय विस्फारित करके दिखलाती थी। विमल को कौतूहल हुआ वह कोई रहस्य पा जाने के लिए उसका स्पर्श करने लगा।" बात समझ-मे नहीं आती कि भावों तथा भाषा में परिष्कृत लेखक को ऐसा चित्र क्यो रुचिकर हो गया? जिसने स्त्री के कुच को, कुछ कहने में शरम खायी है और उसे 'तारुण्य' कहा है, क्यों ऐसा अश्लील चित्र उतारा गया, विचारणीय है।

वर्तमान परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर लेखक ने जो अपनी व्याख्या कहीं कहीं प्रस्तुत की है, वह उसके तथा परिस्थिति का सम्यक् चित्र उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है। "मध्य-युग को सामंतवादी कहा जाता था, आधुनिक युग को साम्राज्यवादी और पूँजीवादी। तो क्या राष्ट्रीय आन्दोलन में जो लोग गांधी के पीछे-पीछे चले वे इस युग की शोषित पीड़ित जनता के दुख दैन्य से द्रवित होकर ही सार्वजनिक क्षेत्रमें आये थे? नहीं, वे तो गांधी को ढाल बनाकर जनता के सत्व के नामपर प्रभुता से अपने-अपने अधिकारों का सघर्ष कर रहे थे। इस सघर्ष में वलिदान गान्धी का ही हो गया, वरदान उन्हे मिल गया। अब स्वय सत्तारूढ़ होकर वे उन्हीं साम्राज्यवादी और पूँजीवादी सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं जिनका वे कभी विरोध कर रहे थे।" इससे लगता है कि लेखक के मन पर वर्तमान सामाजि स्थिति एवं शाशन-नीति के प्रति घोर असन्तोष के भाव विधमान है जिनका कि लेखक ने बीच-बीच में अत्यन्त ही कुशलता के साथ सकेत कर दिया है। लेखक को इस उपन्यास में इस दृष्टि से आशातीत सफलता मिली है जिसे सामने रखकर उसने अपनी रचना प्रस्तुत करनी चाही है।

सिद्धविनायक द्विवेदीका 'मुक्ति-दान' एक आदर्श सामाजिक उपन्यास है जिसमें लेखक ने अतीत के पन्नों पर पड़ी भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थियों को उभाड़कर सामने रखना चाहा है। जहाँ तक पात्रों के चरित्र चित्रण का प्रश्न है लेखक अत्यन्त आदर्शोन्मुख हो उठा है। 'महाराज विक्रम' एवं 'राजेश्री' का पारस्परिक प्रणय-व्यापार इस लोक-जगत् की वस्तु नहीं जान पड़ता। राजेश्री का अपने पिता 'प्रसेनजित' का त्याग करना, विक्रम के विद्रोही-दल का नेतृत्व ग्रहण करना तथा अहिंसा के माध्यम से संग्राम में विजय की कामना करना आदि सभी ऐसे चित्रण हैं जो उसकी असाधारणता का परिचय देते हैं। इसकी अपेक्षा महाराज विक्रम का चरित्र मानवीय है।

उपन्यासकार ने दोनों के जीवन का जो अंत दिखलाया है वह अत्यन्त आदर्शवादी है। आधुनिक अनेक लेखकों में ऐतिहासिक पात्रों के प्रणय-व्यापारों का अंत ऐसा दिखलाने की परम्परा-सी चल पड़ी थी। जयशंकर प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' में 'देवसेना' और 'स्कन्द' का अन्त ऐसी प्रवृत्तियों का ज्वलन्त उदाहरण है। ऐसा लगता है कि लेखक ने इन स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की है। 'मुक्ति-दान' के पात्रों एवं परिस्थितियो के चित्रण से उपन्यास के ऐतिहासिक होने का भ्रम होता है और इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-सी ऐसी घटनाओं का वर्णन हुआ है जिनकी संगति इतिहास से मिलाई जा सकती है। इस उपन्यास के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में "वैशाली की नगर वधू तथा" 'दिव्या' ऐसे उपन्यास उपलब्ध हैं जिनकी व्याख्या आधुनिकतम विकसित शासन-प्रणाली ('जनतंत्र') की दृष्टि में रखकर की गई है। 'मुक्ति-दान' में भी इसी जन-तंत्रीय शासन प्रणाली का समर्थन कुछ अंशों में जान पड़ता है। भले ही लेखक ने राजतंत्रीय शासन-प्रणाली के बीच नेताओं के मन में उठने वाले द्वन्द दिखलाये हैं। जैसा कि विक्रम स्वयं सोचता है कि "ये प्रधान आमात्य और प्रजा-परिषद् के बड़े बड़े नेता क्या है? एक प्रकार से, मेरे प्रतिद्वन्द्वी मेरी सत्ता के विपक्षी, माना कि वे प्रजा के कानों में सुख-समृद्धि का सुरीला गान गा गा कर, राजस्ववाद के प्रति युगों से समर्पित सद्भावना को कुचलते हुए प्रजा-राज्य स्थापित करने की डींग मार रहे हैं, पर क्या ये प्रजा के सामूहिक हितों के संरक्षक बनकर शक्ति का स्वपक्ष में प्रयोग नहीं कर रहे है? क्या प्रजा ने स्वतंत्र निर्वाचन-पद्धति द्वारा चुनकर इन विपाक्षियों एवं नेताओं को अपना प्रतिनिधि चुना है, अथवा ये बलात् शक्ति को हथियाकर ही समस्त देश में मुहँ मियाँ मिट्ठू बन रहे हैं?' परन्तु इन मानसिक द्वन्द्वों के बावजूद भी वह इसे स्वीकार कर सकता है कि "मैं बातों के झगड़ों में पड़कर आदर्श शासन-प्रणाली को स्वीकार करता हूँ। ऐसा शासन जिससे प्रजा की भुखमरी और गरीबी दूर होती है, जो सम्पन्नता के साथ-साथ प्रजा के स्वास्थ्य, शिक्षा-दीक्षा एवं भौतिक उन्नतियों को प्रोत्साहन देता हो, जो प्रजा को संस्कृति एवं आध्यात्मिकता के उच्चस्तर पर बिठलाने की कला हो, वह चाहे एकतंत्र वाद हो चाहे प्रजातंत्र वाद मुझे पसन्द है, किन्तु मैं जानता हूं कि आज की शोषित एवं जागरूक जनता प्रजातंत्र वाद को ही पसन्द करती है" इस प्रकार के स्थलों से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक के ऊपर वर्तमानकालीन शासन-व्यवस्था जिसे 'जनतंत्र' कहते हैं, का अत्यधिक प्रभाव है जिसका आरोप 'मुक्ति-दान' के कथानक पर लेखक ने किया है।

बीच-बीच में भावुकता से रंगे अनेक स्थल आये हैं जिनमें उलझकर पाठक यथार्थ और अयथार्थ की सीमा को भूल जाता है। सामान्यत: भारतीयों को भावुक प्रवृत्तिका कहा गया है। भावुकता मन की तरल दशा है, और एक गर्म देश के लोगों का भावुक होना स्वाभाविक है। इसी से हमें सहिष्णुता, स्निग्धता और सहानुभूति पूर्ण दृष्टि मिली है। यह उपन्यास ऐसी ही भावुकता से परिपूर्ण हैं, परन्तु ऐसा लगता है कि लेखक सतर्क है कि कहीं उसके काल्पनिक चित्र बिल्कुल अयथार्थ न हो जाँय। इनका 'श्वेतपत्र' नामक एक मौलिक सामाजिक उपन्यास और उपलब्ध है।

श्रीराम वेरी का लिखा "प्यार की जोत" एक शिक्षाप्रद उपन्यास है। जिसमें यथार्थता से अधिक लेखक का शिक्षक रूप विशेष उभड़ा जान पड़ता प्रो० श्री सत्यनारायण शर्मा ने अपनी 'टूटतीहुयी जजीरें' नामक मौलिक गद्यात्मक उपन्यास में स्वदेश की सीमा पार कर 'फ्रांस' देश में घटित घटना को कथावस्तु के रूप में अपनाया है जिसमें कल्पना का प्राधान्य है किन्तु लेखक वैयक्तिकता के साथ इतना चिपका हुआ है कि कल्पना यथार्थता को बिल्कुल छोड़ नहीं पायी है। इधर हाल में भगवती प्रसाद वाजपेयी के कुछ नवीन प्रकाशित उपन्यासों में सामाजिक-यथार्थ का सुन्दर चित्रण मिल जाता है। छविनाथ पाँडेय का 'माँ की ममता' तथा साधुशरण जी का 'मालिन' ऐसे ही सामाजिक उपन्यास हैं।

अनुक्रमणिका

—ग्रन्थकार—

ग्रन्थ

ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ	लेखक	संस्करण
हिन्दी-साहित्य का इतिहास	—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	संशोधित और परिवर्द्धित सस्करण, सं० २००३, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।
हिन्दी साहित्य	—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी	अतरचन्द्र कपूर एन्ड संस, देहली १९५२।
विचार और वितर्क	— ,, ,,	द्वितीय संस्करण।
आलोचना इतिहास और सिद्धान्त	—यस० पी० खत्री	प्र० सस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
आधुनिक-साहित्य	—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी	प्रथम सस्करण, भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रयाग।
बीसवीं शताब्दी	— ,, ,,	प्र० सं०
हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद	—प्रो० विजयशंकर मल्ल	सशोधित संस्करण, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस.
आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास	—डा० श्रीकृष्ण लाल	द्वितीय संस्करण, हिन्दी, परिषद्, प्रयाग।
हिन्दी कहानियाँ: भूमिका:	— ,, ,,	सातवाँ संस्करण।
रवीन्द्र-साहित्य भाग २४		
साहित्य के पथ पर	—अनु० हंसकुमार तिवारी	कलकत्ता।
नई समीक्षा	—अमृतराय	प्रथम संस्करण।
आदर्श और यथार्थ	—पुरुषोत्तम लाल	द्वितीय संस्करण।
काव्य और कला तथा अन्य निबंध	—जयशंकर प्रसाद	तृतीय संस्करण, सं० २००५, भारती भंडार, लीडर प्रेस प्रयाग।

ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ	लेखक	संस्करण
हिन्दी-साहित्य का इतिहास	—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	संशोवित और परिवर्द्धित सस्करण, स० २००३, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।
हिन्दी साहित्य	—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी	अत्तरचन्द्र कपूर एन्ड संस, देहली १९५२।
विचार और वितर्क	— ,, ,,	द्वितीय संस्करण।
आलोचना इतिहास और सिद्धान्त	—यस० पी० खत्री	प्र० सस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
आधुनिक-साहित्य	—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी	प्रथम सस्करण, भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रयाग।
बीसवी शताब्दी	— ,, ,,	प्र० सं०
हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद	—प्रो० विजयशंकर मल्ल	सशोधित सस्करण, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस.
आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास	—डा० श्रीकृष्ण लाल	द्वितीय संस्करण, हिन्दी परिषद्, प्रयाग।
हिन्दी कहानियाँ: भूमिका:	— ,, ,,	सातवाँ संस्करण।
रवीन्द्र-साहित्य भाग २४ साहित्य के पथ पर	—अनु० हंसकुमार तिवारी	कलकत्ता।
नई समीक्षा	—अमृतराय	प्रथम सं
आदर्श और यथार्थ	—पुरुषोत्तम लाल	द्वितीय
काव्य और कला तथा अन्य निबंध	—जयशंकर प्रसाद	तृतीय सं०

ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ	लेखक	संस्करण
हिन्दी-साहित्य का इतिहास	—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, सं० २००३, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।
हिन्दी साहित्य	—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी	अत्तरचन्द्र कपूर एन्ड संस, देहली १९५२।
विचार और वितर्क	— ,, ,,	द्वितीय संस्करण।
आलोचना इतिहास और सिद्धान्त	—यस० पी० खत्री	प्र० सस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
आधुनिक-साहित्य	—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी	प्रथम सस्करण, भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रयाग।
बीसवीं शताब्दी	— ,, ,,	प्र० सं०
हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद	—प्रो० विजयशंकर मल्ल	सशोधित संस्करण, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस.
आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास	—डा० श्रीकृष्ण लाल	द्वितीय संस्करण, हिन्दी परिषद्, प्रयाग।
हिन्दी कहानियाँः भूमिकाः	— ,, ,,	सातवाँ संस्करण।
रवीन्द्र-साहित्य भाग २४ साहित्य के पथ पर	—अनु० हंसकुमार तिवारी	कलकत्ता।
नई समीक्षा	—अमृतराय	प्रथम संस्करण।
आदर्श और यथार्थ	—पुरुषोत्तम लाल	द्वितीय संस्करण।
काव्य और कला तथा अन्य निबंध	—जयशंकर प्रसाद	तृतीय संस्करण, सं० २००५, भारती भंडार, लीडर प्रेस प्रयाग।

हिन्दी गद्य के युग निर्माता	—डा० जगन्नाथ शर्मा	प्रथम सस्करण ।
गद्य-काव्य-तरगिणी	—स० ,, ,,	तृतीय संस्करण
हिन्दी-उपन्यास	—शिवनारायण श्रीवास्तव	तृतीय संस्करण
आधुनिक कथा-साहित्य	—श्री गगा प्रसाद पाडेय	प्रथम सस्करण
प्रेत और छाया: भूमिका:	—इलाचन्द्र जोशी	प्रथम संस्करण
वैशाली की नगर वधू. भूमिका.	—आचार्य चतुर सेनशास्त्री	प्रथम सस्करण
मुर्दों की टीला: भूमिका.	—रागेय राघव	प्रथम सस्करण
प्रेमचन्द और उनका युग	—रामविलास शर्मा	प्रथम संस्करण
कुछ विचार	—प्रेमचन्द	प्रथम संस्करण

पत्र-पत्रिकायें

आलोचना—१९५२, उपन्यास अक ।	—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, वम्बई ।
कल्पना—अक्टूबर १९५२ ।	—हैदराबाद ।
सरस्वती—जुलाई १९४२ ।	—इडियन प्रेस, इलाहाबाद ।
साहित्य-सन्देश	—आगरा ।



ENGLISH BOOKS

A History of English Literature.	...Cazamian	—Revised Edition.
Study in European Realism.	...George Lukacs	—London, 1950.
Literature and Reality	...H. Fast	—First July, 1952.
The Novel and the people	...Rol-phox	—1937.
Illusion and Reality	...Ghirstophev Coudwel	—New. Ed. 1946,
Seviet Literature & World Culture,	...Tamara Mayleva	—1st July 1948.
Problems of Art & Literature.	...Meotse Tung	—1950.
India in Fiction	...P, Luback.	—Ed Eirst.
Aspect of the Novel	...E.M. Forster	—Ed. First.
Development of English Novel.	...Cross	—1899.
The Progress Of Romance	.Clara Reeve	—1785.
Guide to modern Thougt	..C.. Joad	—Up - to-date ed.
Neo Realism	...Stiphen Spender	—Ed. First.
Surr Realism	...H. Read	—Ed. First.